सचित्र महाभारत

भाषा-टीका



अष्टम अङ्क ।

जिसका संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी प्रधानाध्यापक ओरियण्टल कालेज, लाहौर ने अत्यन्त सावधानी के साथ प्रामाणिक और प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया है ।

और

जिसका टीका

काशी निवासी विद्वद्वर श्रीराम शास्त्री तैलंग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है ।

प्रकाशक :—

लक्ष्मणदास प्यारेलाल जैन,
अध्यक्ष—संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर ।

द्वितियावार)　　　　मूल्य १२॥)

सिरफ टाइटल पेज ब्राइटस प्रेस, अनारकली लाहौर में से छपा

उद्योगपर्व ।



श्री कृष्ण जन्म

अथ पंचपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

दुर्योधन उवाच—न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम् ।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ १ ॥
वने प्रव्राजितान्पार्थान्यदाऽऽयान्मधुसूदनः ।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ॥ २ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
राजानश्चाऽन्वयुः पार्थान्बहवोऽन्येऽनुयायिनः ॥ ३ ॥
इंद्रप्रस्थस्य चाऽदूरात्समाजग्मुर्महारथाः ।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवंतं कुरुभिः सह ॥ ४ ॥
ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम् ।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासंत भारत ॥ ५ ॥
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः ।
भवतः सानुबंधस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ॥ ६ ॥
श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा ।
ज्ञातिक्षयभयाद्राजन्भीतेन भरतर्षभ ॥ ७ ॥
ततः स्थास्यंति समये पांडवा इति मे मतिः ।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ॥ ८ ॥
ऋते च विदुरात्सर्वे यूयं वध्या मता मम ।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ॥ ९ ॥

पचपनवां अध्याय ॥ ५५ ॥

दुर्योधन ने पिता से कहा—हे महाराज ! आप न तो भयभीत होवें और न हमारे लिए शोक ही करें । हम लोग प्रबल शत्रुओं को युद्ध में हरा सकेंगे । वन में गये हुए पाण्डवों के पास जब श्रीकृष्ण गये थे तब शत्रुराज्य को पीड़ा पहुंचानेवाली बहुत सी सेना साथ लेकर केकयदेश के राजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु आदि पाण्डवों के अनुगामी अनेक महारथी राजा उनसे मिलने गये थे । उस समय पाण्डव लोग इन्द्रप्रस्थ से थोड़ी ही दूर पर थे । काली मृगछाला पहने वनवासी युधिष्ठिर के पास बैठकर श्रीकृष्ण आदि उन सब राजाओं ने आपकी और कौरवों की जी भरकर निन्दा की और पाण्डवों को सराहा ॥१।४॥

सबने युधिष्ठिर से कहा कि कौरवों से राज्य ले लेना ही तुम्हारा कर्तव्य है । मुझे जब मालूम हुआ कि वह सब लोग आपको और आपके वंश को मिटा देना चाहते हैं तब ज्ञातिनाश के भय से मैंने भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि से कहा कि "श्रीकृष्ण हम कौरवों का सर्वनाश करवाना चाहते हैं । मुझे निश्चय है कि श्रीकृष्ण के कहने

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः ।
एकराज्यं कुरूणां स्म चिकीर्षति युधिष्ठिरे ॥ १० ॥
तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम् ।
प्राणान्वा संपरित्यज्य प्रतियुद्ध्यामहे परान् ॥ ११ ॥
प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः ।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ॥ १२ ॥
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः ।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ॥ १३ ॥
प्रणिपाते न दोषोऽस्ति संधिर्नः शाश्वतीः समाः ।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम् ॥ १४ ॥
मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनंतकम् ।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम् ।
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद्विदितं ते नरोत्तम ॥ १५ ॥
ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः ।
वैरं प्रति करिष्यंति कुलोच्छेदेन पांडवाः ॥ १६ ॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत ।
मत्वा मां महतीं चिंतामास्थितं व्यथितेंद्रियम् ॥ १७ ॥

पर पाण्डव चलेंगे और विदुर और धृतराष्ट्र के सिवा सब जातिवालों को मार डालने की चेष्टा करेंगे । श्रीकृष्ण हम सबका नाश कराकर युधिष्ठिर को कुरु-राज्य देना चाहते हैं ॥५।१०॥

अब आप ही सोचकर बताइए कि ऐसी दशा में हमारा क्या कर्तव्य है । हमें दबकर संधि कर लेना चाहिए या भाग जाना चाहिए ! अथवा जी-जान से शत्रुओं से युद्ध करना चाहिए ! ॥११॥

यह निश्चित है कि पाण्डवों का सामना करने से अन्त को हमें हारना पड़ेगा; क्योंकि सभी लोग राजा युधिष्ठिर के अनुकूल हैं ॥१२॥

इधर राज्य के सब लोग हमसे अप्रसन्न हैं और हमारे मित्र भी हमसे चिढ़े हुए हैं । सभी राजा और स्वजन मुझे धिक्कार देते हैं ॥१३॥

दबकर नम्रता के साथ सन्धि कर लेने में कोई दोष नहीं है, सदा के लिए शान्ति हो जायगी । किन्तु मैं अपने पिता प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) वृद्ध राजा के लिए ही चिन्तित हो रहा हूं ॥१४॥

उन्होंने मेरे लिए अनन्त दुःख सहे हैं । आप जानते ही हैं कि मेरी प्रसन्नता के लिए मेरे भाई शत्रुओं की वृद्धि रोकने के अनेक उपाय कर चुके हैं ॥१५॥

महारथी पाण्डव लोग उन्हीं बातों का बदला लेने के लिए महाराज धृतराष्ट्र के पुत्रों और मन्त्रियों का नाश करने की चेष्टा अवश्य करेंगे ।"॥१६॥

हे पिताजी ! मेरी ये बातें सुनकर और मुझे बहुत ही चिन्तित देखकर उस समय भीष्म पितामह,

अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप ।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान्युधि समास्थितान् ॥ १८ ॥
एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान् ।
आगच्छंतु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः ॥ १९ ॥
पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः ।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत ॥ २० ॥
जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः ।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात् ॥ २१ ॥
स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे ।
परान्विजेतुं तस्मात्ते व्येतु भीर्भरतर्षभ ॥ २२ ॥
इत्येषां निश्चयो ह्यासीत्तत्कालेऽमिततेजसाम् ।
पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नासीत् वशवर्त्तिनी ॥ २३ ॥
अस्मान्पुनरमी नाऽद्य समर्थाजेतुमाहवे ।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पांडवाः ॥ २४ ॥
अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप ।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद्विद्धि कुरुसत्तम ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वत्थामा ने कहा—"हे शत्रुदमन ! शत्रुओं से द्रोह करने के कारण तुम मत भयभीत होओ। हम लोग जब युद्ध के लिए तैयार होंगे तब पाण्डव हमें किसी तरह नहीं जीत सकेंगे ॥१७।१८॥

हममें से हर एक ऐसा है जो सब राजाओं को जीत सकता है। इसलिए आओ, हम तीक्ष्ण बाणों से पाण्डवों के अनुगामी राजाओं का अहङ्कार तोड़ दें।" ॥१९॥

हे राजेन्द्र ! पहले पिता शान्तनु के मरने पर कुपित होकर महाबली भीष्म अकेले एक ही रथ से सब शत्रु राजाओं को परास्त कर चुके हैं ॥२०॥

जब बहुत से राजा मारे गये तब बचे हुए लोग भय के मारे देवव्रत की शरण में आ गये ॥२१॥

वही महातेजस्वी भीष्म हमारी ओर से युद्ध करेंगे। इसलिए आप शत्रुओं से मत डरिए और उन्हें जीतने के सम्बन्ध में चिन्ता भी न कीजिए। भीष्म, द्रोण आदि महापराक्रमी वीर उसी समय से पाण्डवों का मान-मर्दन करने के लिए दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ॥२२॥

हे महाराज ! पहले यह सब पृथ्वी हमारे शत्रु पाण्डवों के हाथ में थी। फिर हमने उनसे ले ली। अब भी वे शत्रु हमें युद्ध में नहीं जीत सकते। इस समय पाण्डव लोग बलवीर्यरहित और सहाय-हीन

उन्मत्तामिव चापि त्वां प्रहसंतीह दुःखितम् ।
विलपंतं बहुविधं भीतं परविकत्थने ॥ २७ ॥
एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पांडवान्प्रति ।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम् ॥ २८ ॥
जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात् ।
हंतुमक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयंभुवः ॥ २९ ॥
युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पंच ग्रामान्स याचति ।
भीतो हि मामकात्सैन्यात्प्रभावाच्चैव मे विभो ॥ ३० ॥
समर्थं मन्यसे यच्च कुंतीपुत्रं वृकोदरम् ।
तन्मिथ्या नहि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ॥ ३१ ॥
मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नाऽस्ति कश्चन ।
नासीत्कश्चिदतिक्रांतो भविता न च कश्चन ॥ ३२ ॥
युक्तो दुःखोषितश्चाऽहं विद्यापारगतस्तथा ।
तस्मान्न भीमान्नाऽन्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित् ॥ ३३ ॥
दुर्योधनसमो नाऽस्ति गदायामिति निश्चयः ।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत्तदैनमुपावसम् ॥ ३४ ॥
युद्धे संकर्षणसमो बलेनाऽभ्यधिको भुवि ।

हैं ॥२३।२४॥

सारी पृथ्वी का राज्य मेरे हाथ में है । जिन राजाओं को मैंने बुलाया है वे मेरे लिए समुद्र में और अग्नि में भी कूद सकते हैं । मेरे सुख-दुःख को वे अपना ही सुख-दुःख समझते हैं । वे आपको यों भयभीत हुआ-हुआ, दुःखित और पागलों की तरह प्रलाप करते देखकर हँस रहे हैं ॥२५।२७॥

इनमें से हर एक वीर युद्धकला में पाण्डवों के समान है । ये सब अपने को ऐसा ही समझते हैं । आप इस भय को अपने हृदय से हटा दीजिए ॥२८॥

हे राजेन्द्र ! साक्षात् इन्द्र भी मेरी सारी सेना को परास्त नहीं कर सकते । मेरी सेना और प्रभाव को देखकर युधिष्ठिर ऐसे भयभीत हो गये हैं कि वे नगरों का राज्य छोडकर केवल पांच गांव मांगते हैं और इतने ही पर सन्धि करने को प्रसन्न हैं ॥२९।३०॥

आप मेरे सम्पूर्ण प्रभाव को नहीं जानते इसी से आपकी यह भ्रमपूर्ण धारणा है कि भीमसेन हम सबसे बली और समर्थ है । पृथ्वी पर गदायुद्ध में मेरी बराबरी करनेवाला न कोई हुआ है, न है और न होगा ॥३१।३२॥

मैंने अनेक कष्ट सहकर चित्त लगाकर गुरुकुल में सम्पूर्ण विद्या प्राप्त की है । इसलिए भीमसेन से या और किसी से मैं नहीं डरता ॥३३॥

मैंने अद्वितीय योद्धा बलदेवजी से गदायुद्ध की कला सीख ली है । मेरे जैसा गदायुद्ध करनेवाला बलदेवजी की दृष्टि में, दूसरा वीर नहीं हैं ॥३४॥

गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद्युधि ॥ ३५ ॥
एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप ।
स एवैनं नयेद्घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ॥ ३६ ॥
इच्छेयं च गदाहस्तं राजन्द्रष्टुं वृकोदरम् ।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः ॥ ३७ ॥
गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः ।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति ॥ ३८ ॥
गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः ।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ॥ ३९ ॥
स चाऽप्येतद्विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ॥ ४० ॥
तत्ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे ।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन्विमना भव ॥ ४१ ॥
तस्मिन्मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः ।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यंति भरतर्षभ ॥ ४२ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिंधुराजो जयद्रथः ॥ ४३ ॥
एकैक एषां शक्तस्तु हंतुं भारत पांडवान् ।
समेतास्तु क्षणेनैतान्नेष्यंति यमसादनम् ।

युद्ध में भीमसेन कभी मेरी गदा की चोट नहीं सह सकता ॥३५॥

हे राजेन्द्र ! मैं क्रोधित होकर गदा के एक ही वार से भीमसेन को मार गिराऊँगा ॥३६॥

एक बार गदा हाथ में लिये भीमसेन को युद्ध-भूमि में अपने सामने देखने की मुझे बड़ी अभिलाषा है। तभी मेरा बहुत दिनों का मनोरथ पूर्ण होगा। मैं जब भीमसेन को गदा मारूंगा तब वह उसी दम मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ेगा ॥३७।३८॥

दूसरे की कौन कहे, मेरी गदा की चोट से हिमालय पर्वत के भी हजारों टुकड़े हुए बिना नहीं रह सकते ॥३९॥

भीमसेन, श्रीकृष्ण और अर्जुन को भी यह बात अच्छी तरह मालूम है कि गदायुद्ध में मेरे समान कोई दूसरा नहीं है ॥४०॥

इसलिए आप भीमसेन से न डरिए। मैं अवश्य ही उसको मारूंगा। उसके मरने पर अन्य मेरे पक्ष के, अर्जुन के समान और उनसे श्रेष्ठ, योद्धा अवश्य ही अर्जुन को मार सकेंगे ॥४१।४२॥

हे पिताजी ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त, शल्य, सिन्धुराज जयद्रथ आदि वीरों में से हर

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ॥ ४४ ॥
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।
शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ॥ ४५ ॥
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गंता पार्थो यमक्षयम् ।
पितामहोऽपि गांगेयः शांतनोरधि भारत ॥ ४६ ॥
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।
न हंता विद्यते चापि राजन्भीष्मस्य कश्चन ॥ ४७ ॥
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाऽकामस्त्वं मरिष्यसि ।
ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ॥ ४८ ॥
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।
कृपश्चाऽऽचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ॥ ४९ ॥
शरस्तंबोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।
अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ॥ ५० ॥
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्वं एते महाराज देवकल्पा महारथाः ॥ ५१ ॥
शक्रस्याऽपि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रतिवीक्षितुम् ॥ ५२ ॥
सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यंति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ॥ ५३ ॥

एक राजा पाण्डवों को मार सकता है। फिर जब ये सब मिलकर युद्ध करेंगे तब तो अवश्य ही क्षण भर में पाण्डवों को मार गिरावेंगे ॥४३।४४॥

इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता कि ये सब अद्वितीय वीर योद्धा अकेले अर्जुन को परास्त न कर सकें। अर्जुन अवश्य ही भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य के तीक्ष्ण बाणों से यमपुरी के पाहुन बनेंगे। ब्रह्मर्षि-सदृश पितामह भीष्म शान्तनु के वीर्य और गङ्गा के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ॥४५।४६॥

देवता भी उनके पराक्रम को नहीं सह सकते। उन्हें मारनेवाला कोई नहीं है; ॥४७॥

क्योंकि पिता ने प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया है कि उनके स्वयं इच्छा किये बिना उनकी मृत्यु न होगी। महात्मा द्रोणाचार्य भी महर्षि भारद्वाज से उत्पन्न हुए हैं। श्रेष्ठ अस्त्रों के ज्ञाता अश्वत्थामा उनके पुत्र हैं। कृपाचार्य शरस्तम्ब में महर्षि गौतम के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं ॥४८।४९॥

जिनके माता, पिता और मामा अयोनिज हैं वे महापराक्रमी अश्वत्थामा मेरी सहायता करने को तैयार हैं। ये सब देवतुल्य महारथी युद्ध में इन्द्र को भी हरा सकते हैं। अर्जुन इनकी ओर नेत्र उठाकर देख भी नहीं सकते ॥५०।५२॥

हे राजेन्द्र! ये सब मिलकर अर्जुन को मारेंगे। मेरी समझ में अकेले कर्ण ही भीष्म, द्रोणाचार्य और

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुंडले रुचिरे चाऽऽस्तां कर्णस्य सहजे शुभे ॥ ५४ ॥
ते शच्यर्थं महेंद्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ॥ ५५ ॥
तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद्धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन्फलं पाणाविवाऽऽहितम् ॥ ५६ ॥
अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हंति भारत ॥ ५७ ॥
तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृंदानि क्षत्रियाणां परंतप ॥ ५८ ॥
अर्जुनं वयमस्मान्वा निहन्यात्कपिकेतनः ।
तं चाऽलमिति मन्यंते सव्यसाचिवधे धृताः ॥ ५९ ॥
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद्व्यथते कथम् ।
भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ॥ ६० ॥
परेषां तन्ममाऽऽचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप ।
पंच ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ॥ ६१ ॥
परेषां सप्त ये राजन्योधाः सारं बलं मतम् ।
अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ६२ ॥

कृपाचार्य के समान हैं। परशुराम से अस्त्रशिक्षा प्राप्त करके ये जब घर को लौटे थे तब परशुराम ने कहा था कि हे कर्ण! तुम युद्धकला में मेरे समान हो गये। शत्रुदमन इन्द्र जब इन्द्राणी के लिए इनसे स्वाभाविक कवच और कुण्डल मांगने आये थे तब वे इन्हें उसके बदले में एक अमोघ शक्ति दे गये हैं।।५३।५५।।

ये महावीर कर्ण जब वह महाभयङ्कर अमोघ शक्ति अर्जुन पर चलावेंगे तब अर्जुन कैसे जीते रहेंगे?।।५६।।

हे राजेन्द्र! विजय मेरे हाथ में है और शत्रुओं की हार भी प्रकट है; क्योंकि ये महावीर भीष्म एक दिन में दस हज़ार वीरों को मार सकते हैं। महाधनुर्द्धर द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य इनके समान पराक्रमी हैं और वीर संशप्तक क्षत्रिय भी साधारण नहीं हैं। मेरे पक्ष के राजाओं के मन में यह संशय नहीं है कि या हम लोग कपिध्वज अर्जुन को मारेंगे, अथवा अर्जुन हमें मारेंगे। वे अर्जुन को मारकर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर चुके हैं। इसलिए, आप पाण्डवों से डरकर क्यों दुखी होते हैं। हे भरतश्रेष्ठ! भीमसेन के मारे जाने पर और कौन हमारा सामना करेगा।।५८।६०।।

हे शत्रुदमन! जो शत्रुपक्ष में और कोई ऐसा मनुष्य आपका जाना हो, तो बताइए। शत्रुपक्ष के प्रधान योद्धा पाँचों पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि हैं। किन्तु उनसे श्रेष्ठ भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा,

द्रौणिर्विकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवंत्यौ च जयद्रथः ॥ ६३ ॥
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशांपते ।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ ६४ ॥
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवाऽऽत्मजः ।
अक्षौहिण्यो हि मे राजन्दशैका च समाहृताः ॥ ६५ ॥
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात्पराजयः ।
बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः ।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ॥ ६६ ॥
गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशांपते ॥ ६७ ॥
एतत्सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत ।
न्यूनतां पांडवानां च न मोहं गंतुमर्हसि ॥ ६८ ॥
इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
विविित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पंचपचाशत्तमोऽध्याय ॥ ५५ ॥

कर्ण, सोमदत्त, बाह्लीक, शल्य, जयद्रथ, दुःशासन, दुःसह, चित्रसेन, श्रुतायु, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा और आपके पुत्र विकर्ण आदि अनेक योद्धा मेरे पक्ष में हैं । इसके सिवा मैंने ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र की है ॥६१।६५॥

शत्रुओं के पास केवल सात अक्षौहिणी सेना है । फिर क्यों हमारी हार होगी ? बृहस्पति का कहना है कि अपनी सेना जिससे तिहाई अधिक हो उससे युद्ध करना चाहिए । हे राजेन्द्र ! मेरी सेना शत्रुसेना से तिहाई अधिक है ॥६६॥

इसके सिवा शत्रुपक्ष के अनेक लोग हमारी अपेक्षा गुणहीन हैं । अब आपको हमारे बल की अधिकता और शत्रुओं के बल की हीनता अच्छी तरह मालूम हो गई । इसलिए खेद करना आपके योग्य कार्य नहीं है ॥६७।६८॥

पिता से यों कहकर दुर्योधन पाण्डवों का वृत्तान्त जानने के लिए सञ्जय से कहने लगा ॥६९॥

—०—

उद्योगपर्व का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

अथ षट्पंचाशत्तमोऽध्याय ॥ ५६ ॥

दुर्योधन उवाच—अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय ।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
संजय उवाच—अतीव मुदितो राजन्युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ।

भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः ॥ २ ॥
रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन्दिशः ।
मंत्रं जिज्ञासमानः सन्बीभत्सुः समयोजयत् ॥ ३ ॥
तमपश्याम सन्नद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा ।
समंतात्समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४ ॥
पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय ।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथाऽवैम्यहमप्युत ॥ ५ ॥
दुर्योधन उवाच—प्रशंसस्यभिनंदंस्तान्पार्थानक्षपराजितान् ।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः ॥ ६ ॥
संजय उवाच—भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशांपते ।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो ॥ ७ ॥
ध्वजे हि तस्मिन्रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया ।
महाधनानि दिव्यानि महांति च लघूनि च ॥ ८ ॥
भीमसेनानुरोधाय हनूमान्मारुतात्मजः ।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन्ध्वज आरोपयिष्यति ॥ ९ ॥
सर्वा दिशो योजनमात्रमंतरं स तिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः।
न संसज्जत्यसौ तरुभिः संवृतोऽपि तथा हि माया विहिता भौमनेन॥ १० ॥

छप्पनवाँ अध्याय ॥ ५६ ॥

दुर्योधन ने पूछा—हे सञ्जय ! राजाओं-सहित सात अक्षौहिणी सेना एकत्र करके युद्ध की तैयारी करनेवाले युधिष्ठिर क्या करना चाहते हैं ? ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! राजा युधिष्ठिर युद्ध के लिए बहुत ही उत्साहित हैं। भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी डरते नहीं हैं। अर्जुन ने मन्त्र की परीक्षा के लिए अपना दिव्य रथ जोतकर खड़ा किया था। उस रथ की प्रभा से सब ओर प्रकाश फैल गया था। कवच पहने हुए अर्जुन बिजली के प्रकाश से चमकने हुए मेघ की तरह जान पड़ते थे। अच्छी तरह जाँच करके अर्जुन ने उत्साह के साथ मुझसे कहा कि "हे सञ्जय ! हम अवश्य जीतेंगे। हमारी विजय के चिह्न अभी से देख पड़ते हैं।" हे कुरुराज ! अर्जुन ने जो कहा वही मुझे भी जान पड़ा ॥२।५॥

दुर्योधन ने कहा—हे सञ्जय ! जुए में हारे हुए पाण्डवों का अभिनन्दन करते हुए तुम उनकी प्रशंसा कर रहे हो। बताओ, अर्जुन के रथ में घोड़े कैसे हैं ? और, ध्वजा कैसी है ? ॥६॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! विश्वकर्मा, इन्द्र और प्रजापति ने अर्जुन की बहुमूल्य श्रेष्ठ ध्वजा में अनेक रूप चित्रित किये हैं। भीमसेन के अनुरोध से युद्ध में पवनपुत्र हनुमान् उस ध्वजा पर बैठेंगे ॥७।९॥

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते न चैकवर्णं न च वेद्मि किंनु तत् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन वह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य ॥ ११ ॥
यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा वर्णान्विभ्रत्तैजसांश्चित्ररूपान् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन न चेद्भारो भविता नोत रोधः ॥ १२ ॥
श्वेतास्तस्मिन्वातवेगाः सदश्वा दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यंतरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र येषां गतिर्हीयते नाऽत्र सर्वा ।
शतं यत्तत्पूर्यते नित्यकालं हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ॥ १३ ॥
तथा राज्ञो दंतवर्णा बृहंतो रथे युक्ता भांति तद्वीर्यतुल्याः ।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ॥ १४ ॥
कल्माषांगास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन ।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरंगैर्विशिष्टा मुदा युक्ताः सहदेवं वहंति ॥ १५ ॥
माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः ।
समा वायोर्बलवंतस्तरस्विनो वहंति वीरं वृत्रशत्रुं यथेंद्रम् ॥ १६ ॥
तुल्यांश्चैभिर्वयसा विक्रमेण महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः ।
सौभद्रादीन्द्रौपदेयान्कुमारान्वहंत्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वह ध्वजा तिरछे और ऊपर एक योजन तक फैली हुई है। विश्वकर्मा ने उस पर ऐसी माया दिखलाई है कि वह वृक्ष आदि के झुण्ड में भी चली जाती है, किन्तु वृक्ष उसमें छू नहीं जाते ॥१०॥

जैसे आकाश में विचित्र इन्द्रधनुष का प्रकाश मनोहर जान पड़ता है, किन्तु ठीक रङ्ग नहीं जाना जाता, वैसे ही उस ध्वजा में भी अनेक रङ्ग देख पड़ते हैं ॥११॥

जैसे आकाश में छाया हुआ धुआं तेज से शोभायमान होता है, वैसे ही वह विश्वकर्मा की बनाई हुई ध्वजा है। उसमें न तो बोझ है और न वह कहीं रुकती या अटकती है ॥१२॥

हे नरेन्द्र! उस विचित्र रथ में तेजी से जानेवाले श्वेत घोड़े जुते हैं। ये वही सौ घोड़े हैं जो चित्ररथ गन्धर्व ने दिये थे। इनमें यह करामात है कि चाहे जितने क्यों न मारे जायँ, सौ के सौ बने रहेंगे; कम न होंगे ॥१३॥

वे पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग आदि सब स्थानों में जा सकते हैं। यही बात उस रथ में भी है। राजा युधिष्ठिर के रथ में उनके पराक्रम के अनुरूप शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं। वे भी आकाश, स्वर्ग और पृथ्वी पर चल सकते हैं। भीमसेन के रथ में भी वायु से बातें करनेवाले बढ़िया घोड़े जुते हुए हैं ॥१४॥

सहदेव के घोड़ों की पीठ तीतर के रङ्ग की विचित्र है और सब शरीर काला है। अर्जुन ने प्रसन्न होकर वे घोड़े उनको दिये हैं। व घोड़े वीर अर्जुन के घोड़ों से भी श्रेष्ठ हैं ॥१५॥

वे कभी नहीं थकते। इन्द्र के दिये हुए बढ़िया घोड़े नकुल के रथ को ले चलते हैं। वायु के समान वेग से चलनेवाले, एक रङ्ग-रूप और शक्तिवाले, चित्रसेन गन्धर्व के दिये हुए, दिव्य घोड़े कुमार अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्रों के रथों में लगे हैं ॥१६।१७॥

उद्योगपर्व का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

अथ सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कांस्तत्र संजयाऽपश्यः प्रीत्यर्थेन समागतान् ।
ये योत्स्यंते पांडवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ॥ १ ॥
संजय उवाच—मुख्यमंधकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम् ।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम् ॥ २ ॥
पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पांडवानभिसंश्रितौ ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ ॥ ३ ॥
अक्षौहिण्याऽथ पांचाल्यो दशभिस्तनयैर्वृतः ।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ४ ॥
द्रुपदो वर्धयन्मानं शिखंडिपरिपालितः ।
उपायात्सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपुः ॥ ५ ॥
विराटः सह पुत्राभ्यां शंखेनैवोत्तरेण च ।
सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः ॥ ६ ॥
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः ॥ ७ ॥
जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट् ।
पृथक्पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ ॥ ८ ॥
केकया भ्रातरः पंच सर्वे लोहितकध्वजाः ।
अक्षौहिणीपरिवृताः पांडवानभिसंश्रिताः ॥ ९ ॥

सत्तावनवां अध्याय ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! पाण्डवों की प्रसन्नता के लिए हमारे पक्ष की सेना से युद्ध करने को कौन-कौन वीर आये हैं, यह भी तुमने देखा था ? ॥१॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! मैंने वहां देखा कि वृष्णि और अन्धकवंश के मुखिया श्रीकृष्ण और चेकितान आये हैं ॥२॥

मर्दानगी का दावा रखनेवाले महारथी सात्यकि और चेकितान अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवों के पास आये हैं । पाञ्चालराज द्रुपद—सत्यजित्, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी आदि दस पुत्रों के साथ—एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं । उनके सैनिक ऐसे कवच पहने हुए हैं कि शरीर का कोई भाग खुला नहीं है ॥३।५॥ शङ्ख और उत्तर नामक दोनों कुमारों तथा भाइयों सहित राजा विराट एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं । सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर उनके साथ हैं ॥६।७॥ मगध के राजा जरासन्ध का पुत्र और चेदिनरेश धृष्टकेतु दोनों एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं ॥८॥ लाल ध्वजावाले पांचों भाई केकयदेश के राजकुमार एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवों के पास आये हैं ॥९॥

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान् ।
ये पांडवार्थे योत्स्यंति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ॥ १० ॥
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गांधर्वमासुरम् ।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ ११ ॥
भीष्मः शांतनवो राजन्भागः क्लृप्तः शिखंडिनः ।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः ॥ १२ ॥
ज्येष्ठस्य पांडुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली ।
तौ तु तत्राऽब्रुवन्केचिद्विषमौ नो मताविति ॥ १३ ॥
दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च ।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः ॥ १४ ॥
अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैंधवश्च जयद्रथः ॥ १५ ॥
अशक्याश्चैव ये केचित्पृथिव्यां शूरमानिनः ।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः ॥ १६ ॥
महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पंच केकयाः ।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यंति संयुगे ॥ १७ ॥
तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा ।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति ॥ १८ ॥
दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १९ ॥

मनुष्यों, गन्धर्वों और असुरों के व्यूहों को जाननेवाले महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवों की सेना के अगले भाग में रहेंगे। पितामह भीष्म को मारने का काम शिखण्डी को सौंपा गया है ॥१०।११॥ मत्स्यदेश की वीर सेना के साथ राजा विराट शिखण्डी की सहायता करेंगे ॥१२॥ बली मद्र-नरेश शल्य को मारने का भार राजा युधिष्ठिर ने अपने ऊपर लिया है। कुछ लोगों की सम्मति यह हुई कि ये काम इन दोनों के द्वारा न हो सकेंगे ॥१३॥ सौ भाइयों-सहित दुर्योधन को और पूर्व तथा दक्षिणदिशाके राजाओं को मारना भीमसेन ने स्वीकार किया है ॥१४॥

कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और जयद्रथ महावीर अर्जुन के भाग में पड़े हैं। अपने को शूर समझनेवाले जो अन्य राजा लोग दुर्धर्ष समझे जाते हैं उन्हें भी अर्जुन ने अपने भाग में लिया है ॥१५।१६॥

धनुर्द्धर पाचों भाई केकय राजकुमार केकय-सेना लेकर युद्ध करेंगे ॥१७॥ इनके भाग में मालव, शाल्वक और सशसक नाम से विख्यात त्रिगर्त देशवालों के मुख्य वीरगण पड़े हैं ॥१८॥

दुर्योधन और दुःशासन के पुत्रों और महाराज

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यंति भारत ॥ २० ॥
चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ॥ २१ ॥
सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रंदनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुवलात्मजम् ॥ २२ ॥
उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ॥ २३ ॥
ये चाऽन्ये पार्थिवा राजन्प्रत्युद्यास्यंति संगरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पांडुपुत्रा अकल्पयन् ॥ २४ ॥
एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत्ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ॥ २५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—न संति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ॥ २६ ॥
राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गांडीवाग्निं प्रवेक्ष्यंति पतंगा इव पावकम् ॥ २७ ॥
विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यंति प्रभग्नां पांडवैर्युधि ॥ २८ ॥
सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमंतः प्रतापिनः ।

बृहद्बल को मारने का भार अभिमन्यु ने लिया है ॥१९॥

सुवर्ण की ध्वजा रखनेवाले, महाधनुर्द्धर द्रौपदी के पुत्र और धृष्टद्युम्न आदि वीर द्रोणाचार्य पर आक्रमण करेंगे ॥२०॥ चेकितान सोमदत्त से द्वैरथ युद्ध करेंगे। भोजपति सात्यकि कृतवर्मा से युद्ध करेंगे ॥२१॥ माद्री के पुत्र, महाशूर, इन्द्र सदृश, युद्ध-निपुण सहदेव आपके साले शकुनि से संग्राम करेंगे ॥२२॥ धूर्त उलूक और सारस्वत राजाओं से नकुल युद्ध करेंगे ॥२३॥ इनके सिवा और जो-जो राजा आपकी ओर से युद्ध करने जायँगे उनको मारने का काम पाण्डव आपस में बाँट लेंगे ॥२४॥

पाण्डवों की सेना का विभाग यों ही हुआ है। अब आपको और आपके पुत्रों को जो कर्तव्य समझ पड़े वह कीजिए ॥२५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! मेरे द्यूतासक्त दुर्मति पुत्र यदि महाबली भीमसेन से युद्ध करेंगे तो कभी जीते न बचेंगे ॥२६॥ कालवश होकर सब राजा अग्नि में कूदनेवाले पतङ्गों की तरह गाण्डीव धनुष की अग्नि में भस्म होंगे ॥२७॥ जिनसे वैर बाँधा जा चुका है उन वीर पाण्डवों की बाण-वर्षा के आगे मेरी सेना कभी नहीं ठहर सकेगी। जब सब सैनिक भागेंगे तब उन्हें कौन बचावेगा? ॥२८॥

पाण्डव लोग महारथी, शूर, कीर्तिशाली, प्रतापी, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी तथा युद्ध में

सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिंजयाः ॥ २९ ॥
येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पांडवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ॥ ३० ॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ३१ ॥
उत्तमौजाश्च पांचाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखंडी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ॥ ३२ ॥
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पांचालाश्च प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
येषामिंद्रोऽप्यकामानां न हरेत्पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिंद्युः पर्वतानपि ॥ ३४ ॥
तान्सर्वगुणसंपन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ॥ ३५ ॥
दुर्योधन उवाच—उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ ।
अथ कस्मात्पांडवानामेकतो मन्यसे जयम् ॥ ३६ ॥
पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम् ।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ॥ ३७ ॥
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः ।
अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पांडवाः ॥ ३८ ॥
सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पांडवान् ।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ॥ ३९ ॥

विजय प्राप्त किया करते हैं ॥२९॥ युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं और अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, उनके भाई, सात्यकि, भाई-सहित धृष्टकेतु, द्रुपद, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराट के पुत्र उत्तर, बभ्रु, काशिनरेश, चेदिराज, मत्स्यराज, सृञ्जय, पाञ्चाल और प्रभद्रक आदि जिधर के योद्धा हैं, उनके राज्य को साक्षात् इन्द्र भी नहीं ले सकते । पाण्डव रणधीर हैं । वे पर्वत तक को अपने बाणों से तोड़ सकते हैं । हे सञ्जय ! मेरे दुर्बुद्धि पुत्र उन्हीं सब गुणों से युक्त अलौकिक प्रतापी पाण्डवों से युद्ध करना चाहते हैं ॥३०।३५॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी ! हम और पाण्डव एक ही जाति के और एक ही मनुष्य-लोक के निवासी हैं । फिर आप पाण्डवों के ही जीतने की आशा क्यों करते हैं ॥३६॥ पाण्डवों की बात जाने दीजिए, सब देवताओं-सहित इन्द्र भी भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त और अश्वत्थामा

न मामकान्पांडवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम् ।
पराक्रांतो ह्यहं पांडून्सपुत्रान्योद्धुमाहवे ॥ ४० ॥
मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षंति भारत ।
ते तानावारयिष्यंति ऐणेयानिव तंतुना ॥ ४१ ॥
महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः ।
अभिद्रुता भविष्यंति पांचालाः पांडवैः सह ॥ ४२ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय ।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥
जानाति हि यथा भीष्मः पांडवानां यशस्विनाम् ।
बलवत्तां स पुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥
यतो नाऽरोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः ।
किंतु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पांडवान् ।
अर्चिष्मतो महेष्वासान्हविषा पावकानिव ॥ ४६ ॥
संजय उवाच—धृष्टद्युम्नः सदैवैतान्संदीपयति भारत ।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद्भरतसत्तमाः ॥ ४७ ॥
ये केचित्पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः ।
युद्धे समागमिष्यंति तुमुले शस्त्रसंकुले ॥ ४८ ॥
तान्सर्वानाहवे क्रुद्धान्सानुबंधान्समागतान् ।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवोदकात् ॥ ४९ ॥

आदि महाधनुर्द्धर महातेजस्वी वीरों को नहीं जीत सकते। पाण्डव तो मेरी सेना की ओर नेत्र उठाकर भी नहीं देख सकेंगे। मैं अपने पराक्रम से उन सबको युद्ध में नीचा दिखाऊँगा। मेरा प्रिय करने के लिए एकत्र हुए-हुए राजा लोग ही विपक्षियों को विमुख कर देंगे। मेरे रथों की कतार और बाणों की वर्षा से पाञ्चालों समेत पाण्डव लोग युद्ध-भूमि से भाग जायेंगे ॥३७।४२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय! मेरा यह अशिष्ट पुत्र पागल की तरह बक रहा है। यह युद्ध में युधिष्ठिर को कभी न हरा सकेगा। पितामह भीष्म पाण्डवों के और उनके कुमारों के बल को जानते हैं; इसी से वे युद्ध नहीं पसन्द करते। अस्तु, तुम फिर पाण्डवों के कार्य और उद्योग का हाल सुनाओ। कौन-कौन मनुष्य उन महायोद्धा पाण्डवों को वैसे ही युद्ध के लिए उत्तेजित कर रहा है जैसे अग्नि में घी की आहुति डाली जाती हो? ॥४३।४६॥

संजय ने कहा—हे राजेन्द्र! वीर धृष्टद्युम्न नित्य यह कहकर पाण्डवों को उकसाते हैं कि "वीरो, निर्भय होकर युद्ध करो। दुर्योधन के अनुरोध से इस संग्राम में जो लोग युद्ध करने आवेंगे उन्हें मैं अकेला ही, जल से मछली की तरह, पकड़-पकड़कर

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम् ।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥
तथा ब्रुवंतं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः ।
तव धैर्यं च वीर्यं च पांचालाः पांडवैः सह ॥ ५१ ॥
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर ।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ५२ ॥
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे ।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ॥ ५३ ॥
भवता यद्विधातव्यं तन्नः श्रेयः परन्तप ।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ॥ ५४ ॥
पौरुषं दर्शयञ्शूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ।
क्रीणीयात्तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ॥ ५५ ॥
स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रांतश्च नरर्षभ ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ॥ ५६ ॥
एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे ।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम् ।
सर्वाञ्जनपदान्सूत योधा दुर्योधनस्य ये ॥ ५७ ॥
सवाह्लिकान्कुरून्ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्शरद्वतः ।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ॥ ५८ ॥

मार डालूँगा । तटभूमि जैसे समुद्र के वेग को रोक रखती है वैसे ही भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य और दुर्योधन के वेग को मैं रोक रक्खूँगा।" ॥४७।५०॥

युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न से कहा था—हे वीर ! पाञ्चालों को और हम लोगों को तुम्हारे ही पराक्रम और धैर्य का भरोसा है । तुम क्षत्रियधर्म्म के अनुगामी और अकेले ही युद्ध-भूमि में कौरवों का नाश कर सकते हो । यह मैं अच्छीतरह से जानता हूँ । तुम्हारी सम्मति से हमारा कल्याण होता है । नीतिकारों का यह कहना है कि हज़ार गुना मूल्य देकर ऐसे मनुष्यों को अपने पास रखना चाहिए, जो युद्ध-विमुख, शरणागत और भागनेवाले पुरुषों को पौरुष दिखाकर उत्साहित करते हुए, आप उनके अगुआ बनकर, खड़े हो जायँ । तुम शूर, वीर, पराक्रमी हो । तुम युद्ध में भयभीत हुए-हुए पुरुषों की रक्षा कर सकते हो ॥५१।५६॥

धर्मशील युधिष्ठिर यों कह रहे थे और मैं भय से व्याकुल हो रहा था । इसी समय धृष्टद्युम्न ने मुझसे कहा—हे सूत ! तुम जाकर हस्तिनापुर-निवासी योद्धा वाह्लीक, कौरव, प्रातिपेयगण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, भीष्म और राजा दुर्योधन से कहो कि वे लोग शीघ्र युद्ध के लिए आवें । हे महाराज ! मैं

दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम् ।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ॥ ५९ ॥
युधिष्ठिरः साधुनैवाऽभ्युपेयो मा वोऽवधीदर्जुनो देवगुप्तः ।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं याचध्वं वै पांडवं लोकवीरम् ॥ ६० ॥
नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन ।
यथाविधः सव्यसाची पांडवः सत्यविक्रमः ॥ ६१ ॥
देवैर्हि संभृतो दिव्यो रथो गांडीवधन्वनः ।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृद्ध्वं मनो युधि ॥ ६२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

प्रार्थना करता हूँ कि कोई सज्जन पुरुष अभी राजा युधिष्ठिर के पास इसलिए जाय जिसमें देव रक्षित अर्जुन आप लोगों का संहार न करें। आप राजा युधिष्ठिर को आधा राज्य देने की सूचना शीघ्र पाण्डवों के पास भेजिए। सत्यपराक्रमी अर्जुन पृथ्वी पर अद्वितीय योद्धा हैं। वे ऐसे पराक्रमी हैं कि देवताओं ने उन्हें रथ दिया है। कोई उन्हें हरा नहीं सकता। इसलिए आप युद्ध का निश्चय छोड़ दीजिए ॥५७।६२॥

उद्योगपर्व का सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

अथ अष्टपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पांडवः ।
तेन संयुगमेष्यंति मंदा विलपतो मम ॥ १ ॥
दुर्योधन निवर्त्तस्व युद्धाद्भरतसत्तम ।
नहि युद्धं प्रशंसंति सर्वावस्थमरिंदम ॥ २ ॥
अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पांडुपुत्राणां यथोचितमरिन्दम ॥ ३ ॥
एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यंते धर्मसंहितम् ।
यत्त्वं प्रशांतिं मन्येथाः पांडुपुत्रैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥
अंगेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एव तवाऽभावस्त्वं तु मोहान्न बुद्धयसे ॥ ५ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय ॥५८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय! ब्रह्मचारी, क्षत्रिय-तेज से युक्त, पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर से मेरे मन्दमति पुत्र युद्ध करना चाहते हैं। मैं रोता और कलपता हूँ, पर मेरा कहा नहीं मानते। हे दुर्योधन! तुम युद्ध का विचार छोड़ दो। किसी दशा में युद्ध अच्छा नहीं है। आधा राज्य तुम्हारे लिए बहुत है। तुम मन्त्रियों-सहित बड़े आनन्द में रह सकते हो। पाण्डवों को उनका भाग दे दो। तुम आधा राज्य देकर पाण्डवों से संधि कर लो, यही कुरुवंश के लोगों की इच्छा है ॥१।२॥ सब इसी को धर्मसम्मत समझते

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाऽश्वत्थामा न संजयः ॥ ६ ॥
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ॥ ७ ॥
येषु संप्रतितिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।
ते युद्धं नाऽभिनंदंति तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ८ ॥
न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ९ ॥
दुर्योधन उवाच—नाऽहं भवति न द्रोणे नाऽश्वत्थाम्नि न संजये ।
न भीष्मे न च कांबोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ १० ॥
सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।
अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥ ११ ॥
अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥ १२ ॥
रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक्कवचं सदः ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥ १३ ॥
आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥ १४ ॥
अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यावः पांडवान्समरे त्रयः ॥ १५ ॥

हैं। हे बेटा! तुम अपनी सेना की ओर देखो। यह सब जमाव तुम्हारे सर्वनाश के लिए ही हुआ है। तुम मोहवश होकर नहीं जान पाते ॥४।५॥ शत्रु-पीड़ित कौरवों की रक्षा करने वाले भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लीक, अश्वत्थामा, सञ्जय, सोमदत्त, शल, सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा आदि सब वीर योद्धा और मैं, कोई भी युद्ध के पक्ष में नहीं है। तुम इन सबकी सम्मति से कार्य करो। तुम अपनी इच्छा से युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते; तुम्हें तो युद्ध के लिए कर्ण, दुःशासन और शकुनि उभार रहे हैं ॥६।९॥ दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी! मैंने द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म, बाह्लीक, कृप, काम्बोज, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्य किसी योद्धा के बल पर भरोसा रखकर पाण्डवों को युद्ध के लिए नहीं ललकारा है ॥१०।११॥ मैं और कर्ण, दोनों वीर अपने पराक्रम के बल पर यह युद्ध-यज्ञ करना चाहते हैं। इस यज्ञ में बलि-पशु युधिष्ठिर, वेदी रथ, स्रुवा खड्ग, स्रुक् गदा, मृगछाला कवच, चारों होता मेरे चारों घोड़े, कुश बाण और घी यश होगा ॥१२।१३॥ मैं युद्ध-भूमि में आत्मयज्ञ से यमराज को प्रसन्न करके, शत्रुओं को मारकर, राजलक्ष्मी पाकर, अपनी नगरी में आऊँगा। मैं,

अहं हि पांडवान्हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् ।
मां वा हत्वा पांडुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ॥ १६ ॥
त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पांडवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १७ ॥
यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पांडवान्प्रति ॥ १८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—सर्वान्वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया ।
ये मंदमनुयास्यध्वं यांतं वैवस्वतक्षयम् ॥ १९ ॥
रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः ।
वरान्वरान्हनिष्यंति समेता युधि पांडवाः ॥ २० ॥
प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती ।
व्यस्ता सीमंतिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ २१ ॥
संपूर्णं पूरयन्भूयो धनं पार्थस्य माधवः ।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत्प्रवपञ्शरान् ॥ २२ ॥
सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति ।
तं सर्वे संश्रयिष्यंति प्राकारमकुतोभयम् ॥ २३ ॥
यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुंजरान्विनिपातितान् ।
विशीर्णदंतान्गिर्याभान्भिन्नकुंभान्सशोणितान् ॥ २४ ॥

कर्ण, और भाई दुःशासन, ये तीनों वीर युद्ध में अवश्य पाण्डवों को मारेंगे ॥१४।१५॥ हे महाराज! या तो मैं पाण्डवों को मारकर इस पृथ्वी का साम्राज्य करूंगा और या पाण्डव मुझे मारकर इस पृथ्वी पर सम्राट् कहावेंगे ॥१६॥ मैं राज्य, सब ऐश्वर्य और अपना जीवन भी चाहे गंवा दूं, किन्तु पाण्डवों से संधि नहीं करूंगा ॥१७॥ जितनी बड़ी तीक्ष्ण सुई की नोक होती है उतनी भी पृथ्वी में पाण्डवों को नहीं दूंगा ॥१८॥ धृतराष्ट्र ने कहा—हे राजाओ! दुर्योधन को तो मैंने छोड़ दिया; जो उसके साथ में बढ़ा है वह होगा। मुझे शोक तुम्हारे लिए हो रहा है, जो इस दुर्योधन के पीछे यमपुरी के मार्ग में पांव रख रहे हो ॥१९॥ व्याघ्र जैसे मृगों के झुण्ड में पैठकर उन्हें नष्ट करता है वैसे ही पाण्डव लोग कौरव-सेना के चुने-चुने जवानों को छांट-छांटकर मारेंगे ॥२०॥ मुझे जान पड़ता है कि महाबाहु सात्यकि की मार से व्याकुल और व्याकुल हुई-हुई हमारी सेना पीछे को भाग रही है ॥२१॥ अर्जुन की सहायता करनेवाले सात्यकि, खेत में बीज बोने की तरह, समर-भूमि में बाण बरसावेंगे ॥२२॥ बड़ी ऊंची दीवाल की तरह भीमसेन सब सेना के आगे होंगे, सब लोग उन्हीं का आश्रय लेकर कौरव सेना से युद्ध करेंगे ॥२३॥

हे दुर्योधन! तुम जब देखोगे कि भीमसेन ने

तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान् ।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात्स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २५ ॥
निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम् ।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २६ ॥
महद्वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पांडवैः ।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपेष्यथ ॥ २७ ॥
महावनमिव छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम् ।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥ २८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान्पृथिवीपतीन् ।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये अष्टपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

पर्वत ऐसे हाथियों को गिरा दिया है, उनके दांत टूट गये हैं, सिर फट गये हैं और वे खून से लथ-पथ होकर युद्ध-भूमि में फटे हुए पर्वत के शिखर ऐसे पड़े हुए हैं तब भीमसेन से भयभीत होकर तुम मेरी इन बातों को स्मरण करोगे ॥२४।२५॥ जब भीमसेन रूपी अग्नि में असंख्य हाथी, रथ, पैदल आदि को स्वाहा होते देखोगे तब तुम्हें मेरी यह बातें स्मरण आवेंगी ॥२६॥ मैं नहीं चाहता कि पाण्डवों की ओर से तुम्हें किसी प्रकार का भय हो; क्योंकि युद्ध में तुम सबको भीमसेन की गदा पीस डालेगी। पाण्डवों से सन्धि न करोगे तो भाइयों-सहित तुम्हारी यह दशा अवश्य होगी। जब देखोगे कि भीमसेन ने बड़े भारी वन की तरह कौरव-सेना को तहस-नहस कर डाला है, तब तुमको मेरा कहा स्मरण आवेगा ॥२६।२८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र सब राजाओं के आगे दुर्योधन से यों कहकर फिर सञ्जय से पूछने लगे ॥२९॥

उद्योगपर्व का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

अथ एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यद्ब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ १ ॥
संजय उवाच—शृणु राजन्यथादृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ ।
ऊचतुश्चापि यद्वीरौ तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥ २ ॥
पादांगुलीरभिप्रेक्षन्प्रयतोऽहं कृतांजलिः ।

उनसठवां अध्याय ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महाप्राज्ञ! महात्मा वासुदेव और अर्जुन ने जो कहा हो वह मुझसे कहो। उसे सुनने के लिए मैं अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ ॥१॥ सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र! मैंने महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन को जिस ढङ्ग से देखा और उन दोनों वीरों ने जो मुझसे कहा, सो मैं आपको सुनाता हू ॥२॥



ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नाऽपसर्पति ।
यद्गोविंदेति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥ २२ ॥
तेजोमयं दुराधर्षं गांडीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥ २३ ॥
मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाऽप्यापि साक्षात्पुरंदरः ॥ २४ ॥
बाहुभ्यामुद्वहेद्भूमिं दहेत्क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत्त्रिदिवाद्देवान्योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ २५ ॥
देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्हं युद्धे पांडवं योऽभ्ययाद्रणे ॥ २६ ॥
यत्तद्विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २७ ॥
एकेन पांडुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २८ ॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नाऽन्यत्र विद्यते ॥ २९ ॥
इत्यब्रवीद्धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन्गिरा ।
गर्जन्समयवर्षीव गगने पाकशासनः ॥ ३० ॥
केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद्वाक्यमब्रवीद्रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।५९।

के लिए शीघ्र यत्न करेंगे ॥१६।२१॥ मेरे दूर होने के कारण द्रौपदी जो " गोविन्द ! गोविन्द ! " कहकर कौरव-सभा में चिल्लाई और रोई थी, उसकी खटक मेरे हृदय से दूर नहीं हुई, बल्कि दिन दिन बढ़ती ही जाती है । मैं द्रौपदी की इच्छा पूर्ण करके उन्हें सुखी करूँगा ॥२२॥ तुमने उन अर्जुन के साथ शत्रुता की है जिनका गाण्डीव धनुष त्रिलोक में प्रसिद्ध और अद्भुत कर्म करनेवाला है । मैं अर्जुन की सहायता करूँगा । मेरी सहायता जिन्हें प्राप्त है उन अर्जुन को जीतने की इच्छा यदि साक्षात् इन्द्र भी करें तो वे भी बचने के नहीं ॥२३।२४॥ संग्राम में अर्जुन को जीतने की इच्छा करना मानों हाथों पर भूमण्डल को उठा लेना है, क्रुद्ध होकर तीनों लोकों की प्रजा का संहार करना है और स्वर्ग से देवताओं को भी गिराना है ॥२५॥ वास्तव में देवता, गन्धर्व, यक्ष, असुर, मनुष्य या नाग कोई भी ऐसा नहीं देख पड़ता जो युद्ध में अर्जुन के सामने ठहर सके ॥२६॥ विराटनगर में अकेले ही अर्जुन ने सब वीरों को जीतकर खदेड़ दिया था । एक इस अद्भुत काम से ही महावीर अर्जुन के पराक्रम का यथेष्ट

परिचय मिलता है ॥२७।२८॥ अर्जुन में बल, वीर्य, तेज, फुर्ती, उत्साह और धैर्य आदि गुण पूर्ण रूप से विद्यमान् हैं। ये गुण और किसमें हैं? ॥२९॥

हे राजेन्द्र ! वर्षाकाल में मेघ जैसे आकाश में गरजकर जल बरसाते हैं, वैसे ही अर्जुन को उत्तेजित करते हुए श्रीकृष्ण ने मुझसे ये बातें कहीं। उनके पश्चात् महावीर अर्जुन रोंगटे खड़े कर देनेवाले वचन कहने लगे ॥३०।३१॥

उद्योगपर्व का उनसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच—संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ॥ १ ॥
प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान्विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान्प्रति ॥ २ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ॥ ३ ॥
देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पांडवान् ।
कुरूञ्शक्त्याऽल्पतरया दुर्योधनमथाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
दुर्योधनेयं चिंता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नाऽनुमानतः ॥ ५ ॥
आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते ।
प्रियाणि चैषां कुर्वंति यथाशक्ति हितानि च ॥ ६ ॥
एवमेवोपकर्तॄणां प्रायशो लक्षयामहे ।
इच्छंति बहुलं संतः प्रतिकर्तुं महत्प्रियम् ॥ ७ ॥

साठवां अध्याय ॥ ६० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र सञ्जय का कथन सुनकर उसकी बातों के गुण-दोषों पर विचार करने लगे ॥१॥ अपने पुत्रों की जय चाहनेवाले धृतराष्ट्र सूक्ष्म दृष्टि से दोष-गुण का विचार करके, यथार्थ रूप से दोनों पक्षों के बलाबल को जाचकर, यह देखने लगे कि किस पक्ष को कौन कौन सी शक्ति प्राप्त है ॥२।३॥ उन्होंने देखा कि देवशक्ति और मनुष्यशक्ति दोनों ही पाण्डवों की ओर हैं और वे स्वयं भी बड़े बली और तेजस्वी हैं। इधर कौरवों की शक्ति बहुत थोड़ी है; क्योंकि देवशक्ति की सहायता तो उन्हें मिली ही नहीं है, बल्कि वे स्वयं भी पाण्डवों के मुकाबले में बहुत ही हीन हैं ॥४॥ तब धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से फिर कहा—हे बेटा ! पाण्डवों के हाथ से कौरवों के विनाश की चिन्ता सदा मुझे सताया करती है। मैं इसे प्रत्यक्ष सा देख रहा हूं कि यह केवल अनुमान नहीं है ॥५॥

मैं सत्य कहता हूं। सब प्राणी पुत्रों पर स्नेह करते हैं और यथाशक्ति उनका प्रिय और हित

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात्खांडवे तत्कृतं स्मरन् ।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन्कुरुपांडुसमागमे ॥ ८ ॥
जातिगृद्धयाभिपन्नाश्च पांडवानामनेकशः ।
धर्मादयः समेष्यंति समाहूता दिवौकसः ॥ ९ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसन्निभम् ।
रिरक्षिषंतः संरंभं गमिष्यंतीति मे मतिः ॥ १० ॥
ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम् ।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवंतोऽस्त्रपारगाः ॥ ११ ॥
दुरासदं यस्य दिव्यं गांडीवं धनुरुत्तमम् ।
वारुणौ चाऽक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी ॥ १२ ॥
वानरश्च ध्वजे दिव्यो निःसंगो धूमवद्गतिः ।
रथश्च चतुरंतायां यस्य नास्ति समः क्षितौ ॥ १३ ॥
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः ।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः ॥ १४ ॥
यं चातिमानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति ।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे ॥ १५ ॥
शतानि पंच चैवेषून्यो गृह्णन्नेव दृश्यते ।
निमेषांतरमात्रेण मुंचन्दूरं च पातयन् ॥ १६ ॥

चाहते हैं ॥६॥ उपकार करनेवालों का ढङ्ग प्रायः ऐसा ही देखा जाता है कि वे सदा प्रिय करने में तत्पर रहते हैं ॥७॥ इसलिए धर्म, इन्द्र, वायु आदि पाण्डवों के पिता देवता अवश्य आकर उनकी सहायता करेंगे । खाण्डव वन जलाने के लिए देकर अर्जुन ने जो उपकार किया है उसका खयाल करके कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अग्नि अवश्य पाण्डवों की सहायता करेंगे; क्योंकि सज्जन लोग उपकार करनेवाले का प्रत्युपकार करते ही हैं ॥८॥ जान पड़ता है कि देवता लोग कौरवों पर कोप करेंगे और वज्रपात तुल्य भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य के भय से पाण्डवों को बचावेंगे । इसके सिवा कौरवों पर क्रुद्ध भी हो जायँगे ॥९।१०॥ पाण्डव यों ही अस्त्र विद्या में निपुण और वीर्य-शाली हैं, उस पर देवताओं की सहायता होने से कोई उनकी ओर आंख उठाकर देख भी न सकेगा ॥११॥ जिनका गाण्डीव धनुष महाभयङ्कर है, जिनके पास वरुण के दिये हुए अक्षय बाण-पूर्ण तरकस हैं, जिनके रथ की गति धुएं की तरह कहीं नहीं रुकती, जिनकी ध्वजा में वानर का चिह्न है, जो सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर अद्वितीय योद्धा हैं, जिनका मेघ-गम्भीर सिंहनाद वज्र की ध्वनि की तरह शत्रुओं के हृदय दहला देता है और लोग जिन्हें अद्भुत वीर्यवाला मानते हैं उन महेन्द्र और उपेन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन को मैं मानों संहार के लिए उद्यत देख रहा हूँ, राजा लोग जिन्हें देवविजयी जानते हैं ॥१२।१५॥ जो पल भर में पांच सौ बाण तरकस

यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च ।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः ॥ १७ ॥
युद्धायाऽवस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः ।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम् ॥ १८ ॥
क्षिप्रत्येकेन वेगेन पंच बाणशतानि यः ।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पांडवम् ॥ १९ ॥
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेंद्रविक्रमम् ।
निघ्नतमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन्महाहवे ॥ २० ॥
इत्येवं चिंतयन्कृत्स्नमहोरात्राणि भारत ।
अनिद्रो नि सुखश्चाऽस्मि कुरूणां शमचिंतया ॥ २१ ॥
क्षयोदयोऽयं सुमहान्कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अस्य चेत्कलहस्यांऽतः शमादन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हिं सदा मन्ये पांडवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टतमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

से निकालकर और धनुष पर चढ़ाकर छोड़ सकते हैं, जिनको भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य और अन्य वीरगण देवताओं से भी बढ़कर पराक्रमी समझते हैं, जो किसी से हारते नहीं हैं, जिनका बाहुबल सहस्रबाहु अर्जुन के समान है, उन महेन्द्र और उपेन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन को मैं मानों संहार के लिए उद्यत देख रहा हूं ॥१६।२०॥ हे पुत्र ! मैं दिन-रात्रि इसी चिन्ता से पीड़ित रहता हूं। रात्रि को मुझे निद्रा तक नहीं आती। इस युद्ध में अवश्य कौरवों का संहार होगा। सन्धि के सिवा यह सर्वनाश टलने की कोई सम्भावना नहीं। इसी से पाण्डवों के साथ सन्धि करने के लिए मैं इतना आग्रह कर रहा हूं। पाण्डव कौरवों से अधिक बली और शक्तिशाली हैं। इस कारण मेरी सम्मति नहीं है कि उनके साथ युद्ध किया जाय ॥२१।२३॥

उद्योगपर्व का साठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच—पितुरेतद्वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इकसठवां अध्याय ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! पिता के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन क्रोध से अधीर हो उठा और कहने लगा—हे पिताजी ! देवता पाण्डवों के सहायक हैं इसी कारण वे जीते नहीं जा सकते, यह

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद्भवान् ।
मन्यते तद्भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ॥ २ ॥
अकामद्वेषसंयोगाल्लोभाद् द्रोहाच्च भारत ।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ॥ ३ ॥
इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः ।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत्पुरा ॥ ४ ॥
नैव मानुषवद्देवाः प्रवर्तंते कदाचन ।
कामात्क्रोधात्तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ ॥ ५ ॥
यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इंद्रोऽश्विनावपि ।
कामयोगात्प्रवर्त्तेरन्न पार्थो दुःखमाप्नुयुः ॥ ६ ॥
तस्मान्न भवता चिंता कार्यैषा स्यात्कथंचन ।
दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद्भावेषु भारत ॥ ७ ॥
अथ चेत्कामसंयोगाद्द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते ।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद्विक्रमिष्यति ॥ ८ ॥
मयाभिमंत्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति ।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान्परिक्षिप्य समंततः ॥ ९ ॥
यद्वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः ।
ममाऽप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ॥ १० ॥
विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च ।

समझकर आप भयभीत हो रहे हैं । आप इस भय को अपने हृदय से हटा दीजिए ॥१।२॥ मैं पहले एक बार महात्मा व्यास, तपस्वी नारद और जमदग्नि के पुत्र परशुराम के मुँह से यह पौराणिक कथा सुन चुका हूँ कि काम, द्वेष और लोभ के त्याग से ही देवताओं को देवपद प्राप्त हुआ है ॥३।४॥ हे महाराज ! देवता लोग मनुष्यों की तरह काम, क्रोध, लोभ या द्वेष के वश होकर कोई काम नहीं करते ॥५॥ यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र और अश्विनीकुमार स्नेह के वश होकर काम करते तो पाण्डव ऐसे दुःख न उठाते ॥६॥ देवता लोग शम-दम आदि देवभावों को ही पसन्द करते हैं, काम-क्रोध आदि से दूर रहते हैं । इसलिए आप चिन्ता न करें ॥७॥ यदि देवता लोग काम, द्वेष, लोभ या क्रोध के वश होकर कुछ करेंगे तो अवश्य ही उनका देवभाव और पराक्रम नष्ट हो जायगा और उनकी चेष्टा सफल न होगी ॥८॥ हे महाराज ! केवल पाण्डव ही दैवबल से बलवान् नहीं हैं । मैं भी अग्निहोत्र आदि से अग्नि की उपासना किया करता हूँ । चारों ओर से सब लोकों को जलाने के लिए उद्यत प्रचण्ड अग्नि को मन्त्रबल से मैं भी शान्त कर सकता हूं ॥९॥ देवता जैसे परम तेजस्वी हैं वैसे ही उनके

लोकस्य पश्यतो राजन्स्थापयाम्यभिमंत्रणात् ॥ ११ ॥
चेतनाचेतनस्याऽस्य जंगमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ॥ १२ ॥
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकंपया ॥ १३ ॥
स्तंभितास्वप्सु गच्छंति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥ १४ ॥
अक्षौहिणीभिर्यान्देशान्यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राऽश्वा मे प्रवर्तंते यत्र यत्राऽभिकामये ॥ १५ ॥
भयानकानि विषये व्यालादीनि न संति मे ।
मंत्रगुप्तानि भूतानि न हिंसंति भयंकराः ॥ १६ ॥
निकामवर्षी पर्जन्यो राजन्विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न संति मे ॥ १७ ॥
अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान्नोत्सहंतेऽभिरक्षितुम् ॥ १८ ॥
यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्द्विषस्त्रातुमंजसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ॥ १९ ॥
नैव देवा न गंधर्वा नाऽसुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

प्रसाद से मैं भी तेजस्वी हूं ॥१०॥ मैं लोगों के सामने फट रही पृथ्वी और पर्वत के शिखरों को मन्त्रबल से जोड़ सकता हूं ॥११॥ चराचर जगत् के विनाश के लिए उत्पन्न, महाशब्दयुक्त, घोर, शिला-वर्षायुक्त, आंधी पानी को, लोक-रक्षा के लिए मैं दया करके शान्त कर सकता हूं। मैं लोगों के सामने कई बार ये अद्भुत काम कर चुका हूं ॥१२।१३॥

मैं जल का स्तम्भन जानता हूं। जल को रोक देता हूं, तो उसके ऊपर से रथ और पैदल बड़े आनन्द में चले जा सकते हैं। देवों और असुरों के भावों का प्रवर्तक मैं ही हूं ॥१४॥ मैं अक्षौहिणी सेना लेकर किसी काम से जिन देशों में जाता हूं उन देशों में, जहां पर मैं चाहता हूं वहीं जल प्रकट हो जाता है ॥१५॥ मेरे राज्य के भीतर सर्प आदि भयङ्कर जीव नहीं देख पड़ते। मेरे मन्त्र-बल से रक्षित जीवों को भयङ्कर हिंसक जीव नहीं सताते ॥१६॥

मेरे राज्य में मेघ सदा समय पर जल बरसाते हैं। मेरी प्रजा अपने-अपने धर्म का पालन करती है। मेरे राज्य में अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि ईतिभय नहीं है ॥१७॥ अश्विनीकुमार, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्म आदि सब देवता मिलकर भी मेरे शत्रुओं की रक्षा नहीं कर सकते ॥१८॥ यदि ये देवता मेरे शत्रुओं

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
नैतद्विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ॥ २१ ॥
भविष्यतीदमिति वा यद्ब्रवीमि परंतप ।
नाऽन्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ॥ २२ ॥
लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ॥ २३ ॥
न ह्यहं श्लाघनो राजन्भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद्यदात्मानं प्रशंसति ॥ २४ ॥
पांडवांश्चैव मत्स्यांश्च पांचालान्केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोताऽसि विजितान्मया ॥ २५ ॥
सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यंति सर्वशः ।
तथैव ते विनंक्ष्यंति मामासाद्य सहान्वयाः ॥ २६ ॥
परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥ २७ ॥
पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा ।
अस्त्रेषु यत्प्रजानंति सर्वं तन्मयिं विद्यते ॥ २८ ॥
इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिन्दमः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

की रक्षा कर सकते तो पाण्डवों को बारह वर्ष वन में रहकर ऐसे कष्ट न भोगने पड़ते ॥१९॥ हे पिताजी ! मैं सत्य कहता हूं कि देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि कोई भी मेरे शत्रुओं की रक्षा नहीं कर सकेंगे ॥२०॥ मैंने मित्रों और शत्रुओं के लिए भला या बुरा जो कुछ सोचा है वही अब तक हुआ है। वही बात अब भी होगी ॥२१॥ मैंने जब जो कहा है तब वही हुआ है। इसी से सब लोग मुझे सत्य-सङ्कल्प जानते हैं ॥२२॥ मेरी यह महिमा सब देशों में प्रसिद्ध है और जगत के सब लोग इसके साक्षी हैं। मैं आपको सान्त्वना देने के लिए ये बातें कह रहा हूं; अपने मुंह अपनी प्रशंसा करना मेरा उद्देश्य नहीं है ॥२३॥ मैंने आज तक कभी अपने मुंह अपनी प्रशंसा नहीं की। क्योंकि अपने मुंह अपनी प्रशंसा करना मूर्खों का काम है ॥२४॥ हे राजेन्द्र ! आप सुनेंगे कि मैंने युद्ध में पाण्डवों, पाञ्चालों, मत्स्यों और केकयों को तथा सात्यकि और श्रीकृष्ण को हरा दिया ॥२५॥ नदियां जैसे सागर में जाकर लीन हो जाती हैं, वैसे ही सपरिवार पाण्डव मेरे सामने आकर नष्ट हो जायेंगे ॥२६॥ बुद्धि, तेज, पराक्रम, विद्या और उपाय में मैं पाण्डवों से श्रेष्ठ हूं ॥२७॥

पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, महात्मा कृप, शल्य

और शल जिन अस्त्रविद्याओं को जानते हैं वे सब मुझमें विद्यमान् हैं ॥२८॥ दुर्योधन के यों कह चुकने पर राजा धृतराष्ट्र फिर सञ्जय से युद्ध के लिए उद्यत पाण्डवों का हाल पूछने लगे ॥२९॥

उद्योगपर्व का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच–तथा तु पृच्छंतमतीव पार्थं वैचित्रवीर्यं तमचिंतयित्वा ।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं प्रहर्षयन्संसदि कौरवाणाम् ॥ १ ॥
मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं रामात्कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात् ।
विज्ञायते नाऽस्मि तदैवमुक्तस्तेनाऽंतकाले प्रतिभाऽस्यतीति ॥ २ ॥
महापराधे ह्यपि यन्न तेन महर्षिणाऽहं गुरुणा च शप्तः ।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः ससागरामप्यवनिं महर्षिः ॥ ३ ॥
प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभूच्छुश्रूषया स्वेन च पौरुषेण ।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं तस्मात्समर्थोऽस्मि ममैष भारः ॥ ४ ॥
निमेषमात्रात्तमृषेः प्रसादमवाप्य पांचालकरूपमत्स्यान् ।
निहत्य पार्थान्सह पुत्रपौत्रैर्लोकानहं शस्त्रजितान्प्रपत्स्ये ॥ ५ ॥
पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे द्रोणश्च सर्वे च नरेंद्रमुख्याः ।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा पार्थान्हनिष्यामि ममैष भारः ॥ ६ ॥
एवं ब्रुवंतं तमुवाच भीष्मः किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे ।
न कर्ण जानासि यथा प्रधाने हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ॥ ७ ॥

बासठवां अध्याय ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विचित्रवीर्य के पुत्र राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से पाण्डवों की बातें पूछ रहे थे। इसी समय सभा के बीच कौरवों को प्रसन्न करने के लिए कर्ण ने दुर्योधन से कहा—मैंने परशुराम से असत्य कहकर, अपने को ब्राह्मण बताकर, ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था। उस समय परशुराम ने मेरा छल जानकर मुझे शाप दिया था कि 'अन्त समय तुझे ब्रह्मास्त्र आदि मेरे दिये सब अस्त्र भूल जायँगे' ॥१।२॥ मेरे भारी अपराध से रूठकर महर्षि ने मुझे इतना ही शाप दिया। वे उग्र तेजवाले महर्षि चाहें तो कुपित होकर सारे पृथ्वीमण्डल को भस्म कर सकते हैं ॥३॥ इसके पश्चात् मैंने सेवा करके और अपना पौरुष दिखाकर उन्हें प्रसन्न कर लिया। हे राजेन्द्र ! अभी मेरा अन्तकाल नहीं आया है, इसी से वे सब अस्त्र अभी तक मुझे स्मरण हैं। इससे मुझे निश्चय है कि मैं अर्जुन को मार लूंगा। अर्जुन को मारने का भार मैं लेता हूं ॥४॥ महर्षि परशुराम की थोड़ी ही कृपा के प्रभाव से मैं पाञ्चाल, करूष, मत्स्य आदि देशों के राजाओं, राजकुमारों और पुत्र-पौत्रों-सहित पाण्डवों को मारकर शस्त्र से जीता हुआ राज्य आपके अर्पण करूंगा ॥५॥ पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और आये हुए सब राजा यहीं आपके पास, बैठे रहें; मैं अकेला अपनी सेना के साथ जाकर ऋषि की दी हुई अस्त्र विद्या के प्रभाव

यत्खांडवं दाहयता कृतं हि कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत्कर्म नियंतुमात्मा युक्तस्त्वया वै सह बांधवेन ॥ ८ ॥
यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते ददौ महात्मा भगवान्महेंद्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ॥ ९ ॥
यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति सदाऽग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पांडुपुत्राभिहतः शरौघैः सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ॥ १० ॥
बाणस्य भौमस्य च कर्ण हंता किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च हंता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ॥ ११ ॥
कर्ण उवाच–असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्तस्तथा च भूयांश्च ततो महात्मा ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किंचित्पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ॥ १२ ॥
न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशांते तु मम प्रभावं द्रक्ष्यंति सर्वे भुवि भूमिपालाः ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच–इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ॥ १४ ॥
सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्रस्तथा स भारं विषहेत कस्मात् ।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात् ॥ १५ ॥

से पाण्डवों को जीत लूंगा ॥६॥ कर्ण की ये बातें सुनकर भीष्म पितामह ने कहा—हे कर्ण! तुम्हारी बुद्धि को काल ने भ्रष्ट कर दिया है, इस से तुम ऐसी अनहोनी बातें कह रहे हो। तुम प्रधान बनते हो; किन्तु क्या तुम यह नहीं जानते कि तुम्हारे मरने पर धृतराष्ट्र के सभी पुत्र मारे जायंगे? इसलिए तुम पहले अपनी ही रक्षा कर लो। खाण्डवदाह के समय श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन ने जो अद्भुत काम कर दिखाया है उसे सुनकर ही तुम्हें अपने अभिमान को दबा लेना चाहिए था, और तुम्हारे भाई-बन्धुओं तथा मित्रों के भी होश ठिकाने हो जाने चाहिएं थे। ॥८॥ इन्द्र ने तुम्हें जो अमोघ शक्ति दी है वह तुम्हारे काम न आवेगी। तुम देख लेना कि श्रीकृष्ण के चक्र से टुकड़े-टुकड़े और भस्म होकर वह शक्ति पृथ्वी पर पड़ी होगी ॥९॥ सर्पमुख के आकारवाले जिन अपने प्रज्वलित बाणों की तुम पूजा करते हो, उन्हें माला पहनाते हो, वे सब अर्जुन के बाणों से कट-कर तुम्हारे साथ ही नष्ट हो जायेंगे ॥१०॥ हे कर्ण! बाणासुर और भौमासुर आदि के मारनेवाले महात्मा श्रीकृष्ण अर्जुन के रक्षक हैं। वे घोर युद्ध में तुम्हारे सरीखे सब प्रधान शत्रुओं को मार गिरावेंगे ॥११॥

तब कर्ण ने कहा—पितामह ने महात्मा श्री-कृष्ण के बारे में जो कुछ कहा सो ठीक है। श्रीकृष्ण उससे भी अधिक श्रेष्ठ हैं। किन्तु पितामह ने मुझे जो कठोर वचन कहे हैं उनका फल सुनो ॥१२॥ मैं अपने शस्त्र रख देता हूँ। पितामह अब मुझे युद्ध में या सभा में कहीं न देखेंगे। हे पितामह! जब संग्राम में आपकी मृत्यु हो जायगी तब पृथ्वी के सब राजा मेरे बल और पराक्रम को देखेंगे ॥१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महायोद्धा कर्ण यह कहकर उसी समय सभा से उठकर अपने घर को चला गया। तब कुरुश्रेष्ठ वीर

आवंत्यकालिंगजयद्रथेषु चेदिध्वजे तिष्ठति वाह्लिके च ।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां सहस्रशश्चाऽयुतशश्च योधान् ॥ १६ ॥
यदैव रामे भगवत्यनिंद्ये ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम् ।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं वैकर्तनस्याऽधमपूरुषस्य ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच–तथोक्तवाक्ये नृपतींद्र भीष्मे निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धिर्दुर्योधनः शांतनवं बभाषे ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

भीष्म ने हसकर कौरवों के सामने कहा—हे दुर्योधन ! सूत-पुत्र कर्ण ने सत्य प्रतिज्ञा की है कि मेरी मृत्यु हुए बिना वह शस्त्र ग्रहण नहीं करेगा। वह समझता है कि मैं (कर्ण) जो कौरवसेना की रक्षा का भार न लूंगा तो भीमसेन व्यूह-रचना करके कौरवसेना के वीरों के सिर काटेंगे और लोकक्षय करेंगे ॥१४।१५॥ सो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं अवन्ति के राजा, कलिङ्ग-नरेश, जयद्रथ और वाह्लीक आदि के सामने नित्य शत्रु सेना के हजारों योद्धाओं के सिर काटूंगा ॥१६॥ नराधम कर्ण ने अपने को ब्राह्मण बताकर भगवान् परशुराम से अस्त्र-विद्या सीखी है सो उस मिथ्यावादी का धर्म और तप उसी समय नष्ट हो चुका है ॥१७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अस्त्र-शस्त्र छोड़कर कर्ण जब चला गया और भीष्म ने ये वाक्य कहे तब मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन भीष्म से बोला ॥१८॥

उद्योगपर्व का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

दुर्योधन उवाच—सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम् ।
कथमेकांततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम् ॥ १ ॥
वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः ।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च ॥ २ ॥
अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा ।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः ॥ ३ ॥
पितामह विजानीषे पार्थेषु विजयं कथम् ।
नाऽहं भवति न द्रोणे न कृपे न च वाह्लिके ॥ ४ ॥

तिरसठवां अध्याय ॥ ६३ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! पाण्डव और हम दोनों ही मनुष्य हैं और एक ही वंश में उत्पन्न हुए हैं। फिर आप केवल पाण्डवों के ही जीतने की आशा क्यों करते हैं ? हम लोग और पाण्डव दोनों ही बल, पराक्रम, अवस्था, बुद्धि, प्रतिभा, शास्त्रज्ञान, योद्धाओं के योग्य अस्त्र-शस्त्र कौशल, फुर्ती आदि सब बातों में समान हैं। फिर आप कैसे जानते हैं कि पाण्डव ही विजयी होंगे ॥१।३॥ मैं आप, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, वाह्लीक या अन्य वीर राजाओं के बल पर पाण्डवों से नहीं युद्ध करूंगा।

अन्येषु च नरेंद्रेषु पराक्रम्य समारभे ।
अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ५ ॥
पांडवान्समरे पंच हनिष्यामः शितैः शरैः ।
ततो राजन्महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च ।
यदा परिकर्षियंति एणेयानिव तंतुना ।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ॥ ७ ॥
पश्यंतस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान् ।
तदा दर्पं विमोक्ष्यंति पांडवाः स च केशवः ॥ ८ ॥
विदुर उवाच—इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥
तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चाऽनुवर्तते ॥ १० ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विंदते महत् ॥ ११ ॥
क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदांतेभ्यः सदा भयम् ।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयंभुवा ॥ १२ ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।

मुझे तो अपने पराक्रम और बाहु बल का भरोसा है। मैं, कर्ण और मेरा भाई दुःशासन, यही तीन मनुष्य तीक्ष्ण बाणों से पाण्डवों को मारकर विजय प्राप्त करेंगे ॥४।५॥ इसके पश्चात् मैं भारी दक्षिणा-वाले अनेक यज्ञ करके गाय, घोड़े, धन, रत्न आदि देकर ब्राह्मणों को प्रसन्न करूँगा। जैसे नदी का प्रवाह बिना माझी की नाव को भँवर में डालकर डुबाता है, या हिरन के बच्चे को फन्दे से बांधकर बधिक सहज ही खींचता है, वैसे ही मेरी सेना के वीर योद्धा अपने बाहुबल से पाण्डवों को पीड़ित करेंगे। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, इन चार अङ्गों से परिपूर्ण मेरी अपार सेना को देखते ही श्रीकृष्ण-सहित पाण्डवों का घमण्ड चूर हो जायगा ॥६।८॥

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजेन्द्र! सिद्धान्त के जाननेवाले वृद्धों और पण्डितों ने कहा है कि इस लोक में, विशेषकर ब्राह्मण के लिए, दमगुण ही सनातन धर्म और परम शुभ है ॥९॥ दमगुणवाला व्यक्ति ही दान, क्षमा और सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वह दमगुण दान, तप, शास्त्रज्ञान और अध्ययन से प्राप्त होता है ॥१०॥ दमगुण उत्तम और पवित्र है। उससे तेज बढ़ता है। पाप नष्ट होने और तेज बढ़ने से पुरुष को ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है ॥११॥ दमगुण से रहित पुरुष राक्षसों के समान सब लोगों के लिए भयानक होते हैं। उन्हीं का

तस्य लिंगं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १३ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इंद्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १४ ॥
अकार्पण्यमसंरंभः संतोषः श्रद्दधानता ।
एतानि यस्य राजेंद्र स दांतः पुरुषः स्मृतः ॥ १५ ॥
कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम् ।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद्दान्तो निषेवते ।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद्दांतस्य लक्षणम् ॥ १६ ॥
अलोलुपस्तथाऽल्पेप्सुः कामानामविचिंतिता ।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दांतः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥
सुवृत्तः शीलसंपन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः ।
प्राप्येह लोके संमानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ १८ ॥
अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ १९ ॥
सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः ।
समुद्र इव गंभीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥ २० ॥
कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवाऽऽस्थाय मोदंते दांताः शमपरायणाः ॥ २१ ॥

दमन करने के लिए विधाता ने क्षत्रियों को उपजाया है ॥१२॥ हे महाराज! चारों आश्रमों के लोगों के लिए इन्द्रियदमन अर्थात् दम ही श्रेष्ठ व्रत है। अब मैं दमगुण-युक्त लोगों के लक्षण कहता हूं, सुनिए ॥१३॥ जिनमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदृष्टि, सत्य, सरलता, इन्द्रियदमन, धैर्य, कोमलता, लोकलज्जा, स्थिरता, उदारता, शान्ति, सन्तोष और श्रद्धा, ये गुण हैं वही पुरुष दमगुणावलम्बी कहे गये हैं। वे काम, क्रोध, लोभ, दर्प, निद्रा, आत्मश्लाघा, अभिमान, ईर्ष्या और शोक के पास नहीं फटकते। जो लोभ से शून्य, कामनाविहीन और समुद्र के समान गम्भीर है वही दमगुणावलम्बी है ॥१४।१७॥

दम धारण करनेवाला पुरुष सदाचारी, सुशील, प्रसन्नचित्त, आत्मतत्त्वज्ञ और पण्डित होता है। उसे इस लोक में सम्मान मिलता और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है ॥१८॥ जिससे कोई नहीं डरता और जो किसी को नहीं डराता वह पक्की समझवाला मनुष्य प्रधान माना जाता है ॥१९॥ जो सब जीवों का हितचिन्तक है वह किसी के भय या उद्वेग का कारण नहीं हो सकता। वह पुरुष प्रज्ञा बुद्धि से सन्तोष पाकर समुद्र की तरह गम्भीर और शान्त रहता है ॥२०॥ दम और शम गुणवाले पुरुष सज्जनों के आचार-व्यवहार के अनुगामी होकर आनन्दित होते हैं ॥२१॥ जो पुरुष ज्ञान से तृप्त और जितेन्द्रिय

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेंद्रियः ।
कालाकांक्षी चरंल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥
शकुनीनामिवाऽऽकाशे पदं नैवोपलभ्यते ।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ॥ २३ ॥
उत्सृज्यैव गृहान्यस्तु मोक्षमेवाऽभिमन्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पंते शाश्वता दिवि ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

होकर कर्म छोड़कर काल की प्रतीक्षा करते हैं वे ब्रह्मपद प्राप्त कर सकते हैं ॥२२॥ जैसे आकाश में पक्षियों की राह नहीं देख पड़ती, वैसे ही ज्ञान-तृप्त पुरुष का मार्ग अलख है ॥२३॥ जो घर-बार छोड़कर मोक्ष की राह पर चलता है उसे स्वर्ग में तेजस्वी लोक प्राप्त होते हैं ॥२४॥

उद्योगपर्व का तिरसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

विदुर उवाच—शकुनीनामिहाऽर्थाय पाशं भूमावयोजयत् ।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥ १ ॥
तस्मिंस्तौ शकुनौ बद्धौ युगपत्सहचारिणौ ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥ २ ॥
तौ विहायसमाक्रांतौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा ।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ॥ ३ ॥
तथा तमनुधावंतं मृगयुं शकुनार्थिनम् ।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद्ददर्शाऽथ कृताह्निकः ॥ ४ ॥
तावंतरिक्षगौ शीघ्रमनुयांतं महीचरम् ।
श्लोकेनाऽनेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥ ५ ॥
विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन्प्रतिभाति मे ।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥ ६ ॥

चौसठवां अध्याय ॥ ६४ ॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! मैंने प्राचीन पुरुषों के मुँह से सुना है कि एक चिड़ीमार ने चिड़ियों को पकड़ने के लिए धरती पर जाल बिछा दिया ॥१॥ एक साथ उड़नेवाले दो पक्षी जब उस जाल में गिरकर फस गये तब वे उस जाल को लेकर एक साथ उड़ गये ॥२॥ यह देखकर चिड़ीमार, को बड़ा दुःख हुआ। वह उनके पीछे दौड़ता हुआ चला जा रहा था ॥३॥ सन्ध्या आदि नित्य कर्म करके आश्रम में बैठे हुए एक मुनि ने यह हाल देखा ॥४॥ आकाश में उड़ रहे दोनों पक्षियों का पीछा

शाकुनिक उवाच—पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम ।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥ ७ ॥
विदुर उवाच—तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः ॥ ८ ॥
तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ ।
उपसृत्याऽपरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा ॥ ९ ॥
एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छंति विग्रहम् ।
तेऽमित्रवशमायांति शकुनाविव विग्रहम् ॥ १० ॥
संभोजनं संकथनं संप्रश्नोऽथ समागमः ।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ ११ ॥
ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते ।
सिंहगुप्तमिवाऽरण्यमप्रधृष्या भवंति ते ॥ १२ ॥
येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते ।
श्रियं ते संप्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ ॥ १३ ॥
धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ १४ ॥
इदमन्यत्प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया ।
श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु ॥ १५ ॥

करनेवाले उस शिकारी को बुलाकर ऋषि ने कहा—चिड़ीमार पक्षी तो आकाश में जाल लिये उड़े जा रहे हैं और तुम पृथ्वी पर उनका पीछा कर रहे हो। यह देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ है ॥५।६॥ चिड़ीमार ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! ये दोनों पक्षी अभी हिल-मिलकर जाल को लिये उड़े जा रहे हैं सही; किन्तु जब इनमें परस्पर क्रुद्ध उठ खड़ा होगा तब ये अवश्य पृथ्वी पर जाल समेत गिर पड़ेंगे और मेरे वश में आ जायँगे ॥७॥ विदुरजी कहते हैं—इसके पश्चात् सचमुच वे पक्षी आपस में क्रुद्ध होने के कारण पृथ्वी पर गिर पड़े और उस चिड़ीमार ने पीछे से पहुँचकर अनजाने में उन्हें पकड़ लिया ॥८।९॥ इसी तरह जो जातिवाले धन आदि के लिए आपस में विरोध करते हैं वे उन झगड़नेवाले पक्षियों की तरह शत्रु के हाथ में पड़कर चौपट हो जाते हैं ॥१०॥ एक साथ भोजन करना, एक साथ वार्तालाप करना, दुख-सुख कहना-सुनना और मिलना, ये जातिवालों के काम हैं। आपस में विरोध करना महामूढ़ता है ॥११॥ जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य बड़े बूढ़ों की सेवा करते हैं वे, सिंह के द्वारा सुरक्षित वन की तरह, दुर्द्धर्ष होते हैं ॥१२॥ जो लगातार धन पाकर भी तृप्त नहीं होते, जिनकी तृष्णा नहीं बुझती, वे मूढ़ [अपने हाथ से] अपनी लक्ष्मी शत्रुओं को दे देते हैं ॥१३॥ जाति के लोग सुलगती हुई लकड़ियों के समान हैं। अलग-अलग रहने से केवल धुआते हैं, परन्तु मिलने

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम् ।
ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजंभकवार्तिकैः ॥ १६ ॥
कुंजभूतं गिरिं सर्वमभितो गंधमादनम् ।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगंधर्वसेवितम् ॥ १७ ॥
तत्राऽपश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम् ।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुंभसंमितम् ॥ १८ ॥
आशीविषै रक्ष्यमाणं कुवेरदयितं भृशम् ।
यत्प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥ १९ ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा ।
इति ते कथयंति स्म ब्राह्मणा जंभसाधकाः ॥ २० ॥
ततः किरातास्तद्दृष्ट्वा प्रार्थयंतो महीपते ।
विनेशुर्विषमे तस्मिन्ससर्पे गिरिगह्वरे ॥ २१ ॥
तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति ।
मधु पश्यति संमोहात्प्रपातं नाऽनुपश्यति ॥ २२ ॥
दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना ।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम् ॥ २३ ॥
एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता ।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ॥ २४ ॥

से प्रज्वलित रहते हैं ॥१४॥ हे राजेन्द्र ! मैंने गन्धमादन पर्वत पर जो देखा है उसका भी वर्णन् करता हूँ । सुनकर जो उचित समझिए सो कीजिए ॥१५॥

एक समय हम लोग किरातों और मन्त्र-यन्त्र-औषध आदि के गुणों को जाननेवाले देवतुल्य ब्राह्मणों के साथ लता-जाल-मण्डित, उज्ज्वल औषधियों से सुशोभित, पवित्र गन्धमादन पर्वत के ऊपर गये थे। सिद्ध और गन्धर्व वहाँ विचर रहे थे ॥१६।१७॥

चलते-चलते हमने मरुप्रपात के दुर्गम स्थान में पीली मक्खियों का लगाया हुआ शहद का छत्ता देखा। वह शहद कुबेर को बहुत प्रिय था। इसी से विषैले सर्प उसकी रक्षा कर रहे थे। उस शहद को खाने से मनुष्य देवता हो जाता है; ॥१८।१९॥ अन्धे को नेत्र मिल जाते हैं और बूढ़ा जवान हो जाता है। मन्त्र जाननेवाले उन ब्राह्मणों ने उस शहद की महिमा ऐसी ही बताई थी ॥२०॥ हमारे साथ के किरात लोग लालच में आकर वह शहद लेने गये और सर्पों से भरे पहाड़ी दर्रे में गिरकर मर गये ॥२१॥ हे महाराज ! वैसे ही आपका पुत्र दुर्योधन मोहवश होकर शहद लेना चाहता है, अर्थात् अकेले ही सारी पृथ्वी का राज्य करने की इच्छा रखता है; किन्तु गिरने की इसे सूचना ही नहीं ॥२२॥ दुर्योधन अर्जुन से युद्ध करना चाहता है, पर मुझे उसमें वैसा तेज या पराक्रम नहीं देख पड़ता ॥२३॥ अर्जुन ने रथ पर बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वी के वीरों को जीत लिया है। भीष्म,

विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम् ।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ॥ २५ ॥
द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः ।
न शेषयेयुः समरे वातयुक्ता इवाऽग्नयः ॥ २६ ॥
अंके कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम् ।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकांतेन भवेज्जयः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४ ॥

द्रोण आदि योद्धा विराट नगर में अर्जुन के आगे से भाग खड़े हुए थे; वह बात क्या आप भूल गये? युद्ध की आशा से ही वीर अर्जुन आपके पक्षपात को सह रहे हैं ॥२४।२५॥ महाराज द्रुपद, राजा विराट और अर्जुन क्रोध के वश होकर वैसे ही सब कौरवों को मार डालेंगे जैसे वायु से बढ़ी हुई अग्नि वन को भस्म कर डालती है। इसलिए मैं फिर कहता हूं कि आप पिता की तरह युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को अपनी गोद में जगह दीजिए। युद्ध करने से 'कौन जीतेगा' यह नहीं कहा जा सकता। इस विचार से भी सन्धि करना ही भला है ॥२६।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का चौसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

अथ पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाऽध्वगः ॥ १ ॥
पंचानां पांडुपुत्राणां यत्तेजः प्रजिहीर्षसि ।
पंचानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ॥ २ ॥
युधिष्ठिरं हि कौंतेयं परं धर्ममिहाऽऽस्थितम् ।
परां गतिमसंप्रेत्य न त्वं जेतुमिहाऽर्हसि ॥ ३ ॥
भीमसेनं च कौंतेयं यस्य नास्ति समो बले ।
रणांतकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ॥ ४ ॥
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव ।
युधि गांडीवधन्वानं को नु युद्धयेत बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

पैंसठवा अध्याय ॥ ६५ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे दुर्योधन पुत्र! तुम मेरा कहा मानो। राह न जाननेवाले बटोही की तरह तुम कुमार्ग को ठीक राह समझ रहे हो। संसार के सिरजनेवाले पचतत्त्व की तरह तेजस्वी पाचों पाण्डवों को तुम तेज से हीन करके मारना चाहते हो, यह तुम्हारी भूल है ॥१।२॥ तुम राजा युधिष्ठिर को कभी नहीं हरा सकोगे; बल्कि तुम्हीं को अपने प्राण गंवाने पड़ेंगे। भीमसेन के समान बलवान् महावीर पुरुष दूसरा नहीं देख पड़ता। वृक्ष जैसे प्रचण्ड आंधी का सामना करने के लिए तैयार हो, वैसे ही

धृष्टद्युम्नश्च पांचाल्यः कमिवाऽद्य न शातयेत् ।
शत्रुमध्ये शरान्मुंचन्देवराडशनीमिव ॥ ६ ॥
सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः संमतोऽन्धकवृष्णिषु ।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पांडवेयहिते रतः ॥ ७ ॥
यः पुनः प्रतिमानेन त्रींल्लोकानतिरिच्यते ।
तं कृष्णं पुंडरीकाक्षं को नु युद्धयेत बुद्धिमान् ॥ ८ ॥
एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबांधवाः ।
आत्मा च पृथ्वी चेयमेकतश्च धनंजयः ॥ ९ ॥
वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पांडवः ।
अविषह्यं पृथिव्याऽपि तद्बलं यत्र केशवः ॥ १० ॥
तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम् ।
वृद्धं शांतनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥ ११ ॥
मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम् ।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च वाह्लिकम् ॥ १२ ॥
एते ह्यपि यथैवाऽहं मंतुमर्हसि तांस्तथा ।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥ १३ ॥
यत्तद्विराटनगरे सहभ्रातृभिरग्रतः ।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥ १४ ॥

तुम भी युद्ध में यमराज-सदृश भीम से युद्ध करने की डींग मार रहे हो ॥३।४॥ कौन बुद्धिमान् पुरुष, पर्वतराज सुमेरु के समान, अद्वितीय योद्धा अर्जुन से युद्ध करेगा ॥५॥ पांचाल देश के राजा के पुत्र धृष्टद्युम्न वज्र-सदृश बाण बरसाकर किसको नहीं मार सकते? ॥६॥ पाण्डवों के हितैषी और यादवों के प्यारे अकेले सात्यकि ही तुम्हारी सारी सेना का नाश कर सकते हैं ॥७॥ त्रिभुवन में अद्वितीय महापुरुष श्रीकृष्ण से कौन युद्ध कर सकता है ॥८॥

अर्जुन उन्हें स्त्री, जाति, बन्धु, पृथ्वी और आत्मा से भी अधिक प्रिय हैं ॥९॥ जहां पाण्डव हैं वहीं दुर्दर्ष और जितेन्द्रिय योगी कृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्ण जिनके सहायक हैं उनके बल को पृथ्वी भर के लोग मिलकर नहीं सह सकते ॥१०॥ हे बेटा! ठीक-ठीक कहनेवाले सज्जन शुभचिन्तकों का कहा मानो; बूढ़े पितामह भीष्म की सम्मति पसन्द करो ॥११॥ कौरवों की भलाई चाहनेवाले मुझ बूढ़े बाप की बात पर ध्यान दो और मेरे समान माननीय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विकर्ण और महाराज वाह्लीक का कहा मानकर उन्हें सम्मानित करो ॥१२।१३॥ विराट नगर में भाइयों सहित तुम गायें छोड़कर अर्जुन के आगे से भाग खड़े हुए थे; तुम्हारे सब सैनिक भी भयभीत होकर सामने से हट गये थे ॥१४॥

सुना जाता है कि वहां अकेले अर्जुन ने बहुत

यच्चैव नगरे तस्मिञ्श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥
अर्जुनस्तत्तथाऽकार्षीत्किं पुनः सर्व एव ते ।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसन्धिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वीरों से युद्ध करके अद्भुत काम किया था। पाडवों के प्रबल और अजेय होने का एक यही उदाहरण बहुत है ॥१५॥ देखो, जब अकेले अर्जुन ने इतना अद्भुत काम कर डाला, तब पांचों पाण्डव मिलकर क्या नहीं कर सकते! इसलिए तुम शीघ्र आधा राज्य देकर अपने भाई पाण्डवों से संधि कर लो॥१६॥

उद्योगपर्व का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम् ।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत ॥ १ ॥
ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनंतरम् ।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥
संजय उवाच—वासुदेववचः श्रुत्वा कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३ ॥
पितामहं शांतनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ ४ ॥
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम् ॥ ५ ॥
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम् ।
विंदानुविंदावावंत्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम् ॥ ६ ॥
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च ।
भगदत्तं च राजानं जलसंधं च पार्थिवम् ॥ ७ ॥

छासठवां अध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब फिर महाबुद्धिमान् धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कहा—हे सञ्जय! श्रीकृष्ण के पश्चात् अर्जुन ने जो कुछ कहा, वह भी मैं सुनना चाहता हूं, कहो ॥१।२॥

सञ्जय ने कहा—कृष्णचन्द्र के वचन सुनकर उनके आगे ही अर्जुन ने मुझसे कहा—हे सञ्जय! पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य कर्ण, वाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, शकुनि, दुःशासन, शल्य, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, जयत्सेन, अवन्तीनरेश विन्द और अनुविन्द, दुर्मुख, सिन्धुराज

ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं समागताः कौरवाणां प्रियार्थम्।
मुमूर्षवः पांडवाग्नौ प्रदीप्ते समानीता धार्त्तराष्ट्रेण होतुम् ॥ ८ ॥
यथान्यायं कौशलं वंदनं च समागता मद्वचनेन वाच्याः ।
इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये सुयोधनं पापकृतां निधानम् ॥ ९ ॥
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं पापात्मानं धार्त्तराष्ट्रं सुलुब्धम् ।
सर्वं ममैतद्वचनं समग्रं सहामात्यं संजय श्रावयेथाः ॥ १० ॥
एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां ततोऽर्थवद्धर्मवच्चापि वाक्यम् ।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य पार्थो धीमाँल्लोहितांतायताक्षः ॥ ११ ॥
यथाश्रुतं ते वदतो महात्मनो मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम् ।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः ॥ १२ ॥
शराग्निधूमे रथनेमिनादिते धनुःस्रुवेणाऽस्त्रबलप्रसारिणा ।
यथा न होमः क्रियते महामृधे समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः ॥ १३ ॥
न चेत्प्रयच्छध्वममित्रघातिनो युधिष्ठिरस्यांऽशमभीप्सितं स्वकम् ।
नयामि वः साश्वपदातिकुंजरान्दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ॥ १४ ॥
ततोऽहमामंत्र्य तदा धनंजयं चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः ।
जवेन संप्राप्त इहाऽमरद्युते तवांऽतिकं प्रापयितुं वचो महत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

जयद्रथ, भूरिश्रवा, भगदत्त—जलसन्ध, दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के सब पुत्र—और मरने के लिए अन्य जो राजा जल रही पाण्डवरूपी अग्नि में स्वाहा करने के लिए बुलाये गये हैं, उन सबसे मेरा यथोचित प्रणाम, कुशल प्रश्न और अभिवादन कहना। फिर सब राजाओं के आगे पापपरायण क्रोधी दुर्बुद्धि लोभी दुर्योधन और उसके मन्त्रियों से यह कहना ॥३।१०॥

हे राजेन्द्र! यह कहते-कहते क्रोध से अर्जुन के नेत्र लाल हो उठे। उन्होंने श्रीकृष्ण की ओर देखकर मुझसे कहा—हे सञ्जय! तुमने जो बातें श्रीकृष्ण के मुँह से सुनी हैं और जो बातें मैंने तुमसे कही हैं वे सब ठीक इसी तरह सब राजाओं के आगे दुर्योधन से कहना ॥११।१२॥ और यह भी कह देना कि ऐसा यत्न करो जिससे हम युद्ध में रथों की ध्वनि से शब्दायमान बाणरूपी अग्नि में, धनुषरूपी स्रुवा के द्वारा, सब लोग स्वाहा न हों ॥१३॥ युधिष्ठिर को उनका भाग दे दो। जो ऐसा न करोगे तो मैं बहुत शीघ्र तेज़ बाणों की मार से असंख्य पैदल, घोड़े, हाथी, रथ आदि सहित तुम लोगों को यमपुरी भेज दूँगा ॥१४॥ हे राजेन्द्र! इसके पश्चात् मैं श्रीकृष्ण और अर्जुन को प्रणाम करके, उनसे विदा होकर, आपको इन बातों की सूचना देने के लिए यहां को चल दिया ॥१५॥

—०—

उद्योगपर्व का छाछठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच—दुर्योधने धार्त्तराष्ट्रे तद्वचो नाऽभिनंदति ।
तूष्णींभूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥
उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु ।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ २ ॥
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः ।
आत्मनश्च परेषां च पांडवानां च निश्चयम् ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु स्वसेनायां यावदिहाऽस्ति किंचित् ।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ॥४॥
त्वमेतयोः सारवित्सर्वदर्शी धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः ।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं युध्यमानाः कतरेऽस्मिन्न संति ॥ ५ ॥
संजय उवाच—न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचिदसूया हि त्वां प्रविशेत राजन् ।
आनयस्व पितरं महाव्रतं गांधारीं च महिषीमाजमीढ ॥ ६ ॥
तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेंद्र धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ ।
तयोस्तु त्वां सन्निधौ तद्वदेयं कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तेन च गांधारी व्यासश्चाऽत्राऽऽजगाम ह ।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ॥ ८ ॥

सड़सठवाँ अध्याय ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा दुर्योधन ने जब सञ्जय की बातों का अनुमोदन नहीं किया और सब चुप हो गये तब राजा लोग सभा से उठकर अपने-अपने स्थान को चले गये। अब पुत्र के अधीन और उसकी जीत चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र चिन्तित होकर एकान्त में सञ्जय से अपने पक्ष का, पाण्डवपक्ष का और उदासीन लोगों का बल और निश्चय पूछने लगे ॥१।३॥ धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! हमारी सेना में कौन योद्धा श्रेष्ठ है और कौन निकृष्ट है, सो तुम अच्छी तरह जानते हो। पाण्डवों का हाल भी तुमको सब कुछ मालूम है। बताओ, पाण्डवों में कौन हमारे पक्ष से श्रेष्ठ है और कौन निकृष्ट है ? तुम दोनों दलों की शक्ति को जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्मार्थ में चतुर और सिद्धान्त-तत्त्व के ज्ञाता हो। इसी कारण मैं तुमसे पूछता हूँ कि पाण्डवों और कौरवों का युद्ध होने पर किस पक्ष का नाश होगा ? ॥४।५॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! मैं एकान्त स्थान में कोई ऐसी बात आपसे न कहूँगा; क्योंकि पाण्डव-पक्ष की प्रबलता सुनकर आपके मन में डाह उत्पन्न हो सकती है। इसलिए महातपस्वी व्यासदेव और रानी गान्धारी को यहाँ बुला लीजिए ॥६॥ वे दोनों धर्मात्मा, धर्म के जानकार, निपुण और सिद्धान्त के ज्ञाता हैं। वे आपके मन से डाह के भाव को मिटा सकते हैं। मैं उनके आगे ही आप से अर्जुन और श्रीकृष्ण का मत कहूँगा ॥७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह सुनकर विदुर तुरन्त ही गान्धारी और व्यासजी को वहाँ ले आये ॥८॥ गान्धारी

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्याऽऽत्मजस्य च ।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
व्यास उवाच–संपृच्छते धृतराष्ट्राय संजय आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुंक्ते ।
सर्वं यावद्वेत्थ तस्मिन्यथावद्याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगांधार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

सहित व्यासदेव ने सभा में आ करके, धृतराष्ट्र और संजय के मत को जानकर, कहा—हे संजय ! तुम श्रीकृष्ण और अर्जुन का सब हाल जानते हो। धृतराष्ट्र उस बारे में जो पूछें वह उन्हें सुनाओ ॥९।१०॥

उद्योगपर्व का सड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

अथ षष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

संजय उवाच—अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ ।
कामादन्यत्र संभूतौ सर्वभावाय संमितौ ॥ १ ॥
द्यामांतरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः ।
चक्रं तद्वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ॥ २ ॥
सापह्नवं कौरवेषु पांडवानां सुसंमतम् ।
सारासारबलं ज्ञातुं तेजः पुंजावभासितम् ॥ ३ ॥
नरकं शंबरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः ।
जितवान्घोरसंकाशान्क्रीडन्निव महाबलः ॥ ४ ॥
पृथिवीं चांऽतरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः ।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ॥ ५ ॥
भूयो भूयो हि यद्राजन्पृच्छसे पांडवान्प्रति ।
सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे शृणु ॥ ६ ॥
एकतो वा जगत्कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः ।

अड़सठवां अध्याय ॥ ६८ ॥

संजय ने कहा—हे महाराज ! परम पूजनीय और श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन और श्रीकृष्ण अपनी इच्छा से पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं। वे दोनों वीर सब कुछ कर सकते हैं ॥१॥ श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र का भीतरी घेरा पांच हाथ का है। किन्तु जब उसे वे चलाते हैं तब उनकी माया से वह इच्छानुसार अलक्ष्य भाव से बढ़ जाता है ॥२॥ वह चक्र पाण्डवों की रक्षा और कौरवों का संहार करनेवाला है। वह सबका बलाबल जानने के लिए बनाया गया है और तेज रूप जान पड़ता है ॥३॥ महाबली श्रीकृष्ण ने घोर पराक्रमी नरकासुर, शम्बरासुर, कंस और शिशुपाल आदि को सहज ही जीत लिया है। महाबली श्रीकृष्ण इच्छामात्र से पृथ्वी, स्वर्ग और आकाश के निवासियों को जीतकर अपने अधीन कर सकते हैं ॥४।५॥

हे राजेन्द्र ! आप पाण्डवों का बलाबल जानने के लिए जो बार-बार पूछ रहे हैं वह मैं संक्षेप में

सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥
भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ ८ ॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविंदो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥
पृथिवीं चांऽतरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः ।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ १० ॥
स कृत्वा पांडवान्सत्रं लोकं संमोहयन्निव ।
अधर्मनिरतान्मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥ ११ ॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
आत्मयोगेन भगवान्परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥
कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च ।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः ।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥
तेन वंचयते लोकान्मायायोगेन केशवः ।
ये तमेव प्रपद्यंते न ते मुह्यंति मानवाः ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

कहता हूं ॥६॥ जगत् में जितने बली पुरुष हैं उन सबसे श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं। एक ओर सब जगत् हो और एक ओर श्रीकृष्ण हों तो वही श्रेष्ठ होंगे ॥७॥ वे इच्छामात्र से सब जगत् को भस्म कर सकते हैं, किन्तु सारा जगत् मिलकर भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिधर सत्य, धर्म, सरलता और लोकलज्जा का भाव है उधर ही श्रीकृष्ण हैं और जिधर श्रीकृष्ण हैं उसी पक्ष की जीत होना निश्चित है। सब प्राणियों के आत्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सहज ही पृथ्वी, आकाश और स्वर्गलोक को सञ्चालित करते हैं ॥८।१०॥ वही श्रीकृष्ण पाण्डवों के द्वारा तुम्हारे अधर्मी मूढ़ पुत्रों को मारना चाहते हैं। सब लोग श्रीकृष्ण की माया में मोहित रहते हैं ॥११॥ वे अपने योगबल से कालचक्र, संसारचक्र और युगचक्र को दिन-रात घुमाते रहते हैं ॥१२॥ मैं आपसे सत्य कहता हूं, भूतभावन श्रीकृष्ण कालरूप, मृत्युरूप और चराचर के ईश्वर हैं ॥१३॥ किसान जैसे अन्न के पौदों को बढ़ाकर फिर काटता है, वैसे ही महायोगी कृष्णचन्द्र इस संसार के प्रतिपालक होकर भी यथासमय सबका संहार करते हैं ॥१४॥ वही अपनी माया के प्रभाव से सबको मोहित करते हैं; किन्तु जो मनुष्य उनकी शरण में जाते हैं—उपासना करते हैं—वे कभी मोहित नहीं होते ॥१५॥

—०—

उद्योगपर्व का अड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

अथ ऊनसप्ततितमोऽध्याय ॥ ६९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम् ।
कथमेनं न वेदाऽहं तन्ममाऽऽचक्ष्व संजय ॥ १ ॥
सञ्जय उवाच—शृणु राजन्न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाऽभिजानाति केशवम् ॥ २ ॥
विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्यं जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥ ४ ॥
सञ्जय उवाच—मायां न सेवे भद्रं ते वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम् ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ॥ ६ ॥
दुर्योधन उवाच—भगवान्देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाऽहं गच्छेऽद्य केशवम् ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अवाग्गांधारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ॥ ८ ॥

उनहत्तरवा अध्याय ॥ ६९ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! सब लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण की यह महिमा तुमको कैसे मालूम हुई? मैं क्यों उनको नहीं पहचान सकता? मुझे बतलाओ ॥१॥ सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र! आप विद्या (ज्ञान) से हीन हैं और मुझमें विद्या है। विद्या से हीन और विषयों के अंधेरे में पड़ा हुआ पुरुष श्रीकृष्ण के रूप को नहीं जान सकता। तीनों युगों में अवतार लेनेवाले, सबके कर्ता और स्वयंभू, सब प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश के कारण-स्वरूप कृष्णचन्द्र को मैं विद्या के द्वारा जानता हूं ॥२।३॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे सञ्जय! तुमने जिस भक्ति या विद्या के प्रभाव से कृष्णचन्द्र को जाना है वह कैसी है? उसका क्या स्वरूप है? ॥४॥ सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र! आपका कल्याण हो। मैं माया से अलग रहकर ईश्वर-भक्तिहीन वृथा-धर्म का आचरण नहीं करता। भक्ति के साथ विशुद्ध भाव से शास्त्रों के द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा मैंने जानी है ॥५॥

तब धृतराष्ट्र ने फिर दुर्योधन से कहा—हे बेटा दुर्योधन! सञ्जय हमारे बड़े शुभचिन्तक हैं। तुम शीघ्र जगदीश्वर श्रीकृष्ण की शरण में जाकर अपने भले के लिए उन्हें प्रसन्न करो ॥६॥ दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी! देवकी नन्दन श्रीकृष्ण यदि अर्जुन की मित्रता के विचार से तीनों लोकों का नाश करने के लिए तैयार हों तो भी मैं अब उनकी शरण में न जाऊंगा ॥७॥ तब धृतराष्ट्र ने रानी से कहा—हे गान्धारी! तुम्हारा दुर्मति बेटा दुर्योधन डाह करनेवाला और

गांधार्युवाच—ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन्वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ॥ ९ ॥
वर्धयन्दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्ताऽसि वचनं पितुः ॥ १० ॥
व्यास उवाच—प्रियोऽसि राजन्कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ॥ ११ ॥
जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमैकाग्र्यं मोक्ष्यते महतो भयात् ॥ १२ ॥
वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्येन तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ १३ ॥
यमस्य वशमायांति काममूढाः पुनः पुनः ।
अंधनेत्रा यथैवांऽधा नीयमानाः स्वकर्मभिः ॥ १४ ॥
एष एकायनः पंथा येन यांति मनीषिणः ।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ॥ १५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अंग संजय मे शंस पंथानमकुतोभयम् ।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
संजय उवाच—नाऽकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नाऽन्यत्रेंद्रियनिग्रहात् ॥ १७ ॥

अभिमानी है; यह किसी के उपदेश को नहीं मानता। इसलिए यह शीघ्र ही मरना चाहता है ॥८॥

अब गान्धारी ने दुर्योधन से कहा—अरे दुष्ट! तू बड़े बूढ़ों के उपदेश को न मानकर ऐश्वर्य, जीवन और पिता-माता को छोड़कर शत्रुओं को प्रसन्न और मुझे शोक से विह्वल करने के लिए तैयार है। जब भीम की गदा की चोट से तेरे प्राण निकल जायँगे तब तुझे पिता का समझाना स्मरण आवेगा ॥९।१०॥

व्यासदेव ने कहा—हे धृतराष्ट्र! तुम मुझे बहुत प्रिय हो। इसलिए मैं श्रीकृष्ण की महिमा तुमसे कहता हूं। तुम एकाग्र होकर सुनोगे तो इस आनेवाले सङ्कट से छुटकारा पा जाओगे। तुम्हारे दूत सञ्जय, जो तुम्हें कल्याण की राह बता रहे हैं, श्रीकृष्ण को अच्छी तरह जानते हैं ॥११।१२॥ हे धृतराष्ट्र! जो पुरुष हर्ष और क्रोध के वशीभूत और काम क्रोध आदि बन्धन में बँधे होने के कारण अपने धन से सन्तुष्ट नहीं हैं, वे कामना से मूढ़ पुरुष अपने कर्मों के द्वारा उसी तरह बारम्बार यमपुर को जाते हैं जिस तरह अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धे गढ़े आदि में गिरते हैं ॥१३।१४॥ यह ज्ञान ही ब्रह्मलाभ या मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। बुद्धिमान् लोग इसी राह पर चलते हैं। इसी राह पर चलने से उनको मृत्यु का भय नहीं रहता। महापुरुष काम-क्रोध-शोक आदि में नहीं फसते ॥१५॥ धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! मैं जिस अभय मार्ग पर चलकर श्रीकृष्ण को जान सकूं और उत्तम सिद्धि पासकूं वह मार्ग मुझे बताओ ॥१६॥

इंद्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ १८ ॥
इंद्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतंद्रितः ।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ॥ १९ ॥
एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिंद्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पंथाश्च येन यांति मनीषिणः ॥ २० ॥
अप्राप्यः केशवो राजन्निंद्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद्योगाद्वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये ऊनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! मन को जिसने नहीं मारा वह पुरुष सिद्धेश्वर योगिराज कृष्ण को नहीं जान सकता। इन्द्रिय-दमन के बिना केवल यज्ञ आदि करके उन्हें प्राप्त करना असम्भव है ॥१७॥ इन्द्रिय-दमन, सावधानी और अहिंसा का भाव, इन्हीं से ज्ञान प्राप्त होता है।१८।इसलिए आप आलस्य छोड़कर इन्द्रिय-दमन का उपाय कीजिए। आप अपनी बुद्धि को भ्रष्ट न होने दीजिए और इन्द्रियों को वशमें कीजिए ॥१९॥ ब्राह्मणों का कहना है कि इन्द्रिय दमन ही ज्ञान है। बुद्धिमान् लोग इसी ज्ञान मार्ग पर चलते हैं।२०।हे राजेन्द्र! इन्द्रिय-दमनके बिना कभी कृष्णचन्द्र नहीं मिल सकते। शास्त्रज्ञान और योगाभ्यास से ही प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण भगवान् हृदय में अपना ज्ञान देने की कृपा करते हैं ॥२१॥

उद्योगपर्व का उनहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

धृतराष्ट्र उवाच— भूयो मे पुंडरीकाक्षं संजयाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ।
नामकर्मार्थवित्तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥
संजय उवाच— श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत्तत्राऽभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥ २ ॥
वसनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद्विष्णुरुच्यते ॥ ३ ॥

सत्तरवां अध्याय ॥ ७० ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! तुम फिर मुझसे श्रीकृष्ण के नाम और कर्म कहो। जिन्हें, जानकर मैं उन पुरुषोत्तम को पा सकूं॥१॥ सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! यद्यपि श्रीकृष्ण के नाम और गुण असंख्य हैं तथापि जो कुछ उनके नाम और गुण मुझे मालूम हैं, सो मैं आपको सुनाता हूं ॥२॥ वे सब प्राणियों के आश्रयरूप, तेजोमय और देव-योनि हैं, इसी से उनका नाम वासुदेव है। वे सर्वव्यापी हैं, इसलिए उन्हें विष्णु कहते हैं ॥३॥ वे मुनि के कर्म मनन, ध्यान और योग के प्रभाव से 'मा' अर्थात् आत्माकी उपाधि को दूर कर देते हैं, अथवा मनन और ध्यान का विषय हैं, इस से उनका नाम माधव है। सब तत्त्व उन्हीं में लीन

मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।
सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥ ४ ॥
कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ ५ ॥
पुंडरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
तद्भावात्पुंडरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥
यतः सत्वान्न च्यवते यच्च सत्वान्न हीयते ।
सत्वनः सात्वतस्तस्मादार्षभादृषभेक्षणः ॥ ७ ॥
न जायते जनित्राऽयमजस्तस्मादनीकजित् ।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद्दमाद्दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥
हर्षात्सुखात्सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥
अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः ।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
पूरणात्सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात्सर्वमेतं प्रचक्षते ।
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥

हो जाते हैं, अथवा उन्होंने मधु दैत्य को मारा है, इससे उनको मधुहा और मधुसूदन कहते हैं ॥४॥ कृषि शब्दका अर्थ पृथ्वी है और ण शब्द का अर्थ आनन्द है। भूमिलोक के जीवों को आनन्द देने के कारण वे कृष्ण कहलाते हैं ॥५॥ पुण्डरीक का अर्थ परम धाम है और अक्ष शब्द का अर्थ अक्षय है । परम धाम या हृदय-कमल में रहकर अविनाशी होने के कारण उन्हें पुण्डरीकाक्ष कहते हैं। दस्यु लोगों को मारनेवाले होने के कारण उनका नाम जनार्दन है ॥६॥ वे सत्व से हीन नहीं होते, इसी से उनका नाम सात्वत है। वृषभ अर्थात् धर्म या वेद से ज्ञात होने के कारण उन्हें वृषभेक्षण कहते हैं ॥७॥ किसी के गर्भ से उत्पन्न न होने के कारण वे अज कहलाते हैं। दाम अर्थात् दमयुक्त और उदर अर्थात् प्रकाशयुक्त होने के कारण उनका नाम दामोदर है ॥८॥ हृष्ट, सुखी और ऐश्वर्यशाली होने के कारण वे हृशीकेश कहे जाते हैं । दोनों बाहुओं से पृथ्वी और अन्तरिक्ष को धारण करने के कारण उनका नाम महाबाहु है ॥९॥ उनका अधः पतन नहीं है, इसी से उन्हें अधोक्षज कहते हैं। नरों का आश्रय होने के कारण उनका नाम नारायण है । ॥१०॥ सब प्राणियों के कार्य पूर्ण करनेवाले और उनका निवासस्थान होने के कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं । वे सबकी उत्पत्ति और लय का स्थान और सर्वज्ञ होने के कारण सर्व नाम से प्रसिद्ध हैं ॥११॥

वे धर्म में स्थित हैं और धर्म उनमें स्थित है, इसी से उनका नाम सत्य है ॥१२॥ सर्वत्र व्याप्त

सत्यात्सत्यं तु गोविंदस्तस्मात्सत्योऽपि नामतः ।
विष्णुर्विक्रमणाद्देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनंतश्च गोविंदो वेदनाद्गवाम् ।
अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥
एवंविधो धर्मनित्यो भगवान्मधुसूदनः ।
आगंता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युत ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

रहने से विष्णु और विजयी होने के कारण उन्हें जिष्णु कहते हैं ॥ १३ ॥ शाश्वत होने के कारण अनन्त और इन्द्रियों के प्रकाशक होने से वे गोविन्द कहलाते हैं। वे अतत्त्व (मिथ्या) को तत्त्वरूप और तत्त्व (सत्य) को अतत्त्वरूप किये हुए हैं, इसी से लोग मोह में पड़े हुए हैं ॥१४॥ ऐसे धर्मनिष्ठ सनातन भगवान् मधुसूदन कौरवों पर कृपा करके सन्धि का प्रस्ताव लेकर आवेंगे ॥१५॥

उद्योगपर्व का सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

अथ एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच–चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय द्रक्ष्यंति ये वासुदेवं समीपे ।
विभ्राजमानं वपुषा परेण प्रकाशयंतं प्रदिशो दिशश्च ॥ १ ॥
ईरयंतं भारतीं भारतानामभ्यर्चनीयां शंकरीं सृंजयानाम् ।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिंद्यां परासूनामग्रहणीयरूपाम् ॥ २ ॥
समुद्यंतं सात्वतमेकवीरं प्रणेतारमृषभं यादवानाम् ।
निहंतारं क्षोभणं शात्रवाणां मुष्णंतं च द्विषतां वै यशांसि ॥ ३ ॥
द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम् ।
ब्रुवंतं वाचमनृशंसरूपां वृष्णिश्रेष्ठं मोहयंतं मदीयान् ॥ ४ ॥
ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम् ।

इकहत्तरवां अध्याय ॥ ७१ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! मैं आंखों वाले लोगों की तरह नेत्रयुक्त होने की इच्छा करता हूं [कि मेरे भी नेत्र क्यों नहीं हुए]। वे लोग अपने पास ही श्रेष्ठ शरीर से शोभायमान और सब दिशाओं को प्रकाशित कर रहे श्रीकृष्ण के दर्शन पावेंगे ॥१॥ वे देखेंगे कि कृष्णचन्द्र कुरुवंश के लिए पूजनीय, पाण्डवों के लिए कल्याणकारी अनिन्दित, जय की इच्छा रखनेवालों के लिए ग्रहण करने योग्य और मृत्यु के मुख में पड़े हुए लोगों के लिए अस्वीकार के अयोग्य उपदेश दे रहे हैं ॥२॥

उदयशील, यादवश्रेष्ठ, अद्वितीय वीर, यादवों के नेता, शत्रुपक्ष के नाशक, उन्हें क्षोभ पहुंचानेवाले, शत्रुओं के यश का नाश करनेवाले, महात्मा शत्रुहन्ता, श्रेष्ठ कोमल वचन कह रहे, मेरे पुत्रों को मोह में डाल रहे यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण को कौरव लोग देखेंगे ॥३।४॥ ऋषि, सनातनतम, विवेकी, वाणी

अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥ ५ ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादिमध्यांतमनंतकीर्तिम् ।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं परं परेषां शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम् ।
नराधिपानां विदुषां प्रधानमिंद्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥
समाप्तं च यानसंधिपर्व ।

के सागर, यतिश्रेष्ठ, अरिष्टनेमि, गरुड, सुपर्ण, हरि, प्रजापति, सृष्टिकर्ता, सहस्रमस्तक, पुराण पुरुष, आदि मध्य-अनन्त से रहित, अनन्तकीर्ति, शुक्र के धाता, अज, नित्य श्रीकृष्ण की मैं शरण में हूं। त्रैलोक्यनिर्माता, वरदायक, देवता-असुर नाग-राक्षस-राजा और विद्वान् लोगों के प्रधान, इन्द्र के छोटे भाई श्रीकृष्ण की मैं शरण हूं।५।७।

उद्योगपर्व का इकहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

अथ भगवद्यानपर्व ।
अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

वैशम्पायन उवाच—संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ॥ १ ॥
अयं स कालः संप्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत् ॥ २ ॥
त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम् ।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुंक्ष्महे ॥ ३ ॥
यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम ।
तथा ते पांडवा रक्ष्याः पाह्यस्मान्महतो भयात् ॥ ४ ॥
श्रीभगवानुवाच—अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यत्त्वं वक्ष्यसि भारत ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—श्रुतं ते धार्तराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।

बहत्तरवां अध्याय ॥ ७२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! संजय के लौट जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने यदुकुल श्रेष्ठ श्रीकृष्ण से कहा—हे मित्र-वत्सल! अब समय आ गया है कि मित्र मेरी सहायता करें। हमें इस आपत्ति से उबारनेवाला आपके सिवा और कोई नहीं देख पड़ता। आपके भरोसे पर ही हम वृथा-गर्वित दुर्योधन से अपना भाग ले लेने की आशा रखते हैं। जिस तरह आपत्ति के समय आप यादवों को उबारते हैं उसी तरह पाण्डवों की भी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। इसलिए पाण्डवों को भी [illegible] विपत्ति से

एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ॥ ६ ॥
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्याऽऽत्मा विवृतांतरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ७ ॥
अप्रदानेन राज्यस्य शांतिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ८ ॥
यत्तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु व्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन्धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाऽहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ॥ १० ॥
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नाऽनुपश्यति ।
वश्यत्वात्पुत्रगृद्धित्वान्मंदस्याऽन्वेति शासनम् ॥ ११ ॥
सुयोधनमते तिष्ठन्राजाऽस्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन्हि प्रियमात्मनः ॥ १२ ॥
इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ १३ ॥
काशिभिश्चेदिपांचालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पंच ग्रामा वृता मया ॥ १४ ॥
अविस्थलं वृकस्थलं माकंदी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविंद किंचिदेवाऽत्र पंचमम् ॥ १५ ॥

उधार लीजिए ॥१४॥ श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहु ! मैं तैयार हूं । जो कहना हो, सो कहिए । आप जो आज्ञा देंगे उसे मैं अवश्य पूर्ण करूंगा ॥५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे वीर ! धृतराष्ट्र और दुर्योधन की आशा तो आपको मालूम हो गई । संजय ने जो कहा वह धृतराष्ट्र का ही मत है । संजय आत्मा की तरह धृतराष्ट्र के हृदय का हाल जानते हैं । विशेषकर दूत प्रभु की आज्ञा के अनुसार ही प्रस्ताव किया करते हैं । ऐसा न करें, अपनी ओर से कुछ कहें-सुनें तो उन्हें वध का दण्ड दिया जा सकता है ॥६।७॥ पक्षपात के कारण लोभ और पाप की ओर झुककर, हमें राज्य बिना दिये ही वे शान्ति बनाये रखना चाहते हैं । यह कार्य उनके अयोग्य है ॥८॥ हमने यह समझकर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के कष्ट सहे कि चौदहवें वर्ष हमें हमारा राज्य मिल जायगा; धृतराष्ट्र सत्य से नहीं हटेंगे । ब्राह्मण इसके साक्षी हैं कि हमने अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी ॥९।१०॥ दुर्बुद्धि लोगों के अनुगामी और पुत्रस्नेह के अधीन राजा धृतराष्ट्र इस समय अपने धर्म की ओर नहीं देखते । उलटे दुर्योधन के लाभ के लिए लोभ में पड़कर बेईमानी करना चाहते हैं । मेरे लिए इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात और क्या होगी कि मैं अपनी माता और आत्मीय लोगों को सुखी नहीं बना सकता । अभी

पंच नस्तात दीयंतां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥ १६ ॥
न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वाऽसावतो दुःखतरं नु किम् ॥ १७ ॥
कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहंति प्रज्ञा हंति हता ह्रियम् ॥ १८ ॥
ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हंति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हंति पुरुषस्याऽधनं वधः ॥ १९ ॥
अधनाद्धि निवर्तंते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद्वृक्षाद्यथा कृष्ण पतत्रिणः ॥ २० ॥
एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव ।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवाऽसवः ॥ २१ ॥
नाऽतः पापीयसीं कांचिदवस्थां शंबरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाऽद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥
धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवंति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३ ॥
ये धनादपकर्षंति नरं स्वबलमास्थिताः ।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नंति नरं च तम् ॥ २४ ॥

कष्ट पा रहे हैं ॥११।१३॥ हे मधुसूदन! काशिराज, चेदिराज, पांचालराज, मत्स्यराज और आप ऐसे सहायकों के रहते भी मैंने युद्ध टालने के लिए केवल अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और एक कोई और, ये पांच गांव लेकर ही सन्धि करने का प्रस्ताव किया था ॥१४॥ मैंने कहा था—हे चाचाजी! हमें केवल पांच गांव या नगर दे दीजिए, वहां हम पांचों भाई रहेंगे; हमारे भरतवंश का विनाश न हो ॥१५।१६॥ दुर्मति दुर्योधन अपने को समर्थ और स्वामी समझकर उस पर भी नहीं प्रसन्न होता; इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी? ॥१७॥

जो व्यक्ति अच्छे कुल में उत्पन्न और ज्ञानी होकर भी लोभ-वश पराया धन हर लेना चाहे तो वह लोभ उसके ज्ञान को हर लेता है ॥१८॥ ज्ञान नष्ट होने पर लोकलज्जा जाती रहती है तब मनुष्य श्री-हीन हो जाता है। श्री-हीन होने पर उसका विनाश भी हो जाता है ॥१९॥ फूल फल से शून्य पेड़ को जैसे पक्षी छोड़ जाते हैं वैसे ही जातिवाले, ब्राह्मण और मित्र निर्धन पुरुष को छोड़ देते हैं ॥२०॥ मुर्दे को जैसे प्राण छोड़ जाते हैं वैसे ही जातिवाले पतित की तरह मुझे छोड़ जाते हैं, यही मेरे लिए मृत्यु के बराबर है ॥२१॥ शम्बासुर ने कहा है कि जब प्रातः खाने का ठिकाना न हो तब से बढ़कर क्लेश तथा दुःख की घड़ी नहीं हो सकती ॥२२॥ धन ही परम धर्म है; क्योंकि धन से ही धर्म और अन्य सब काम होते हैं। संसार में निर्धन पुरुष ही मृत

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः ।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ २५ ॥
उन्मादमेके पुष्यंति यांत्यन्ये द्विषतां वशम् ।
दास्यमेके च गच्छंति परेषामर्थहेतुना ॥ २६ ॥
आपदेवाऽस्य मरणात्पुरुषस्य गरीयसी ।
श्रियो विनाशस्तद्धयस्य निमित्तं धर्मकामयोः ॥ २७ ॥
यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत् ।
समंतात्सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ॥ २८ ॥
न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥ २९ ॥
स तदाऽऽत्मापराधेन संप्राप्तो व्यसनं महत् ।
सेंद्रान्गर्हयते देवान्नाऽऽत्मानं च कथंचन ॥ ३० ॥
न चाऽस्य सर्वशास्त्राणि प्रभवंति निवर्हणे ।
सोऽभिक्रुद्धयति भृत्यानां सुहृदश्चाऽभ्यसूयति ॥ ३१ ॥
तत्तदा मन्युरेवैति स भूयः संप्रमुह्यति ।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥ ३२ ॥
पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ॥ ३३ ॥
न चेत्प्रबुद्धयते कृष्ण नरकायैव गच्छति ।

है और धनी लोग जीवित हैं ॥२३॥ जो लोग बलपूर्वक दूसरे का धन हरते हैं वे उस मनुष्य को और उसके धर्म-अर्थ-काम को मिट्टी में मिला देते हैं। ॥२४॥ निर्धनता से पीड़ित होकर अनेक प्राणी प्राण छोड़ चुके हैं, सैकड़ों मनुष्य नगर छोड़कर गांव को और गांव छोड़कर वन को चले गये हैं। कोई ज्ञान देने के लिए देश से निकलकर वन को चले गये हैं ॥२५॥ इसी अवस्था में कोई पागल हो गये हैं, किसी ने शत्रु की अधीनता स्वीकार कर ली है और कोई पापी पेट पालने के लिए सेवक बन गये हैं ॥२६॥ जीव स्वभाव से ही मरणधर्मा है। यह मृत्यु उसके टाले नहीं टल सकती जो एक समय हर एक मनुष्य के प्राण हर लेती है। मृत्यु एक सनातन लोकमार्ग है ॥२७।२८॥ हे कृष्णचन्द्र! जन्म के ही निर्धन पुरुष को निर्धनता से उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना सुख के योग्य पुरुष को मिली हुई लक्ष्मी छिन जाने से कष्ट मिलता है ॥२९॥ अपने ही दोष से निर्धनता के कष्ट में पड़ा हुआ पुरुष इन्द्र आदि देवताओं को दोष देता है, अपने को दोष नहीं देता ॥३०॥ उसके दुःख को शास्त्र का ज्ञान भी नहीं मिटा सकता। निर्धन पुरुष कभी नौकरों पर अप्रसन्न होता है और कभी डाह के मारे मित्रों को दोष लगाता है ॥३१॥ इसी तरह क्रोध के वश होने के कारण बारम्बार मोहग्रस्त और मोह से विवश

तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥
प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवाऽन्ववेक्षते ।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरंगमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान्हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ।
श्रीमान्स यावद्भवति तावद्भवति पूरुषः ॥ ३६ ॥
धर्मनित्यः प्रशांतात्मा कार्ययोगवहः सदा ।
नाऽधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
नाऽस्याऽधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः॥ ३८ ॥
ह्रीमानवति देवांश्च पितृनात्मानमेव च ।
तेनाऽमृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥
तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन ।
यथा राज्यात्परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ॥ ४० ॥
ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् ।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥ ४१ ॥
तत्र नः प्रथमः कल्पो यद्वयं ते च माधव ।
प्रशांताःशमभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ ४२ ॥

होकर वह अनुचित कार्य करने को उद्यत हो जाता है ॥३२॥ अन्त को पाप के वश होकर जाति-विद्रोह का उद्योग करता है। जातिनाश और वर्णसङ्कर नरक-गति का प्रधान कारण और महापाप है ॥३३॥ पापी पुरुष को कभी शान्ति नहीं मिलती और अन्त को नरक की यातना भोगनी पड़ती है। प्रज्ञा- बुद्धि प्राप्त हुए बिना किसी तरह शान्ति नहीं मिल सकती ॥३४॥

प्रज्ञा के सहारे किसी तरह पापों का समुद्र पार किया जा सकता है। प्रज्ञा-दृष्टि के साथ सब शास्त्रों का मनन करने से धर्म की रुचि उत्पन्न होती है। तब लोकलज्जा, उसके प्रधान अङ्ग के रूप से, पाप की प्रवृत्ति को हृदय से हटा देती है ॥३५॥ धीरे-धीरे वह पुरुष फिर समृद्धिशाली हो सकता है। पुरुष के पास जब तक लक्ष्मी रहती है तब तक वह मनुष्य गिना जाता है ॥३६॥ जो मनुष्य शान्ति के साथ सदा धर्म करता है और विचार करके हर एक काम में हाथ डालता है उसकी प्रवृत्ति कभी अधर्म या पाप की ओर नहीं होती ॥३७॥ जिसे लोकलज्जा और उचित-अनुचित का विचार नहीं है वह न तो स्त्रियों में गिना जाता है, न पुरुषों में। वह शूद्र की तरह कभी धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता ॥३८॥

सुशील बुद्धिमान् मनुष्य देवताओं पितरों और अपने को प्रसन्न रखता है और अन्त को मुक्तिपद प्राप्त करता है। मुक्ति ही पुण्यात्माओं का परम फल है ॥३९॥ हे जनार्दन ! आपको ये बातें हममें ही प्रत्यक्ष देख पड़ती होंगी। राज्य से भ्रष्ट होने के पश्चात् ये तेरह वर्ष हमने कैसे कष्ट से व्यतीत किये हैं सो आपको बताना नहीं है ॥४०॥ इसलिए अब हम

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया ।
यद्वयं कौरवान्हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः ॥ ४३ ॥
ये पुनः स्युरसंबद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः ।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥ ४४ ॥
ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठा सहायो गुरुवश्च नः ।
तेषां वधोऽतिपापीयान्किं नु युद्धेऽस्ति शोभनम् ॥ ४५ ॥
पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबंधवः ।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ॥ ४६ ॥
शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः ।
वयं वधेन जीवामः कपाल ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ ४७ ॥
क्षत्रियः क्षत्रियं हंति मत्स्यो मत्स्येन जीवति ।
श्वा श्वानं हंति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः ॥ ४८ ॥
युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदंति संयुगे ।
बलं तु नीतिमाधाय युद्धये जयपराजयौ ॥ ४९ ॥
नाऽऽत्मच्छंदेन भूतानां जीवितं मरणं तथा ।
नाऽप्यकाले सुखं प्राप्य दुःखं वापि यदूत्तम ॥ ५० ॥

किसी तरह अपना राज्य बिना लिये छोड़ नहीं सकते राज्य पाने की चेष्टा में यदि प्राण चले भी जायँ तो भी अच्छा ॥४१॥ इस समय मेरा प्रधान उद्देश यही है कि दोनों पक्ष सन्धि करके शान्ति के साथ बराबर राज्य बाट लें और सुखी रहें ॥४२॥ जो दुर्योधन ने इसके विपरीत किया तो इच्छा न रहने पर भी कौरवों को मारकर हम अपना छिना हुआ राज्य फिर प्राप्त करेंगे ॥४३॥ किन्तु संग्राम ठानकर प्राणियों की हिंसा करना भी कुछ उत्तम काम नहीं है। ऐसे नगीची आत्मीय कौरवों की कौन कहे, जिनसे कुछ भी सम्बन्ध न हो उन दुराचारी और अनादर के पात्र शत्रुओं को भी न मारना चाहिए ॥४४॥ असंख्य जातिवालों, सहायकों और गुरुओं की हत्या करना तो अत्यन्त दोष की बात है। तात्पर्य यह है कि संग्राम कभी मङ्गल का कारण नहीं हो सकता ॥४५॥ किन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि यही पापकार्य क्षत्रियों का परम धर्म माना गया है। हम भी उसी अधम निन्दनीय क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुए हैं। इसलिए भला हो या बुरा, संग्राम ही हमारा धर्म है। उसके सिवा और सब धर्म हमारे लिए निन्दनीय हैं ॥४६॥

शूद्र का धर्म सेवा, वैश्य का धर्म वाणिज्य-व्यापार, ब्राह्मण का धर्म भिक्षा और हम क्षत्रियों का धर्म हिंसा ही है। हे दाशार्ह! सभी अपने धर्म के अनुकूल ही कार्य करते हैं ॥४७॥ मछलियाँ जैसे मछलियों को भक्षणकर जाती हैं, कुत्ते जैसे कुत्तों को मार डालते हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी क्षत्रिय के प्राणों के ग्राहक हैं ॥४८॥ युद्ध में कलियुग का निवास है, इसी से उसमें हजारों प्राणियों का नाश होता है। नीति तथा बल का आश्रय लेकर हम संग्राम करेंगे, जय और पराजय तो दैव के अधीन है ॥४९॥ मरना या जीना किसी के वश में नहीं है। काल ही सुख और दुःख देनेवाला है ॥५०॥ एक मनुष्य भी बहुत

एको ह्यपि बहून्हंति घ्नंत्येकं बहवोऽप्युत ।
शूरं कापुरुषो हंति अयशस्वी यशस्विनम् ॥ ५१ ॥
जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः ।
तथैवाऽपचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ ॥ ५२ ॥
सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन्न प्रतिहन्यते ।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ ॥ ५३ ॥
पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते ।
यस्य स्याद्विजयः कृष्ण तस्याऽप्यपचयो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥
अंततो दयितं घ्नंति केचिदप्यपरे जनाः ।
तस्यांगबलहीनस्य पुत्रान्भ्रातॄनपश्यतः ॥ ५५ ॥
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते ।
ये ह्येव धीरा ह्रीमंत आर्याः करुणवेदिनः ॥ ५६ ॥
त एव युद्धे हन्यंते यवीयान्मुच्यते जनः ।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन ॥ ५७ ॥
अनुबंधश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते ।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत् ॥ ५८ ॥
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यांऽतविधित्सया ।
जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ॥ ५९ ॥
सुखं प्रशांतःस्वपिति हित्वा जयपराजयौ ।

से मनुष्यों को मार सकता है और निन्दित मनुष्य भी यशस्वी को नीचा दिखा सकता है ॥५१॥ दोनों पक्षों में से किसकी जीत या हार होगी, यह नहीं जान पड़ता, किन्तु यह निश्चय है कि हानि दोनों की होगी। जो हारते हैं उनका धन-बल और जन-बल बिलकुल मिट जाता है ॥५२॥ तात्पर्य यह है कि चाहे जिस तरह देखो, संग्राम एक पापकर्म है। किसी को घायल करने से आप भी घायल होना पड़ता है। मरे हुए मनुष्य के लिए जय और पराजय में कुछ भेद नहीं ॥५३॥ मेरी बुद्धि में मृत्यु और पराजय एक ही बात है। जीत होने पर भी हानि उठानी पड़ती है ॥५४॥ शत्रु यदि अपने को नहीं मार पाते तो किसी न किसी प्रिय पुरुष का वियोग अवश्य हो जाता है। इस प्रकार बल घटने और प्रियजनों का वियोग होने पर जीवित रहना कठिन हो जाता है ॥५५॥ धीर, लज्जाशील, गुणी, दयालु पुरुष ही प्राय युद्ध में मारे जाते हैं; दुराचारियों को कुछ नहीं होता ॥५६॥ हे मधुसूदन! बड़े से बड़े शत्रु को भी मार डालने से बहुत दिन तक पछतावा बना रहता है ॥५७॥ विशेष कर वे शत्रु, जो मरने से बच जाते हैं, बदला लेना नहीं छोड़ते; सबल होते ही विजयी पक्ष के सर्वनाश की धुन में लग जाते हैं ॥५८॥ विजय-लाभ इस तरह शत्रुता उत्पन्न करके हारे हुए मनुष्य को बहुत समय तक दुःख

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ॥ ६० ॥
अनिर्वृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि ।
उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते ॥ ६१ ॥
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं स नियच्छति ।
नहि वैराणि शाम्यंति दीर्घकालधृतान्यपि ॥ ६२ ॥
आख्यातारश्च विद्यंते पुमांश्चेद्विद्यते कुले ।
न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ॥ ६३ ॥
हविषाऽग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाऽभिवर्धते ।
अतोऽन्यथा नास्ति शांतिर्नित्यमंतरमंततः ॥ ६४ ॥
अंतरं लिप्समानानामयं दोषो निरंतरः ।
पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ॥
तस्य त्यागेन वा शांतिर्मरणेनापि वा भवेत् ॥ ६५ ॥
अथवा मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात्तन्नृशंसतरं भवेत् ॥ ६६ ॥
या तु त्यागेन शांतिः स्यात्तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ॥ ६७ ॥
न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।

को सागर में डुबाये रहता है ॥५९॥ शत्रुहीन पुरुष पराजय की चिन्ता से बेखटके होकर शान्ति के साथ सोता है। किन्तु जो किसी से वैर ठान चुका है वह, सर्पवाले घर में रहनेवाले मनुष्य की तरह सदा शङ्का और दुःखमें रहता है॥६०॥ जो पुरुष सबके विनाश का यत्न करता है वह कभी यश नहीं पा सकता, बल्कि यश खोकर संसार में फैलनेवाला अपयश ही बटोरता है।६१।

वैर की अग्नि बहुत दिन तक जलती रहती है। शत्रुवंश का एक भी मनुष्य जीता रहता है तो वैर की याद दिलानेवालों की कमी नहीं रहती ॥६२॥

हे श्रीकृष्ण ! वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, बल्कि घी डालने से अग्नि की तरह बारम्बार वह बढ़ता ही रहता है। इस प्रकार एक दूसरे के विनाश का अवसर देखा करता है और यह दोष लगातार बढ़ता ही रहता है। एक पक्ष का पूरा नाश हुए बिना वैर नहीं रुकता। छिद्र ढूँढ़नेवाले परस्पर वैरी पुरुषों में यह सर्वनाश का दोष सदा बना रहता है। लगातार हृदय को दुखानेवाली पौरुष से उपजी मानसिक चिन्ता की शान्ति या तो त्याग से हो सकती है या मरण से ॥६३।६५॥ हे हृषीकेश ! शत्रुओं की जड़ काट देने से राज्य की प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वह बड़ी निर्दयता का काम है। पर राज्य को त्याग करके शान्ति की स्थापना करना भी एक प्रकार की मृत्यु है। क्योंकि उसमें अपने पक्ष के उखड़ जाने का खटका रहता और शत्रुपक्ष से सन्देह भी बना रहता है कि वे अवसर पाकर मारेंगे या उपेक्षा करेंगे ॥६६॥ इस कारण अपना राज्य छोड़ देना या कुलक्षय, दोनों बातें हमें पसन्द नहीं हैं ॥६७॥

अत्र या प्रणिपातेन शांतिः सैव गरीयसी ॥ ६८ ॥
सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकांक्षताम् ।
सांत्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नाऽपराक्रमः ॥ ६९ ॥
प्रतिघातेन सांत्वस्य दारुणं संप्रवर्तते ।
तच्छुनामिव संपाते पंडितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥
लांगूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दंतदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥
तत्र यो बलवान्कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥
सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरो विरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ॥ ७३ ॥
पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ ७४ ॥
पुत्रस्नेहश्च बलवान्धृतराष्ट्रस्य माधव ।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ ७५ ॥
तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनंतरम् ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ ७६ ॥
ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन्कमन्यं मधुसूदन ।
उपसंप्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ ७७ ॥

संग्राम न होने देने के लिए पूरा यत्न करके दबकर भी शान्ति स्थापित करने को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ। इस प्रकार शान्ति ही अच्छी और अभीष्ट है ॥६८॥ जो हमारा समझाना-बुझाना निष्फल हुआ, संग्राम न चाहनेवाले हम लोगों का यत्न खाली गया, तो संग्राम ही करना होगा; फिर कायरता दिखलाना अनुचित होगा ॥६९॥ समझाना निष्फल होने पर कुत्तों का सा निन्दनीय विकट संग्राम होता ही है ॥७०॥ कुत्ते पहले दुम हिलाते हैं, गुर्राते और भूकते हैं, चक्कर लगाते हैं, मुँह फैलाकर दांत निकालते हैं, फिर क्रोधसूचक शब्द करते हुए आक्रमण कर बैठते हैं ॥७१॥ उनमें प्रायः मांस के छीछड़ों के लिए युद्ध होता है। जो बलवान् होता है वह निर्बल से छीनकर मांस खा जाता है। मनुष्यों का भी यही ढङ्ग है; उनमें कुत्तों से कुछ विशेषता नहीं है ॥७२॥ दुर्बलों के साथ बलवान् का यह अनादर और विरोध का व्यवहार ठीक ही है। दबनेवाला या झुकनेवाला दुर्बल समझा जाता है ॥७३॥ हे वासुदेव! वृद्ध राजा धृतराष्ट्र हमारे पूज्य पिता के तुल्य और माननीय हैं; किन्तु वे प्रबल पुत्रस्नेह के कारण पुत्र के हाथ का खिलौना हो रहे हैं इसलिए हमारी नम्र प्रार्थना को नहीं मानेंगे ।७४।७५ इस दशा में तुम हमारा समयोचित काम क्या समझते हो? क्या उपाय करें जो हमारे धर्म-अर्थ-काम का विनाश न

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
को हि कृष्णाऽस्ति नस्त्वादृक्सर्वनिश्चयवित्सुहृत्॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः ।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ ७९ ॥
शमं तत्र लभेयं चेद्युष्मदर्थमहापयन् ।
पुण्यं मे सुमहद्राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥ ८० ॥
मोचयेयं मृत्युपाशात्संरब्धान्कुरुसृंजयान् ।
पांडवान्धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—न ममैतन्मतं कृष्ण यत्त्वं यायाः कुरून्प्रति ।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥ ८२ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम् ।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ॥ ८३ ॥
न हि नः प्रणियेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥ ८४ ॥

श्रीभगवानुवाच—जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम् ।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥ ८५ ॥
न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ८६ ॥

हो ! हमें कर्तव्य और उपाय बतानेवाले तुम्हीं हो ॥७६॥ हे पुरुषोत्तम ! ऐसे भयङ्कर अर्थ-कष्ट के समय हम तुम्हारे सिवा और किससे पूछने जायँ? ॥७७॥ तुम्हारा ऐसा मित्र, हितैषी, सब कामों में चतुर और सब उलझनों को सुलझा सकनेवाला हमारा मित्र और कौन है ! ॥७८॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के वाक्य सुनकर अब श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाराज ! मैं दोनों पक्षों की भलाई के लिए कौरवों की सभा में जाऊँगा ॥७९॥ वहां जो आपके स्वार्थ को बनाये रखकर मैं शान्ति स्थापित कर सका तो मुझे बड़ा पुण्य होगा; ॥८०॥ क्योंकि सन्धि करा सका तो क्रोधित होकर संग्राम के लिए तैयार हो रहे कुरु, सृञ्जय, पाण्डव, धृतराष्ट्र के पुत्रों और अन्य राजाओं को मृत्यु के मुँह से उबार लूँगा ॥८१॥ युधिष्ठिर ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! मेरी यह सम्मति नहीं है कि तुम स्वयं कौरवों के यहां जाओ । तुम्हारे युक्तियुक्त कल्याणकारी वचनों को भी दुर्योधन नहीं मानेगा ॥८२॥ वहां दुर्योधन के अनुगामी और अधीन क्षत्रियों का बड़ा भारी जमघट है । हे श्रीकृष्ण ! उनके बीच में तुम्हारा जाना मैं नहीं उचित समझता ॥८३॥ हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा कुछ अनिष्ट हुआ तो राज्य, धन, सुख, स्वर्ग का ऐश्वर्य और देवपद पाकर भी हम प्रसन्न नहीं हो सकते ॥८४॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजेन्द्र ! दुर्योधन की यह पाप-बुद्धि मैं जानता हूं । किन्तु उसके पास

अथ चेत्ते प्रवर्तेत मयि किंचिदसांप्रतम् ।
निर्दहेयं कुरून्सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥
न जातु गमनं पार्थ भवेत्तत्र निरर्थकम् ।
अर्थप्राप्तिः कदाचित्स्यादंततो वाऽप्यवाच्यता ॥ ८८ ॥
युधिष्ठिर उवाच—यत्तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान् ।
कृतार्थं स्वस्तिमंतं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ ८९ ॥
विष्वक्सेन कुरून्गत्वा भरताञ्शमयन्प्रभो ।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ॥ ९० ॥
भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः ।
सौहृदेनाऽविशंक्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये ॥ ९१ ॥
अस्मान्वेत्थ परान्वेत्थ वेत्थाऽर्थान्वेत्थ भाषितुम् ।
यद्यदस्मद्धितं कृष्ण तत्तद्वाच्यः सुयोधनः ॥ ९२ ॥
यद्यधर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः ।
तत्तत्केशव भाषेथाः सांत्वं वा यदि वेतरत् ॥ ९३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाने से राजा लोग फिर हमें दोष न देंगे; कुल के नाश के लिए हमारी निन्दा न करेंगे ॥८५॥ रही मुझ पर आक्रमण होने की आशङ्का, सो जैसे क्रोधित सिंह के सामने मृग नहीं ठहर सकते, वैसे ही मेरे कुपित होने पर सब राजा मिलकर भी मेरा सामना नहीं कर सकते ॥८६॥ मैंने निश्चय कर लिया है कि जो वे लोग मेरे साथ कुछ अनुचित छेड़छाड़ करना चाहेंगे तो मैं वहीं सब कौरवों को भस्म कर दूंगा ॥८७॥ हे राजेन्द्र ! मेरा वहां जाना व्यर्थ नहीं है । न जाने सन्धि हो जाय, और जो न हो सकी तो कम से कम हम दोष और निन्दा से तो बच जायंगे ॥८८॥ युधिष्ठिर ने कहा—हे हृषीकेश ! जैसा तुम्हें श्रेष्ठ लगे वही करो । तुम सकुशल कौरवों के पास जाओ । हम लोग फिर सकुशल और कृतकृत्य होकर लौटे हुए तुम्हें देखेंगे ॥८९॥ तुम कौरवों के पास जाकर उन्हें समझाकर शान्त करो, जिसमें हम सब भाई मेल करके प्रसन्नता के साथ जीवित रह सकें ॥९०॥

हे जनार्दन ! तुम्हीं हमारे भाई और सखा हो । तुम मुझे और अर्जुन को बहुत प्यारे हो । तुम्हारे हितचिन्तक सुहृद् होने में हमें तनिक भी सन्देह नहीं । हमारे हित के लिए शुभ यात्रा करके तुम कल्याण प्राप्त करो । तुम हमको जानते हो, शत्रुओं को जानते हो और प्रयोजन के अनुकूल उचित बातें करना भी जानते हो । जिसमें हमारा हित जान पड़े, जो धर्मसङ्गत हो, वही दुर्योधन से कहना । सन्धि या संग्राम, जो ठीक जान पड़े, उसी का प्रस्ताव करना ॥९१।९३॥

उद्योगपर्व का बहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

श्रीभगवानुवाच—संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया ।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ॥ १ ॥
तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः ।
यद्युद्धेन लभ्येत तत्ते बहुमतं भवेत् ॥ २ ॥
नचैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशांपते ।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ॥ ३ ॥
जयो वधो वा संग्रामे धात्रा दिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥ ४ ॥
नहि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर ।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून्परंतप ॥ ५ ॥
अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः ।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप ॥ ६ ॥
न पर्यायोऽस्ति यत्साम्यं त्वयि कुर्युर्विशांपते ।
बलवत्तां हि मन्यंते भीष्मद्रोणकृपादिभिः ॥ ७ ॥
यावच्च मार्दवेनैतान्राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यंति तव राज्यमरिंदम ॥ ८ ॥
नाऽनुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलंकर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ॥ ९ ॥

तेहत्तरवां अध्याय ॥ ७३ ॥

वासुदेव ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! मैंने संजय की और आपकी बातें सुन लीं । शत्रुओं का और आपका अभिप्राय मुझे अच्छी तरह मालूम है॥१॥ आपकी बुद्धि धर्म के मार्ग पर दृढ़ है और कौरव वैर छोड़ने को तैयार नहीं हैं । बिना संग्राम के जो मिले उसी को आप बहुत समझने के लिए तैयार हैं; किन्तु क्षत्रिय के लिए जन्म भर ब्रह्मचारी या सन्यासी रहकर भिक्षा मांगना ठीक नहीं है । सब आश्रमों के लोगों का यही मत है॥२।३॥ संग्राम में जय प्राप्त करना या मर जाना ही विधाता का बनाया हुआ क्षत्रिय का सनातन धर्म है । दीनता दिखाने [केवल पांच गांव लेकर ही प्रसन्न हो जाने] यानी संग्राम न करने से क्षत्रिय का निर्वाह नहीं हो सकता । इसलिए हे शत्रुदमन ! आप पराक्रम करके शत्रुओं को मारिए॥४।५॥ दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र बड़े लोभी हैं । उन्होंने बहुत दिन तक वीर पुरुषों के साथ रहकर उनसे स्नेह बढ़ा लिया है, इसलिए वे बलवान् हो रहे हैं । अनेक मित्र भी उनके पक्ष में हैं ॥६॥

इस कारण अपने को बलवान् समझकर वे आपसे किसी तरह सन्धि न करेंगे । भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि की सहायता पाकर वे अपने को बली समझते हैं॥७॥ इसलिए आप जब तक कोमलता और

एतदेव निमित्तं ते पांडवाऽस्तु यथा त्वयि ।
नाऽन्वतप्यंत कौपीनं तावत्कृत्वाऽपि दुष्करम् ॥ १० ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधुनां राज्ञश्च नगरस्य च ॥ ११ ॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दांतं धर्मशीलमनुव्रतम् ॥ १२ ॥
यत्त्वामुपधिना राजन्द्यूते वंचितवांस्तदा ।
न चाऽपत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥
तथाशीलसमाचारे राजन्मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ॥ १४ ॥
वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत्त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन्भ्रातृभिः सह भाषते ॥ १५ ॥
एतावत्पांडवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ॥ १६ ॥
कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यंति नष्टप्रकृतयो मयि ॥ १७ ॥
दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत्तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ॥ १८ ॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।

नम्रता दिखावेंगे तब तक वे आपके राज्य को दबाये रहेंगे ॥८॥ हे राजेन्द्र! दुर्योधन आप पर दया करके, अपनी हीनता देखकर या धर्म और अर्थ का विचार करके, किसी तरह आपको आधा राज्य न देगा ॥९॥

आपको बनवासी करने का कठिन काम करके भी दुर्योधन को पछतावा नहीं हुआ। [तब वह अब राज्य देकर सन्धि कैसे करेगा!] ॥१०॥ धर्मात्मा, कोमल, दमपरायण, दानी और व्रत करनेवाले आप को दुरात्मा दुर्योधन ने भीष्म, द्रोण, विदुर, महात्मा ब्राह्मणगण, राजा धृतराष्ट्र, प्रधान-प्रधान कुरुवंशी और नगरनिवासी आदि के सामने ही जूए में छल से जीतकर धन को लेना और अब तक अपने कुकर्म के लिए वह लज्जित नहीं होता ॥११।१२॥

ऐसे दुष्ट स्वभाववाले दुर्योधन पर दया की दृष्टि डालना कभी आपका काम नहीं है। हे राजा युधिष्ठिर! केवल आपके ही हाथ से नहीं, कौरव तो सबके हाथ से मारे जाने योग्य हैं ॥१४॥ सोचकर देखिए, भाइयों सहित दुर्योधन ने अपनी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नता से अनुचित अपमानजनक वाक्य कहकर आपको और आपके भाइयों को बड़ी पीड़ा पहुँचाई है ॥१५॥ उस दुरात्मा ने चिढ़ाकर कहा था कि "अब पाण्डवों की अपनी सम्पत्ति कुछ नहीं है, इनका नाम-गोत्र तक शेष नहीं रहा ॥१६॥ ये बहुत समय तक पराभव और कष्ट पाकर, शूरवीरता आदि स्वभाव

भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ॥ १९ ॥
भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित्प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥
एताश्चाऽन्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स्म त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ २१ ॥
ये तत्राऽऽसन्समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकंठा रुदंतश्च सभायामासते सदा ॥ २२ ॥
न चैनमभ्यनंदंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निंदंति स्म सभासदः ॥ २३ ॥
कुलीनस्य च या निंदा वधो वाऽमित्रकर्शन ।
महागुणो वधो राजन्न तु निंदा कुजीविका ॥ २४ ॥
तदैव निहतो राजन्यदैव निरपत्रपः ।
निंदितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ॥ २५ ॥
ईषत्कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम् ।
प्रस्कुंदेन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥
वध्यः सर्प इवाऽनार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः ।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन्विचिकित्सिथाः ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद्रोचते च ममाऽनघ ।
यत्त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ॥ २८ ॥

को छोड़कर, जीविका के लिए दीनभाव से या तो मेरे आश्रय में रहेंगे या प्रजा से सहायता मांगेंगे। क्योंकि इनका सब राज्य अब मेरा हो गया है।" ॥१७॥ जूए के पश्चात् दुरात्मा दुःशासन रोती हुई देवी द्रौपदी को, अनाथ स्त्री की तरह, बालपकड़कर खींचता हुआ सभा में ले आया। उस दुष्ट ने सभा में सबके सामने "गाय है गाय" [गाय की तरह सबके उपभोग की सामग्री] कहकर द्रौपदी का उपहास किया ॥१८।१९॥ उस समय आपके भाई आपके रोकने से, और धर्म में बंधे रहने से रक्त पीकर रह गये, [नहीं तो उसी समय उन दुष्टों को अपनी करनी का फल मिल जाता।] ॥२०॥ आप जब वन को चलने लगे तब भी दुर्योधन ने सब जातिवालों के सामने अपनी प्रशंसा करके आपको बहुत कटु वचन कहे थे ॥२१॥ उस समय सभा में स्थित सज्जन महात्मा लोग आपको निर्दोष समझकर रोने लगे थे। इसके सिवा वे कर ही क्या सकते थे! ॥२२॥ सभा में स्थित ब्राह्मणों या राजाओं में से किसी ने उसकी बातों का अनुमोदन नहीं किया। सभी उसकी निन्दा कर रहे थे ॥२३॥ हे शत्रुदमन! अच्छे आचरणवाले पुरुष के लिए निन्दा मृत्यु से बढ़कर है। निन्दित अधम जीवन से तो एकदम मर जाना सौगुना अच्छा ॥२४॥ निर्लज्ज दुर्योधन उसी समय मर चुका, जब सब राजाओं ने उसकी

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम् ।
येषामस्ति द्विधा भावो राजन्दुर्योधनं प्रति ॥ २९ ॥
मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान्गुणान् ।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥ ३० ॥
ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥ ३१ ॥
त्वयि संप्रतिपत्स्यंते धर्मात्मा सत्यवागिति ।
तस्मिंश्चाऽधिगमिष्यंति यथा लोभादवर्तत ॥ ३२ ॥
गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि ।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥ ३३ ॥
शमं वै याचमानस्त्वं नाऽधर्मं तत्र लप्स्यसे ।
कुरून्विगर्हयिष्यंति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥ ३४ ॥
तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते ।
हते दुर्योधने राजन्यदन्यत्क्रियतामिति ॥ ३५ ॥
यात्वा चाऽहं कुरून्सर्वान्युष्मदर्थमहापयन् ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥
कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम् ।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥ ३७ ॥

निन्दा की ॥२५॥ ऐसे अधम आचरणवाले को मारना तो बहुत ही सहज है। सूखे हुए वृक्ष की तरह उसे काट गिराना कुछ कठिन नहीं ॥२६॥ सर्प की तरह, नीच दुर्योधन, सभी के द्वारा मारे जाने योग्य है। हे राजेन्द्र! आप आगा-पीछा न सोचकर उस दुष्ट को मार डालिए ॥२७॥ हे निष्पाप! अपने पिता धृतराष्ट्र और पितामह भीष्म के आगे आपका झुकना कुछ अनुचित नहीं। यह बात आपके योग्य है और मुझे भी पसन्द है ॥२८॥ हे राजेन्द्र! मैं कौरव-सभा में जाकर जो लोग दुर्योधन को अच्छा समझते हैं उनका भ्रम दूर करूंगा, ॥२९॥ सब राजाओं के बीच में आपके असाधारण गुणों का और दुर्योधन के दोषों का बखान करूंगा ॥३०॥ देश-देशान्तर से आये हुए राजा लोग मेरे धर्मार्थसहित और हित-कारी वचन सुनकर आपकी धर्मपरायणता और सत्यता पर विश्वास करेंगे ॥३१॥ उन्हें यह भी प्रतीत हो जायगा कि दुर्योधन कैसा लोभी और दुराचारी है ॥३२॥ मैं वहां नगर और जनपद में रहनेवाले, बालक-बूढ़े-जवान, चारों वर्ण के लोगों के सामने स्पष्ट शब्दों में दुर्योधन की निन्दा करूंगा ॥३३॥

शान्ति की प्रार्थना करने से कोई आपको अधार्मिक नहीं समझेगा बल्कि सभी लोग धृतराष्ट्र की और उनके पुत्रों की निन्दा करेंगे ॥३४॥ इस प्रकार जब लोग उसका साथ छोड़ देंगे तब दुर्योधन को मरा हुआ सा समझिए। उसके मर जाने पर फिर करने को ही क्या रह जायगा? ॥३५॥ इसलिए मैं कुरुसभा में जाकर पहले ऐसा उपाय करूंगा जिसमें शान्ति भी स्थापित हो और आपको स्वार्थ की हानि

सर्वथा युद्धमेवाऽहमाशंसामि परैः सह ।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवंति मे ॥ ३८ ॥
मृगाः शकुंताश्च वदंति घोरं हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु ।
घोराणि रूपाणि तथैव चाऽग्निर्वर्णान्बहून्पुष्यति घोररूपान् ॥ ३९ ॥
मनुष्यलोकक्षयकृत्सुघोरो नो चेदनुप्राप्त इहांऽतकः स्यात् ।
शस्त्राणि यंत्रं कवचा रथांश्च नागान्हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥ ४० ॥
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते भवंतु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः ।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥ ४१ ॥
दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित् ।
यत्ते पुरस्तादभवत्समृद्धं द्यूते हृतं पांडवमुख्य राज्यम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥७३॥

भी न सहनी पड़े ॥३६॥ इस पर भी जो वे युद्ध की ही इच्छा या उपाय करेंगे तो मैं तुरन्त आपकी विजय के लिए लौट आऊंगा ॥३७॥ हे भारत ! मुझे जो असगुन देख पड़ रहे हैं उनसे जान पड़ता है कि आपको शत्रुओं से युद्ध ही करना पड़ेगा ॥३८॥

देखिए, सन्ध्या के समय मृग और पक्षी भयङ्कर शब्द करते हैं, रात्रि की हाथियों और घोड़ों के रूप भयावने देख पड़ते हैं, अग्नि भी बहुत बुरा रूप धारण किये हुए जलती देख पड़ती है ॥३९॥ सबका संहार करनेवाला घोर समय जो न आया होता तो ऐसे कुलक्षण कभी न देख पड़ते । इसलिए आपके योद्धा लोग युद्ध के लिए दृढ़ विचार करके हथियार, कवच, रथ, हाथी, घोड़े, युद्ध-यन्त्र आदि सब समर सामग्री तैयार करें। हाथी घोड़े, रथ आदि की सजावट भी शुरू होनी चाहिए । हे नरेन्द्र ! आपको संग्राम की जो सामग्री एकत्र करनी हो उसे एकत्र कर लीजिए । मुझे निश्चय है कि आपके जिस समृद्धिशाली राज्य को दुर्योधन पा चुका है उसे वह जीते जी कभी न देगा ॥४०।४२॥

—०—

उद्योगपर्व का तिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

भीमसेन उवाच—यथा यथैव शांतिः स्यात्कुरूणां मधुसूदन ।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ॥ १ ॥
अमर्षी जातसंरंभः श्रेयोद्वेषी महामनाः ।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ॥ २ ॥

चौहत्तरवां अध्याय ॥ ७४ ॥

भीमसेन ने कहा—हे मधुसूदन ! जिस तरह कुरुवंश में शान्ति स्थापित हो वही कीजिएगा । सन्धि का ही प्रस्ताव कीजिएगा, युद्ध की धमकी न देकर कोमल शब्दों से समझाइएगा ॥१॥ दुर्योधन असहनशील, क्रोधी, उत्साही, महामनोरथ रखनेवाला और कल्याण से चिढ़ता है । उससे उग्र वचन न

भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ॥ २२ ॥
अहमेतद्ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयाऽर्जुने ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

का कलङ्क न लगने पावे ॥२१॥ हे कृष्णचन्द्र ! बूढ़े पितामह भीष्म और अन्य सभासदों से कहिएगा कि भाइयों में परस्पर मेल हो जाय और दुर्योधन शान्त हो ॥२२॥ मैं शान्ति के लिए यह कह रहा हूं, राजा युधिष्ठिर सन्धि को पसन्द करते हैं, और अर्जुन की भी यह इच्छा नहीं है कि युद्ध हो क्योंकि ये बड़े दयालु हैं ॥ २३ ॥

—०—

उद्योगपर्व का चौहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७४ ॥

अथ पचसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ॥ १ ॥
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके ।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम् ॥ २ ॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाऽभिपरिप्लुतम् ॥ ३ ॥
श्रीभगवानुवाच—त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान्धार्तराष्ट्रान्मिमर्दिषुः ॥ ४ ॥
न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप ।
घोरामशांतां रुषतीं सदा वाचं प्रभाषसे ॥ ५ ॥
निःश्वसन्नग्निवर्त्तेन संतप्तः स्वेन मन्युना ।
अप्रशांतमना भीम सधूम इव पावकः ॥ ६ ॥
एकांते निःश्वसञ्शेषे भारार्त इव दुर्बलः ।

पिछत्तरवा अध्याय ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! पर्वत के हलकेपन और अग्नि की शीतलता के समान भीमसेन के इन अपूर्व कोमल वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण मुसकुराने लगे । फिर वायु जैसे अग्नि को प्रचण्ड करती है वैसे ही ममता में भूल रहे भीम को भड़काते हुए कृष्णचन्द्र यों कहने लगे—हे भीमसेन ! तुम और समय तो क्रूर धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारने की इच्छा प्रकट करके युद्ध की प्रशंसा किया करते थे ॥१।४॥ तुम बेचैन होकर रात्रि को औंधे पड़े रहते हो और नींद नहीं आती, इसलिए जागा करते हो; क्रोध के मारे सदा घोररूप और शान्ति के विरोधी वचन कहा करते हो ॥५॥ जैसे धुआं दे रही अग्नि सुलगती हो वैसे ही तुम भीतर ही भीतर जला करते हो और लम्बी लम्बी सांसें लिया करते हो ॥६॥ बोझ

अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यंते तद्विदो जनाः ॥ ७ ॥
आरुज्य वृक्षान्निर्मूलान्गजः परिरुजन्निव ।
निघ्नन्पद्भिः क्षितिं भीम निःश्वसन्परिधावसि ॥ ८ ॥
नाऽस्मिञ्जनेन रमसे रहः क्षिपसि पांडव ।
नाऽन्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनंदसि ॥ ९ ॥
अकस्मात्स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव ।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः ॥ १० ॥
भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव ।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम् ॥ ११ ॥
यथा पुरस्तात्सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन् ।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान् ॥ १२ ॥
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः ।
हंताऽहं गदयाऽभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ १३ ॥
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनाऽऽलभसे गदाम् ।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्ध्रियतेऽद्य परंतप ॥ १४ ॥
अहो युद्धाभिकांक्षाणां युद्धकाल उपस्थिते ।
चेतांसि विप्रतीपानि यत्त्वां भीर्भीम विंदति ॥ १५ ॥
अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि ।
स्वप्नांते जागरांते च तस्मात्प्रशममिच्छसि ॥ १६ ॥

दौड़ने से थके हुए दुर्बल पुरुष की तरह एकान्त में पड़े रहते हो। [और सर्प की तरह फुफकारें छोड़ा करते हो।] जो तुम्हारी अवस्था नहीं जानते वे इन आचरणों से तुम्हें पागल समझते हैं ॥७॥ तुम कभी-कभी गजराज की तरह वृक्षों को तोड़ते और पृथ्वी पर जोर से पांव पटकते चलते हो ॥८॥ लोगों से तुम बहुत मिलते और बातचीत करते नहीं देख पड़ते; दिन-रात एकान्त में ही पड़े रहते हो ॥९॥ तुम पागलों की तरह कभी हंसते हो, कभी एकान्त में रोते हो और कभी घुटनों पर सिर रखकर आंखें बन्द किये घण्टों चिन्ता किया करते हो ॥१०॥ कभी भौंहें टेढ़ी करके ओठ चबाते हुए चारों ओर भयङ्कर दृष्टि डालते हो। ये सब चेष्टाएं क्रोध की हैं ॥११॥ हे शत्रुदमन! तुम पहले अपने भाइयों के बीच में गदा लेकर यह प्रतिज्ञा कर चुके हो कि 'सूर्य जैसे अपना तेज फैलाते हुए पूर्व में उदय होते हैं और पश्चिम में अस्त होकर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं—उनका यह क्रम कभी उलटा नहीं होता—वैसे ही मैं सत्य कहता हूं कि इस गदा से असहनशील दुर्योधन को अवश्य मारूंगा।' ॥१२।१३॥ किन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि वही तुम आज शान्ति पसन्द कर रहे हो—सन्धि के लिए बार-बार कह रहे हो! अहो, युद्ध का समय आने पर युद्ध की इच्छा रखनेवाले लोगों के चित्त की वृत्ति बदल जाया करती है! ऐसा न होता तो तुम युद्ध से क्यों भयभीत होते। ॥१४।१५॥ तुम शायद सोते और जागते में असगुन

अहो नाऽऽशंससे किंचित्पुंस्त्वं क्लीव इवाऽऽत्मनि।
कश्मलेनाऽभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः ॥ १७ ॥
उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति ।
ऊरुस्तंभगृहीतोऽसि तस्मात्प्रशममिच्छसि ॥ १८ ॥
अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम् ।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव ॥ १९ ॥
तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी ।
मनांसि पांडुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव ॥ २० ॥
इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम् ।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनाऽसमं वचः ॥ २१ ॥
स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत ।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव ॥ २२ ॥
न चैतदनुरूपं ते यत्ते ग्लानिररिंदम ।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजककृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

और कुलक्षण देखते हो, इसी से शान्ति की इच्छा प्रकट कर रहे हो ॥१६॥ तुम अपने में कुछ भी पौरुष नहीं समझते, इसी से कायरों की तरह ऐसे भय और मोह के वश हो रहे हो ॥१७॥ भय और मोह से ही तुम्हारा चित्त बिगड गया है। तुम्हारा हृदय धडक रहा है; तुम्हारा चित्त प्रसन्न नहीं है। तुम्हारे पाव मानो किसी ने पकड लिये हैं। इसीसे तुम शान्ति चाहते हो ॥१८॥ मनुष्य का चित्त सदा स्थिर नहीं रहता। वायु के वेग से हिल रही सेमर की गाठ की तरह—जिसमें रुई भरी रहती है—चित्त डावाडोल रहता है ॥१९॥ पशु जैसे मनुष्य की वाणी बोले, वैसे ही स्वभाव के विपरीत तुम्हारे ये वाक्य सुनकर पाण्डव व्याकुल और सुस्त हो रहे हैं। उनकी दशा अथाह नदी में नाव के बिना डूबनेवालों की जैसी हो रही है ॥२०॥ पर्वत के टलने की तरह तुम अपने अयोग्य वचन कह रहे हो। इन्हें सुनकर मुझे बडा ही आश्चर्य हो रहा है ॥२१॥ तुम अपने कर्मों की ओर देखो और जिस वंश में उत्पन्न हुए हो उसकी ओर देखो। हे वीर! स्थिर होकर, खेद छोडकर उठो ॥२२॥ तुम्हारी यह ग्लानि तुम्हारे योग्य नहीं। अपने प्रताप से जीती हुई वस्तु का उपभोग करना ही क्षत्रियों को सोहता है ॥२३॥

उद्योगपर्व का पिछहत्तरवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

अथ षट्सप्ततितमोऽध्याय ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः ।
सदश्ववत्समाधावद्बभाषे तदनंतरम् ॥ १ ॥
भीमसेन उवाच—अन्यथा मां चिकीर्षंतमन्यथा मन्यसेऽच्युत ।

प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम् ॥ २ ॥
वेत्सि दाशार्ह सत्वं मे दीर्घकालं सहोषितः ।
उत वा मां न जानासि प्लवन्ह्रद इवाऽप्लवे ॥ ३ ॥
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि ।
कथं हि भीमसेनं मां जानन्कश्चन माधव ॥ ४ ॥
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि ।
तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनंदन ॥ ५ ॥
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः ।
सर्वथाऽनार्यकर्मैतत्प्रशंसा स्वयमात्मनः ॥ ६ ॥
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः ।
पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः ॥ ७ ॥
अचले चाऽप्रतिष्ठे चाप्यनंते सर्वमातरौ ।
यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव ॥ ८ ॥
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे ।
पश्यैतदंतरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव ॥ ९ ॥
य एतत्प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम् ।
हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित्स्वयम् ॥ १० ॥
मयाऽभिपन्नं त्रायेरन्बलमास्थाय न त्रयः ।

छियत्तरवां अध्याय ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! क्रोधी और असहनशील भीमसेन, श्रीकृष्ण के वचन सुनकर सधाये गये घोड़े की तरह भड़क उठे और बड़े वेग के साथ यों कहने लगे—हे जनार्दन ! मेरा तात्पर्य और था, किन्तु तुम और कुछ समझ रहे हो। बहुत दिन साथ रहकर तुम यह अच्छी तरह जान गये हो कि युद्ध मुझे बहुत प्रिय है, और मेरा पराक्रम भी अपार है । परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि जैसे कोई अथाह सागर की थाह न पा सके वैसे तुम अब तक मुझे नहीं पहचान सके। मुझ भीमसेन को जानकर भी मेरे लिए ऐसे अयोग्य वचन, जैसे तुम कह रहे हो, कौन कहेगा ! तुमको बताने के लिए मैं अपने पौरुष और बल का बखान करता हूं ॥१।५॥ शत्रु मेरे पौरुष और बल के बराबर नहीं है । अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना अच्छा नहीं, किन्तु तुम्हारे यों कहने के कारण लाचार होकर मैं अपने बल का वर्णन करता हूं ॥६॥ हे कृष्णचन्द्र ! सम्पूर्ण प्रजा को माता के समान पालनेवाले, अटल, असीम, अनन्त स्वर्गलोक और मनुष्यलोक यदि दो शिलाओं की तरह एकाएक टकराना चाहें तो मैं इन हाथों से उन्हें बलपूर्वक रोक सकता हूं । मेरी इन बेलन ऐसी विशाल बाहुओं का घेरा देखो ॥७।९॥

पृथ्वीमण्डल में ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो इन हाथों के बीच में पड़कर जीता बच सके । मैं जिस पर आक्रमण करूं उसे पर्वतराज हिमालय, समुद्र या स्वयं इन्द्र, तीनों मिलकर भी नहीं बचा सकते ॥१०॥

युद्धार्हान्क्षत्रियान्सर्वान्पांडवेष्वाततायिनः ॥ ११ ॥
अधःपादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले ।
नहि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत ॥ १२ ॥
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः ।
अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम् ॥ १३ ॥
विगाढे युधि संबाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन ।
परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन् ॥ १४ ॥
यथामति ब्रवीम्येतद्विद्धि मामधिकं ततः ।
द्रष्टाऽसि युधि संबाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ॥ १५ ॥
मया प्रणुन्नान्मातंगान्रथिनः सादिनस्तथा ।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नंतं क्षत्रियर्षभान् ॥ १६ ॥
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षंतं वरान्वरान् ।
न मे सीदंति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः ॥ १७ ॥
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम ।
किं तु सौहृदमेवैतत्कृपया मधुसूदन ।
सर्वास्तितिक्षे संक्लेशान्मा स्म नो भरता नशन् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

हे माधव ! मैं पाण्डवों के शत्रु क्षत्रियों को, युद्ध में पृथ्वी पर सुलाकर, सहज ही पांवों से रौंद सकूंगा। मैं पहले जिस तरह राजाओं को हराकर अपने वश में कर चुका हूं, सो तुमसे छिपा ही नहीं है। उसी से तुम मेरे पराक्रम का अनुमान कर सकते हो। अथवा उदय हो रहे सूर्य की उज्ज्वल प्रभा के समान मेरा पराक्रम और तेज तुमको न प्रतीत हो तो उसे युद्ध-भूमि में देख लेना। पके घाव में सुई चुभोने की तरह तुम ऐसे कठोर वचनों से मुझ पर आक्षेप कर रहे हो, किन्तु घोर युद्ध में मेरे कहे से भी अधिक मेरा पराक्रम देख लेना ॥११।१५॥

एक तुम्हीं नहीं, सब लोग उस लोकनाशक युद्ध के समय देखेंगे कि मैं कभी हाथी, घोड़े, रथ आदि के सवारों को पकड़-पकड़ कर दूर पर फेकूंगा, कभी दुःसह क्रोध के मारे श्रेष्ठ क्षत्रियों और प्रधान वीरों को मारूंगा और कभी प्रधान सैनिकों और योद्धाओं की लाशें खींच-खींचकर फेकूंगा। न तो मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और न कलेजा ही धड़क रहा है ॥१६।१७॥ सारा संसार क्रोध करके मुझ पर चढ़ आवे तो भी मैं नहीं भयभीत हो सकता। मैं तो सौहार्द के कारण ही यों कृपालु होकर सब क्लेश सह रहा हूं और चाहता हूं कि हमारे भरत-वंश का नाश न हो ॥१८॥

—०—

उद्योगपर्व का छियत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

श्रीभगवानुवाच—भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम् ।
न चाऽऽक्षेपान्न पांडित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया ॥ १ ॥

वेदाऽहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद्बलम् ।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम् ॥ २ ॥
यथा चाऽऽत्मनि कल्याणं संभावयसि पांडव ।
सहस्रगुणमप्येतत्त्वयि संभावयाम्यहम् ॥ ३ ॥
यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते ।
बंधुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः ॥ ४ ॥
जिज्ञासंतो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर ।
पर्यायं नाऽध्यवस्यंति दैवमानुषयोर्जनाः ॥ ५ ॥
स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्याऽर्थसिद्धिषु ।
विनाशेऽपि स एवाऽस्य संदिग्धं कर्म पौरुषम् ॥ ६ ॥
अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तंते वेगा इव नभस्वतः ॥ ७ ॥
सुमंत्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम् ।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनाऽपि विरुध्यते ॥ ८ ॥
दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते ।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ॥ ९ ॥
यदन्यादिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयं कृतम् ।

सतत्तरवाँ अध्याय ॥ ७७ ॥

भगवान् ने कहा—हे भीमसेन ! तुम्हारे हृदय का भाव जानने की इच्छा से स्नेह के मारे, जान-बूझकर, मैंने ये बातें कही थीं। क्रोध से, पण्डिताई दिखाने के लिए, तानेजनी करने के लिए अथवा इसलिए कि तुम अपने पराक्रम का वर्णन करो, मैंने ये कठोर वाक्य नहीं कहे। तुम्हारी महिमा, पराक्रम और कार्य मुझे अच्छी तरह विदित हैं। मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ॥१।२॥ हे वीर ! तुम अपने में जितना बल समझते हो, उससे हजारगुना बल मैं तुम्हारे हाथों में समझता हूं। तुम अपने ही बाहुबल से सम्पत्ति और कल्याण प्राप्त कर सकते हो। तुम जिस कुल में उत्पन्न हुए हो उसे सब राजा आदर की दृष्टि से देखते हैं। तुम्हारा बल भी अपने कुल के योग्य है और तुम्हारे भाई-बन्धु भी तुम्हारे योग्य हैं। हे वृकोदर ! सन्देहयुक्त धर्म को जानने की इच्छा होने पर मनुष्य अपने और देवताओं के धर्म का निर्णय करने में असमर्थ हो जाते हैं। जो अर्थ-सिद्धि का कारण है वही विनाश का भी कारण हो जाता है। इस कारण पुरुष के सब कार्य सन्देहपूर्ण हैं ॥३।६॥ दोषों के जानकार पण्डित कर्तव्य कर्म की एक तरह की गति सोचते हैं, किन्तु वायु-वेग की तरह उन कर्मों की दूसरी ही गति देखी जाती है ॥७॥ न्याय, नीति और युक्ति के अनुकूल कार्य भी दैवसंयोग से बिगड़ जाते हैं। उधर पुरुष अपने पौरुष से जाड़ा, गर्मी, वर्षा, भूख-प्यास आदि दैवकृत कर्मों को विफल कर देता है, अर्थात् उपाय करके उनसे अपने को बचा लेता है। फलभोगदाता प्रारब्ध कर्म के सिवा पुरुषों के उद्योग के विफल होने का

तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥
लोकस्य नाऽन्यतो वृत्तिः पांडवाऽन्यत्र कर्मणः ।
एवं बुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥
य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते ।
नाऽसिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥
तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता ।
नैकांतसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥
नाऽतिप्रहीणरश्मिः स्यात्तथा भावविपर्यये ।
विषादमर्छेद् ग्लानिं वाऽप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पांडव ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥
शमं चेत्ते करिष्यंति ततोऽनन्तं यशो मम ।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥
ते चेदभिनिवेक्ष्यंते नाऽभ्युपेष्यंति मे वचः ।
कुरवो युद्धमेवाऽत्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥
अस्मिन्युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः ।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद्वोढव्य इतरो जनः ॥ १८ ॥
अहं हि यंता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति ।
धनंजयस्यैष कामो नहि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

और कोई कारण नहीं है। ज्ञान या प्रायश्चित के द्वारा सञ्चित पापों का विनाश होता है। श्रुतियों और स्मृतियों के प्रसिद्ध वाक्य ही इसके प्रमाण हैं ॥८।१०॥ इसलिए लोकनिर्वाह का एकमात्र उपाय कर्म ही है। दैव और पौरुष दोनों की अनुकूलता और मेल से काम बनते हैं। यही सोचकर प्रत्येक काम करना चाहिए ॥११॥ इस प्रकार कर्तव्य समझकर जो लोग काम करते हैं वे सफलता न होने पर खेद नहीं करते और सफलता होने पर आनन्द भी नहीं मनाते। इस विषय में तुमसे मुझे यही कहना है ॥१२॥ मेरा कहना यह नहीं है कि शत्रुओं से युद्ध करने में सफलता होगी ही ॥१३॥ इस अभिप्राय से भी मैंने तुमसे उस तरह की बातें कही थीं कि चिन्ता की बेचैनी के समय एकदम निस्तेज या सुस्त हो जाना उचित नहीं है ॥१४॥ अस्तु, मैं कल कुरु-सभा में जाकर तुम्हारे स्वार्थ पर दृष्टि रखकर सन्धि होने का उपाय करूँगा। इसके लिए मैं भरपूर यत्न करूँगा ॥१५॥ जो उन लोगों ने मान लिया तो उन्हें मङ्गल, समृद्धि और जीवन, तुम्हें अभीष्ट और मुझे यश प्राप्त होगा ॥१६॥ किन्तु दुर्बुद्धि कौरवगण जो मेरी बातों का अनादर करके अपने हठ पर ही अड़े रहेंगे तो विकट संग्राम होगा ही ॥१७॥ हे भीम! इस युद्ध का सब भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुमको और अर्जुन को युद्ध का

तस्मादाशंकमानोऽहं वृकोदर मतिं तव ।
गदतः क्लीवया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

भार लेकर सब योद्धाओं का सञ्चालन करना होगा। युद्ध तो मैं भी करना चाहता था, पर अर्जुन की यही इच्छा है कि मैं उनका सारथी बनूँ। इसलिए मुझे सारथी का काम करना होगा। तुम्हारी बुद्धि से शङ्कित होकर, तुम्हें कायरों की सी निस्तेज बात कहते देखकर, तुम्हें उत्तेजित करने के लिए ही मैंने यह कठोर वचन कहे थे ॥१८।२०॥

—०—

उद्योगपर्व का सतत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

अथ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

अर्जुन उवाच—उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद्वाच्यं जनार्दन ।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशममत्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो ।
लोभाद्वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद्वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥
अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम् ।
न चांऽतरेण कर्माणि पौरुषेण वलोदयः ॥ ३ ॥
तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत् ।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥
किंचैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम् ।
कुर्वंति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥
संपाद्यमानं सम्यक्च स्यात्कर्म सफलं प्रभो ।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत्परैः ॥ ६ ॥

अठहत्तरवां अध्याय ॥ ७८ ॥

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, सो तो महाराज युधिष्ठिर ही कह चुके। किन्तु आपके कहने से मुझे जान पड़ा कि धृतराष्ट्र के लोभ और हमारी हीन अवस्था को देखकर आप सन्धि का होना सहज नहीं समझते ॥१।२॥ आपने यह भी कहा था कि पराक्रम के बिना सभी काम निष्फल होते हैं और पौरुष के बिना कोई भी काम सिद्ध होने की या फल पाने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में आपका यह कहना ठीक ही है; किन्तु सभी जगह कदापि ऐसा नहीं होता। किसी बात को बिलकुल असाध्य या असम्भव न समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आप हमारी यह विषम दशा होने और क्लेश सहने के कारण शिथिलता देखकर सन्धि का होना दुर्घट समझते हैं सही; किन्तु दुःशासन, कर्ण और शकुनि आदि दुराचारी लोग हमें व्यर्थ ही क्लेश दे रहे हैं, इसलिए सन्धि का प्रस्ताव अच्छी तरह योग्यता के साथ किये जाने पर सफलता प्राप्त हो भी सकती है।

तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥
लोकस्य नाऽन्यतो वृत्तिः पांडवाऽन्यत्र कर्मणः ।
एवं बुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥
य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते ।
नाऽसिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥
तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता ।
नैकांतसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥
नाऽतिप्रहीणरश्मिः स्यात्तथा भावविपर्यये ।
विषादमर्छेद् ग्लानिं वाऽप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पांडव ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥
शमं चेत्ते करिष्यंति ततोऽनन्तं यशो मम ।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥
ते चेदभिनिवेक्ष्यंते नाऽभ्युपेष्यंति मे वचः ।
कुरवो युद्धमेवाऽत्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥
अस्मिन्युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः ।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद्वोढव्य इतरो जनः ॥ १८ ॥
अहं हि यंता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति ।
धनंजयस्यैष कामो नहि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

और कोई कारण नहीं है । ज्ञान या प्रायश्चित्त के द्वारा सञ्चित पापों का विनाश होता है । श्रुतियों और स्मृतियों के प्रसिद्ध वाक्य ही इसके प्रमाण हैं ॥८।१०॥ इसलिए लोकनिर्वाह का एकमात्र उपाय कर्म ही है । दैव और पौरुष दोनों की अनुकूलता और मेल से काम बनते हैं । यही सोचकर प्रत्येक काम करना चाहिए ॥११॥ इस प्रकार कर्तव्य समझकर जो लोग काम करते हैं वे सफलता न होने पर खेद नहीं करते और सफलता होने पर आनन्द भी नहीं मनाते। इस विषय में तुमसे मुझे यही कहना है ॥१२॥ मेरा कहना यह नहीं है कि शत्रुओं से युद्ध करने में सफलता होगी ही ॥१३॥ इस अभिप्राय से भी मैंने तुमसे उस तरह की बातें कही थीं कि चिन्ता की बेचैनी के समय एकदम निस्तेज या सुस्त हो जाना उचित नहीं है ॥१४॥ अस्तु, मैं कल कुरु-सभा में जाकर तुम्हारे स्वार्थ पर दृष्टि रखकर सन्धि होने का उपाय करूँगा । इसके लिए मैं भरपूर यत्न करूँगा ॥१५॥ जो उन लोगों ने मान लिया तो उन्हें मङ्गल, समृद्धि और जीवन, तुम्हें अभीष्ट और मुझे यश प्राप्त होगा ॥१६॥ किन्तु दुर्बुद्धि कौरवगण जो मेरी बातों का अनादर करके अपने हठ पर ही अड़े रहेंगे तो विकट सग्राम होगा ही ॥१७॥ हे भीम ! इस युद्ध का सब भार तुम्हारे ही ऊपर है । तुमको और अर्जुन को युद्ध का

तस्मादाशंकमानोऽहं वृकोदर मतिं तव ।
गदतः क्लीवया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

भार लेकर इन योद्धाओं का सञ्चालन करना होगा। युद्ध तो मैं भी करना चाहता था, पर अर्जुन की यही इच्छा है कि मैं उनका सारथी बनूँ। इसलिए मुझे सारथी का काम करना होगा। तुम्हारी बुद्धि से शङ्कित होकर, तुम्हें कायरों की सी निस्तेज बात कहते देखकर, तुम्हें उत्तेजित करने के लिए ही मैंने यह कठोर वचन कहे थे ॥१८।२०॥

—o—

उद्योगपर्व का सतत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

अथ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

अर्जुन उवाच—उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद्वाच्यं जनार्दन ।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशममत्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो ।
लोभाद्वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद्वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥
अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम् ।
न चांऽतरेण कर्माणि पौरुषेण बलोदयः ॥ ३ ॥
तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत् ।
न चैनदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥
किंचैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम् ।
कुर्वंति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥
संपाद्यमानं सम्यक्च स्यात्कर्म सफलं प्रभो ।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत्परैः ॥ ६ ॥

अठहत्तरवां अध्याय ॥ ७८ ॥

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, सो तो महाराज युधिष्ठिर ही कह चुके। किन्तु आपके कहने से मुझे जान पड़ा कि धृतराष्ट्र के लोभ और हमारी हीन अवस्था को देखकर आप सन्धि का होना सहज नहीं समझते ॥१।२॥ आपने यह भी कहा था कि पराक्रम के बिना सभी काम निष्फल होते हैं और पौरुष के बिना कोई भी काम सिद्ध होने की या फल पाने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में आपका यह कहना ठीक हो है; किन्तु सभी जगह कदापि ऐसा नहीं होता। किसी बात को बिलकुल असाध्य या असम्भव न समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आप हमारी यह विषम दशा होने और क्लेश सहने के कारण शिथिलता देखकर सन्धि का होना दुर्घट समझते हैं सही; किन्तु दुःशासन, कर्ण और शकुनि आदि दुराचारी लोग हमें व्यर्थ ही क्लेश दे रहे हैं, इसलिए सन्धि का प्रस्ताव अच्छी तरह योग्यता के साथ किये जाने पर सफलता प्राप्त हो भी सकती है। अतएव आप यथा-

पांडवानां कुरूणां च भवान्नः प्रथमः सुहृत् ।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ॥ ७ ॥
कुरूणां पांडवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम् ।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ॥ ८ ॥
एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन ।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ॥ ९ ॥
चिकीर्षितमथाऽन्यत्ते तस्मिन्वीर दुरात्मनि ।
भविष्यति च तत्सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ॥ १० ॥
शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम् ।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः ।
न स नाऽर्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबांधवः ॥ ११ ॥
येन धर्मसुते दृष्टा न सा श्रीरुपमर्षिता ।
यच्चाऽप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ॥ १२ ॥
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना ।
कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ॥ १३ ॥
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
अधर्मेण जितान्दृष्ट्वा वने प्रव्राजितांस्तथा ॥ १४ ॥
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः ।
न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि ।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना चेतरेण वा ॥ १५ ॥

शक्ति कौरवों से सन्धि हो जाने के लिए प्रयोग कीजिएगा ॥३।६॥ हे वीर! प्रजापति ब्रह्मा जैसे देवता और दैत्य दोनों के हितचिन्तक हैं वैसे ही आप भी पाण्डवों और कौरवों के प्रधान हितैषी हैं ॥७॥ इसलिए शान्ति की स्थापना करके दोनों दलों के मानसिक सन्ताप को दूर कीजिए। जान पड़ता है कि प्रयत्न करने से दोनों पक्षों का हित करना आपके लिए सहज ही है, कठिन नहीं ॥८॥ एक बार वहां जाने से ही आप अपने कर्तव्य कार्य में सफल हो सकेंगे हे वीर! दुरात्मा दुर्योधन के साथ यदि और तरह का व्यवहार होना आप ठीक समझते हैं तो वह भी आपकी इच्छा के अनुसार सिद्ध होगा। तात्पर्य यह है कि आप विचार करके, सन्धि के लिए या युद्ध के लिए, जैसी सम्मति देंगे या निश्चय करेंगे, उसे ही हम स्वीकार करेंगे—उसे ही हम अपने लिए गौरव जनक समझेंगे। हे जनार्दन! उस दुष्ट दुर्योधन ने धर्मराज की सुख समृद्धि को न देख सकने के कारण बुरे विचार से, कपट-द्यूत क्रीड़ा के निर्दय उपाय से, उनका राज्य और धन ले लिया है। इस कारण बन्धु बान्धव-पुत्र आदि के साथ उसे मारना किसी तरह अनुचित नहीं ॥९।१२॥

क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कौन धनुर्द्धर पुरुष युद्ध के लिए ललकारे जाने पर जान बचाकर उससे विमुख हो सकता है? दुर्योधन ने जिस समय अधर्म से

अथवा मन्यसे ज्यायान्वधस्तेषामनंतरम् ।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ॥ १६ ॥
जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ॥ १७ ॥
स नाम सम्यग्वर्तेत पांडवेष्विति माधव ।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ॥ १८ ॥
तस्माद्यन्मन्यसे युक्तं पांडवानां हितं च यत् ।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनंतरम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

जीतकर हमें वन भेजा, उसी समय वह हमारा वध्य हो चुका। हे वासुदेव! अपने मित्र की भलाई के लिए तुम्हारी युद्ध की इच्छा होना कुछ अनुचित नहीं है। अत्यन्त कोमलता या अत्यन्त उग्रता दिखाना कभी ठीक नहीं। ऐसा करना युक्ति से भी सिद्ध नहीं है। किन्तु यदि कौरवों का संहार ही आपको अच्छा जान पड़े तो आप शीघ्र ही उसका उद्योग करा सकते हैं। अब और अधिक विचारने की आवश्यकता नहीं ॥१३।१६॥ हे यदुनन्दन! द्रौपदी को सभा में लाकर पापबुद्धि दुर्योधन ने जैसा क्लेश दिया है और हमने जैसे उसके अत्याचार सहे हैं, सो आपसे छिपा नहीं है। मुझे भी जान पड़ता है कि वह पाण्डवों से न्याय का व्यवहार न करेगा; बल्कि ऊसर में बीज बोने की तरह सब यत्न व्यर्थ होंगे। इसलिए हे माधव! इस समय वही समयोचित कार्य कीजिए जिससे पाण्डवों का कल्याण हो ॥१७।१९॥

उद्योगपर्व का अठहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७८ ॥

अथ ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

श्रीभगवानुवाच—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पांडव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥ १ ॥
सर्वं त्विदं ममाऽऽयत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥ २ ॥
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत्फलम् ।
तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्न कारितम् ॥ ३ ॥

उन्नासीवां अध्याय ॥ ७९ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! तुम्हारा यह कहना सत्य है। जिसमें कौरव और पाण्डव दोनों का कल्याण हो वही मेरा कर्तव्य है। सन्धि और युद्ध, दोनों बातें मेरे हाथ में हैं। किन्तु इस बारे में मुझे जो कुछ कहना है सो सुनो;—उपजाऊ भूमि में विधिपूर्वक हल चलाने और बीज बोने पर भी, वर्षा के बिना, फसल उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक काम के लिए यही कहा जा सकता है। किसी काम में उद्योग करना जल-वर्षा के समान माना गया है। किन्तु जैसे कभी-कभी वर्षा होने पर भी दैवयोग से

तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।
तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥ ४ ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।
अहं हि तत्करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥ ५ ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।
स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥ ६ ॥
नहि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।
तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयंत्यस्य मंत्रिणः ॥ ७ ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।
स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥ ८ ॥
अंतरेण वधं पार्थ सानुबंधः सुयोधनः ।
न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥ ९ ॥
न तु मन्ये स तद्वाच्यो यद्युधिष्ठिरशासनम् ।
उक्तं प्रयोजनं यत्तु धर्मराजेन भारत ॥ १० ॥
तथा पापस्तु तत्सर्वं न करिष्यति कौरवः ।
तस्मिंश्चाऽक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥ ११ ॥
मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥ १२ ॥

फसल मारी जाती है, वैसे ही उद्योग करने पर भी दैव के द्वारा काम बिगड सकता है। प्राचीन पण्डितों का कहना है कि दैव और उद्योग दोनों के बिना काम नहीं बनता ॥१।५॥ मैं यथाशक्ति उद्योग कर सकता हूँ कि सन्धि हो जाय; किन्तु जो दैव ही उसका विरोधी हुआ तो उसे टालना मेरी शक्ति से बाहर है। दुर्मति दुर्योधन अनुचित कर्म करके भी लज्जित नहीं होता। उसके हृदय में उसके लिए सन्ताप भी नहीं होता। शकुनि, कर्ण आदि मन्त्री और भाई दुःशासन उसे बहकाये हुए हैं। इसीसे उसकी पापबुद्धि दिन दिन बढती ही जाती है। इससे जान पडता है कि दुर्योधन राज्य देकर सन्धि नहीं करेगा।६।८॥ इस कारण उसे मारे बिना राज्य मिलने की सम्भावना नहीं। इधर राज्य छोडकर शान्ति स्थापित करना युधिष्ठिर को पसन्द नहीं है, उधर प्रार्थना करने पर भी दुष्ट दुर्योधन पाण्डवों को राज्य नहीं देगा। मेरी समझ में उसके आगे युधिष्ठिर की नम्र बातों का कहना अयोग्य होगा; क्योंकि पापी दुर्योधन उन बातों को कभी न मानेगा। तब वह मेरे लिए और सब लोगों के लिए वध्य होगा ॥९।११॥

हे भारत! वह दुष्ट तुम लोगों की बाल्यावस्था में सदा तुम्हारा अनिष्ट करने की धुन में रहा है। अन्त में युधिष्ठिर के अतुल ऐश्वर्य को न देख सकने के कारण असत् उपाय से उसने तुम्हारा राज्य छीन

विप्रलुब्धं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।
नचोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
असकृच्चाऽप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।
न मया तद्गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥
जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥ १५ ॥
संजानंस्तस्य चाऽऽत्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाऽद्याऽभिशंकसे ॥ १६ ॥
यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाऽप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत्परैः ॥ १७ ॥
यत्तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पांडव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥ १८ ॥
कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥ १९ ॥
तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया ।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ॥ २० ॥
सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम् ।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

लिया ॥१२।१३॥ उस क्रूर ने कई बार मुझे तुमसे फोड़ने की चेष्टा की है; किन्तु उसके कुचक्र को मैंने पसन्द नहीं किया। हे महाबाहु! उसके अभिप्राय को तुम भी अच्छी तरह से जानते हो। यह भी तुमसे छिपा नहीं है कि मैं धर्मराज का शुभचिन्तक हूं। फिर क्यों तुम ऐसी आशङ्का कर रहे हो जैसे मेरे हृदय का हाल जानते ही न हो? तुम साधारण मनुष्य नहीं हो, पृथ्वी का भार उतारने के लिए देवलोक से पृथ्वी पर आये हो ॥१४।१७॥ हे पार्थ! शत्रुओं से मेल होना अत्यन्त कठिन है। जो हो, वाणी और कर्म से मैं जो कर सकता हूँ वह करके सन्धि का उपाय करूँगा; परन्तु मुझे उसमें सफलता पाने की आशा बिलकुल नहीं। गोधन-हरण के समय तुम्हारे अज्ञातवास का वर्ष पूरा हो चुका था। महात्मा भीष्म ने उसी समय राज्य देकर तुमसे मेल कर लेने के लिए दुर्योधन से अनुरोध किया था; परन्तु वह दुष्ट प्रसन्न नहीं हुआ। वह थोड़ा सा राज्य देने को भी तैयार नहीं। हे अर्जुन! तुमने जब उसे मारने का निश्चय कर लिया है तब वह अवश्य मारा जायगा। मैं पहले धर्मराज की आज्ञा के अनुसार सन्धि की यथाशक्ति चेष्टा करके पीछे उस दुरात्मा के पाप-कार्यों पर विचार करूँगा ॥१८।२१॥

उद्योगपर्व का उन्नासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७९ ॥

अथ अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

नकुल उवाच—उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव ।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत्त्वया ॥ १ ॥
मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव ।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवाऽऽत्मनः ॥ २ ॥
तथैव फाल्गुनेनाऽपि यदुक्तं तत्त्वया श्रुतम् ।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवताऽसकृत् ॥ ३ ॥
सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान् ।
यत्प्राप्तकालं मन्येथास्तत्कुर्याः पुरुषोत्तम ॥ ४ ॥
तस्मिंस्तस्मिन्निमित्ते हि मतं भवति केशव ।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ॥ ५ ॥
अन्यथा चिंतितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥
अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु ।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ॥ ७ ॥
अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा ।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा संप्रति वर्तते ॥ ८ ॥
निवृत्तवनवासान्नः श्रुत्वा वीर समागताः ।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ९ ॥
इमान्हि पुरुषव्याघ्रानचिंत्यबलपौरुषान् ।
आत्तशस्त्रान्रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ॥ १० ॥

अस्सीवां अध्याय ॥ ८० ॥

नकुल ने कहा—हे माधव ! उदार धर्मज्ञ धर्मराज ने जो कुछ कहा, उनके वचन सुनकर भीमसेन और अर्जुन ने जिस तरह सन्धि का उल्लेख किया और अपने पराक्रम का परिचय दिया, सो सब सुनकर आप अपनी सम्मति प्रकट कर चुके। किन्तु यदि आपके मत से शत्रुओं का मत नहीं मिला, तो फिर विचारपूर्वक कर्तव्य कार्य का निश्चय करना होगा। १।४।

हे केशव ! कारण के अनुसार ही मनुष्य को कार्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दृढ़ करनी चाहिए। ऐसा करने से ही मनुष्य उपयुक्त रूप से काम पूरा कर सकता है। कार्य के बारे में सोचा कुछ जाता है, पर करने के समय और का और हो जाता है ॥५।६॥

सभी मनुष्यों की बुद्धि अस्थिर होती है। जब हम वन में रहते थे तब हमारी बुद्धि और तरह की थी, और अब और तरह की हो गई है। इस समय शत्रुओं से राज्य ले लेने की जैसी उत्कण्ठा हो रही है वैसी वनवास के समय नहीं थी। हे जनार्दन ! आपकी कृपा से हम वनवास की अवधि पूरी करके लौट आये

स भवान्कुरुमध्ये तं सांत्वपूर्वं भयोत्तरम् ।
ब्रूयाद्वाक्यं यथा मंदो न व्यथेत सुयोधनः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चाऽपराजितम् ।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव ॥ १२ ॥
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम् ।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव ॥ १३ ॥
काशिराजं च विक्रांतं धृष्टकेतुं च चेदिपम् ।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुद्ध्येत को युधि ॥ १४ ॥
स भवान्गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम् ।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम् ॥ १५ ॥
विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः ।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयाऽनघ ॥ १६ ॥
ते चैनमनुनेष्यंति धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम् ॥ १७ ॥
श्रोता चाऽर्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन ।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्याय ॥ ८० ॥

है, यह सुनकर राजाओं की यह सात अक्षौहिणी सेना हमारे पास आ गई है। अचिन्त्य बल और पौरुष से युक्त इन पुरुषसिंहों को युद्ध के लिए शस्त्र धारण करते देखकर किसका चित्त व्यथित न हो उठेगा? ॥७।१०॥ आप कौरवों के पास जाकर उनको पहले समझाइएगा। यदि वे न मानें तो पीछे युद्ध का भय दिखाइएगा। ऐसे वचन कहिएगा जिसमें मन्दबुद्धि दुर्योधन को व्यथा न पहुचे ॥११॥ हे महाभाग! युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव, बलराम, महारथी सात्यकि, महात्मा विराट, राजा द्रुपद, धृष्टद्युम्न, काशिराज, चेदिराज धृष्टकेतु, आप और मैं, इन लोगों से युद्ध करने का साहस कौन करेगा? ॥१२।१४॥

इससे मुझे स्पष्ट ज्ञात पड़ता है कि आप कौरव-सभा में जाकर धर्मराज का अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं। ।१५। महात्मा विदुर, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, बाह्लीक आदि बुद्धिमान् पुरुष आपकी बातों का मर्म समझकर महाराज धृतराष्ट्र और मन्त्रियों-सहित दुरात्मा दुर्योधन को अच्छी तरह समझावेंगे। हे जनार्दन! आप जैसे वक्ता और विदुर जैसे श्रोता हों तो कौन सा कार्य सिद्ध हुए बिना रह सकता है? ॥१६।१८॥

उद्योगपर्व का अस्सीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

अथ एकाशीतितमोऽध्याय ॥ ८१ ॥

सहदेव उवाच—यदेतत्कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः ।
यथा च युद्धमेव स्यात्तथा कार्यमरिंदम ॥ १ ॥

यदि प्रथममिच्छेयुः कुरवः पांडवैः सह ।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः ॥ २ ॥
कथं नु दृष्ट्वा पांचालीं तथा कृष्ण सभागताम् ।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने ॥ ३ ॥
यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः ।
धर्ममुत्सृज्य तेनाऽहं योद्धुमिच्छामि संयुगे ॥ ४ ॥
सात्यकिरुवाच—सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः ।
दुर्योधनवधे शांतिस्तस्य कोपस्य मे भवेत् ॥ ५ ॥
न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान्वने ।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान्प्रेक्ष्य पांडवान् ॥ ६ ॥
तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः ।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद्योधानां तत्र सर्वशः ॥ ८ ॥
सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयंतो युयुत्सवः ॥ ९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इक्यासी अध्याय ॥ ८१ ॥

सहदेव ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! महाराज युधिष्ठिर ने सन्धि के लिए जो कुछ कहा है, वह यद्यपि ठीक है तो भी आप वही कीजिएगा जिसमें युद्ध हो ॥१॥ यदि कौरव लोग हमारे साथ सन्धि कर लेना स्वीकार कर लें, तो भी आप उनसे युद्ध का ही प्रस्ताव कीजिएगा ॥२॥ हे श्रीकृष्ण ! मैंने सभा में द्रौपदी का वैसा अपमान होते देखा है, फिर शत्रुओं से युद्ध किये विना कैसे रह सकता हूं ? ॥३॥ युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल जो धर्म के अनुरोध से युद्ध नहीं करेंगे तो मैं अकेला धर्म छोड़कर दुर्योधन से युद्ध करने के लिए तैयार हूं । [मूर्ख दुर्योधन से मेरी ओर से कहिएगा कि हम लोग या तो बन में कष्ट सहेंगे और या हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठेंगे ।] ॥४॥ सात्यकि ने कहा—हे महाबाहु ! बुद्धिमान् सहदेव ने ठीक कहा है । दुर्योधन को मारने से ही मेरा क्रोध शान्त होगा ॥५॥ क्या आप भूल गये कि चीर और मृगछाला धारण किये दुःखित पाण्डवों को वन जाते देखकर आप भी अत्यन्त क्रोधित हो उठे थे ? ॥६॥ समर में दुर्धर्ष सहदेव ने जो कहा है वही सब योद्धाओं का मत है ॥७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! समर की इच्छा रखनेवाले सब योद्धाओं ने प्रसन्नतापूर्वक सात्यकि के कथन का अनुमोदन किया ॥८॥ चारों ओर साधुवाद और सिंहनाद का कोलाहल सुन पड़ने लगा ॥९॥

उद्योगपर्व का इक्यासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ॥ १ ॥
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा ।
संपूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ॥ २ ॥
भीमसेनं च संशांतं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ॥ ३ ॥
विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन ।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पांडवाः सुखात् ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन ।
यथा च संजयो राज्ञा मंत्रं रहसि श्राविनः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव ।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ ६ ॥
पंच नस्तात दीयंतां ग्रामा इति महाद्युते ।
अविस्थलं वृकस्थलं माकंदीं वारणावतम् ॥ ७ ॥
अवसाने महाबाहो कंचिदेकं च पंचमम् ।
इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चाऽस्य केशव ॥ ८ ॥
न चापि ह्यकरोद्वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः ।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह श्रीमतः संधिमिच्छतः ॥ ९ ॥
अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः ।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथंचन ॥ १० ॥

बयासी अध्याय ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! बड़े-बड़े केशोंवाली द्रौपदी युधिष्ठिर के धर्मार्थयुक्त हितकारी वचन सुनकर और भीमसेन को शान्ति का प्रस्ताव करते देखकर शोक में व्याकुल हो उठीं। उन्होंने महारथी सात्यकि और सहदेव की प्रशंसा की ॥१।२॥ फिर नेत्रों में आँसू भरकर सामने बैठे हुए श्रीकृष्ण से कहने लगीं—हे कृष्णचन्द्र ! मन्त्रियों सहित दुर्योधन के क्रूर व्यवहार से पाण्डव लोग जिस तरह राज्य-सुख से भ्रष्ट हुए हैं और इस समय एकान्त में सञ्जय जो कुछ राजा युधिष्ठिर से कह गये हैं, सो सब आप जानते हैं ॥३।५॥ सञ्जय से युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा वह भी आप सुन चुके। युधिष्ठिर ने सन्धि का प्रस्ताव करके आपके आगे ही कहा है कि "हे तात सञ्जय ! तुम दुर्योधन और उसके मित्रों से कहना कि हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और कोई एक और गाँव देकर सन्धि कर लें। मैं इतने में ही प्रसन्न हो जाऊँगा।" सञ्जय ने जाकर दुर्योधन से यह बात कही, परन्तु

शक्ष्यंति हि महाबाहो पांडवाः सृंजयैः सह ।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ॥ ११ ॥
नहि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन ।
तस्मात्तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ॥ १२ ॥
साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यंति शत्रवः ।
योक्तव्यस्तेषु दंडः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ १३ ॥
तस्मात्तेषु महादंडः क्षेप्तव्यः क्षिप्रमच्युत ।
त्वया चैव महाबाहो पांडवैः सह सृंजयैः ॥ १५ ॥
एतत्समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम् ।
क्रियमाणं भवेत्कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ॥ १५ ॥
क्षत्रियेण हि हंतव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः ।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ १६ ॥
अन्यत्र ब्राह्मणात्तात सर्वपापेष्ववस्थितात् ।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ १७ ॥
यथाऽवध्ये वध्यमाने भवेद्दोषो जनार्दन ।
स वध्यस्याऽवधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ १८ ॥
यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु ।
पांडवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ॥ १९ ॥
पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रंभेण जनार्दन ।
का तु सीमंतिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥ २० ॥

वह इस पर भी प्रसन्न नहीं हुआ ॥६।९॥

हे केशव ! आप कौरवों की सभा में जाइए; जो दुर्योधन आधा राज्य न देकर सन्धि करने का प्रस्ताव करे तो आप उसे कभी स्वीकार न कीजिएगा ॥१०॥ पाण्डव और सृञ्जय मिलकर सहज ही सैन्य-सामन्त-सहित दुर्योधन को हरा सकते हैं ॥११॥ साम या दान के द्वारा कौरवों से कार्य सिद्ध होने की आशा नहीं है । इसलिए आप उन पर तनिक भी कृपा न कीजिएगा ॥१२॥ शत्रु यदि साम या दान के द्वारा न मानें तो उन्हें, अपने जीवन और जीविका की रक्षा के लिए, दण्ड देना ही चाहिए ॥१३॥ इस कारण पाण्डव, पाञ्चाल और आप-सहित यादव, सबको मिलकर कौरवों से युद्ध करना चाहिए ॥१४॥ इससे आप यशस्वी होंगे और क्षत्रियों को भी सुख मिलेगा ॥१५॥ ब्राह्मण को छोड़कर यदि क्षत्रिय या अन्य कोई जातिवाले लोभवश अधर्म करें तो उन्हें मारना क्षत्रिय का धर्म और कर्तव्य है ॥१६॥ ब्राह्मण सब वर्णों का गुरु और पूजनीय है, इस कारण पाप (अन्याय) करने पर भी वह अवध्य है ॥१७॥ हे जनार्दन ! धर्मज्ञ पण्डितों का कहना है कि अवध्य का वध करने से जो पाप होता है वही पाप वध्य का वध न करने से होता है ॥१८॥ इसलिए ऐसा

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात्समुत्थिता ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥ २१ ॥
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पांडोर्महात्मनः ।
महिषी पांडुपुत्राणां पंचेंद्रसमवर्चसाम् ॥ २२ ॥
सुता मे पंचभिर्वीरैः पंच जाता महारथाः ।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥ २३ ॥
साऽहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता ।
पश्यतां पांडुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥ २४ ॥
जीवत्सु पांडुपुत्रेषु पंचालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूताऽस्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥
निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पांडुषु ।
पाहि मामिति गोविंद मनसा चिंतितोऽसि मे ॥ २६ ॥
यत्र मां भगवान्राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व पांचालि वरार्हाऽसि मता मम ॥ २७ ॥
अदासाः पांडवाः संतु सरथाः सायुधा इति ।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव ॥ २८ ॥
एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन ।
त्रायस्व पुंडरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबांधवान् ॥ २९ ॥
नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।

उपाय कीजिए जिसमें आपको पाण्डवों, पाञ्चालों और यादवों के साथ उस पाप का भागी न बनना पड़े ॥१९॥ हे केशव ! इस पृथ्वी पर मेरे समान दुखिया स्त्री और कौन होगी ? ॥२०॥ मैं महाराज द्रुपद की अयोनिजा कन्या, धृष्टद्युम्न की बहन, आपकी प्रिय सखी, अजमीढ़वंश में उत्पन्न पराक्रमी पाण्डु राजा की बहू और इन्द्र-सदृश तेजस्वी पांचों पाण्डवों की पत्नी हूँ ॥२१।२२॥ इन पाण्डवों के वीर्य से, मेरे गर्भ से, पांच महारथी पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं। आपके लिए जैसे अभिमन्यु है वैसे ही वे कुमार भी हैं ॥२३॥ हे कृष्णचन्द्र ! मैं ऐसी सौभाग्यवती होकर पाण्डवों के सामने, आपके जीते-जी, सभा में सबके सामने अपमानित की गई ! मैंने वह क्लेश भी सह लिया ॥२४॥ उस समय मैंने पाण्डवों को क्रोधरहित और निश्चेष्ट होकर परस्पर मुंह ताकते देखकर मन ही मन "हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो !" कहकर आपको ही स्मरण किया था॥२५।२६॥ हे कृष्णचन्द्र ! जिस समय मेरे ससुर महाराज धृतराष्ट्र ने मुझसे कहा कि "हे पाञ्चाली ! तुम मुझसे वरदान पाने के योग्य हो, इसलिए वरदान मांगो," ॥२७॥ उस समय मैंने उनसे यही वर मांगा था कि पाण्डव अपने रथ और शस्त्र पाकर दास-भाव से छुटकारा पा जायँ। मेरे वर मांगने से ही पाण्डव दास-भाव से छूटे हैं ॥२८॥ हे कमल-नयन ! आप मेरे इस दुःख का सब हाल

स्नुषा भवामि धर्मेण साऽहं दासी कृता बलात् ॥ ३० ॥
धिक्पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग्बलम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ३१ ॥
यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि ।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम् ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम् ।
सुनीलमसितापांगी सर्वगंधाधिवासितम् ॥ ३३ ॥
सर्वलक्षणसंपन्नं महाभुजगवर्चसम् ।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना ॥ ३४ ॥
पद्माक्षी पुंडरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी ।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
अयं ते पुंडरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता ॥ ३६ ॥
यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ॥ ३७ ॥
पंच चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यंते कुरुभिः सह ॥ ३८ ॥
दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुंठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि का शांतिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥
त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षंत्या गतानि मे ।

जानते हैं। इसलिए भाई, पति और बान्धवों-सहित मुझको इस दुःख से उबारिए ॥२९॥ मैं भीष्म और धृतराष्ट्र की धर्म की बहू हूं। मुझे कौरवों ने बलपूर्वक दासी बनाना चाहा था ॥३०॥ मेरा ऐसा अपमान करके भी यदि दुर्योधन जीता बच जाय तो अर्जुन के धनुष धारण करने को और भीमसेन के बली होने को धिक्कार है ॥३१॥ हे श्रीकृष्ण! यदि आप मुझे अनुग्रह और कृपा के योग्य समझते हैं, तो शीघ्र दुर्योधन आदि को अपने क्रोध की अग्नि में भस्म कर दीजिए ॥३२॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कमलनयनी सुन्दरी गजगामिनी द्रौपदी सुगन्ध से सुवासित, सुलक्षणों से युक्त, महासर्प-सदृश बिखरे हुए अपने केशों को बायें हाथ में लेकर, आंखों में आंसू भरे हुए, गिड़गिड़ाकर कहने लगी—हे श्रीकृष्ण! शत्रु जब सन्धि की इच्छा प्रकट करें तब, कर्तव्य निश्चित करते समय, दुःशासन के हाथ से खींचे गये मेरे इन बालों को स्मरण रखिएगा।३३।३६।

जो भीमसेन और अर्जुन युद्ध से विमुख होकर दीन भाव से सन्धि करने को तैयार हो जायंगे तो मेरे वृद्ध पिता, मेरे महारथी भाई और महा पराक्रमी अभिमन्यु-सहित मेरे पांचों पुत्र कौरवों से युद्ध करेंगे ॥३७।३८॥ जब तक दुष्ट दुःशासन के काले हाथ

विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥
विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्शल्यपीडितम् ।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवाऽनुपश्यति ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कंठेनाऽऽयतलोचना ।
रुरोद कृष्णा सोत्कंपं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥ ४२ ॥
स्तनौ पीनायनश्रोणी सहिताविभवर्षति ।
द्रवीभूतमिवाऽत्युष्णं मुंचती वारि नेत्रजम् ॥ ४३ ॥
तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसांत्वयन् ।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥ ४४ ॥
एवं ता भीरु रोत्स्यंति निहतज्ञातिबांधवाः ।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धाऽसि भामिनी ॥ ४५ ॥
अहं च तत्करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह ।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ ४६ ॥
धार्तराष्ट्राः कालपका न चेच्छृण्वंति मे वचः ।
शेष्यंते निहता भूमौ श्वसृगालादनीकृताः ॥ ४७ ॥
चलेद्धि हिमवाञ्शैलो मेदिनी शतधा फलेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ४८ ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम् ।
हतमित्राञ्श्रियायुक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

को काटकर धूल में लोटते न देख लूंगी तब तक मुझे शान्ति कहां ? ॥३९॥ जल रही अग्नि के समान क्रोध को अपने हृदय में दबाकर तेरह वर्ष तक मैं क्लेश सहती रही हूं । मुझे अभी तक शान्ति मिलती नहीं देख पड़ती ॥४०॥ आज भीमसेन के कातर वचन मेरे हृदय में बाण की तरह लगे हैं, मेरा कलेजा फटा सा जा रहा है । महाबाहु भीमसेन भी आज मेरा विचार न करके धर्म का ध्यान घर रहे हैं ! ॥४१॥ विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी अब सिसक-सिसककर रोने लगी । असह्य वेदना से उनका शरीर कांपने लगा ॥४२॥ उस समय गर्म आंसुओं के गिरने से उनके स्तन भीग गये, जिसके देखने से महा कठोर हृदय वाला मनुष्य भी हो तो उसको दया आ जाती ॥४३॥ तब महाबाहु कृष्णचन्द्र उन्हें धीरज देते हुए कहने लगे—हे पाञ्चाली ! तुम शीघ्र अपनी तरह कौरवों की स्त्रियों को रोते-कलपते देखोगी ॥४४॥ तुम जैसे दुखी हो रही हो वैसे ही जातिवालों और बान्धवों के मरने से कुरुकुल की कामिनियां दुःख पावेंगी ॥४५॥ मैं युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव के द्वारा कौरवों का नाश कराऊंगा ॥४६॥ दुर्योधन आदि मेरी बात नहीं सुनेंगे तो कालवश होकर पृथ्वी पर पड़े होंगे और कुत्ते-सियार-

गिद्ध उन्हें नोच-नोचकर खायँगे॥४७॥ चाहे हिमालय अपनी जगहसे टल जाय,नक्षत्रों-सहित आकाशमण्डल गिर पड़े, पृथ्वी के सैंकड़ों टुकड़े हो जायँ, पर मेरा कहा असत्य नहीं हो सकता ॥४८॥ रोना बन्द करो; मैं सत्य कहता हूं, तुम शीघ्र देखोगी कि तुम्हारे पतियों ने शत्रुओं को मार डाला है और वे राज्य भोग रहे हैं।४९।

उद्योगपर्व का बयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

अर्जुन उवाच—कुरूणामद्य सर्वेषां भवान्सुहृदनुत्तमः ।
संबंधी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥
पांडवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम् ।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ॥ २ ॥
त्वमितः पुंडरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम् ।
शांत्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत्तद्वाच्यममित्रहन् ॥ ३ ॥
त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम् ।
हितं नाऽऽदास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ ४ ॥
श्रीभगवानुवाच—धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम् ।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते ।
मैत्रे मुहूर्ते संप्राप्ते मृदूर्चिषि दिवाकरे ॥ ६ ॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदंते हिमागमे ।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्पः सत्त्ववतां वरः ॥ ७ ॥
मंगल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः ।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः ॥ ८ ॥

तिरासी अध्याय ॥ ८३ ॥

अर्जुन ने कहा—हे कृष्णचन्द्र ! तुम सब कुरुवंश के परम शुभचिन्तक और पाण्डव-कौरव दोनों के प्यारे हो । इसलिए वही उपाय करो जिसमें हमारा और दुर्योधन आदि का कल्याण हो । यदि तुम चाहो तो सन्धि का होना बहुत सहज है । हे वासुदेव ! तुम यहा से जाकर क्रोधी दुर्योधन से सन्धि का प्रस्ताव करना । यदि वह अल्पज्ञ उस पर भी प्रसन्न न होगा तो फिर वही होगा जो उसके भाग्य में लिखा होगा ॥१।४॥ श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! कौरवों की भलाई करना मेरे लिए बड़े हित और धर्म की बात है । इसलिए धृतराष्ट्र का अभिप्राय जानने को मैं शीघ्र ही कुरुसभा में जाऊंगा ॥५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुन में यों बातचीत हो ही रही थी कि रात्रि व्यतीत हो गई । सूर्य उदय होकर अपनी कोमल किरणें फैलाने लगे ॥६॥ यदुवंश-चूड़ामणि भगवान् वासुदेव ने कार्तिक के महीने में, रेवती नक्षत्र और मैत्र मुहूर्त में यात्रा की ॥७॥ उन्होंने पहले ब्राह्मणों और ऋषियों

कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वंतं पावकं च जनार्दनः ॥ ९ ॥
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन्कल्याणमग्रतः ॥ १० ॥
तत्प्रतिज्ञाय वचनं पांडवस्य जनार्दनः ।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम् ॥ ११ ॥
रथ आरोप्यतां शंखश्चक्रं च गदया सह ।
उपासंगाश्च शक्तयश्च सर्वप्रहरणानि च ॥ १२ ॥
दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ १३ ॥
ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः ।
प्रसस्रुर्योजयिष्यंतो रथं चक्रगदाभृतः ॥ १४ ॥
तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाऽशुगम् ।
सूर्यचंद्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम् ॥ १५ ॥
अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः ।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः ॥ १६ ॥
तरुणादित्यसंकाशं बृहंतं चारुदर्शनम् ।
मणिहेमविचित्रांगं सुध्वजं सुपताकिनम् ॥ १७ ॥
सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नंदिवर्धनम् ॥ १८ ॥

के मुंह से मङ्गलमय पुण्याहपाठ सुना ॥८॥ फिर स्नान सन्ध्या आदि करके उन्होंने वस्त्र-आभूषण पहनकर हवन किया और सूर्य की उपासना की ॥९॥ तब एक श्वेत बैल की पूंछ छूकर, ब्राह्मणों को प्रणाम और अग्नि की प्रदक्षिणा करके उन्होंने मङ्गलपदार्थों के दर्शन किये ॥१०॥ फिर युधिष्ठिर की बातें स्मरण करके श्रीकृष्ण ने अपने पास बैठे हुए सात्यकि से कहा—हे वीर ! मेरा रथ जुतवाकर उस पर शङ्ख, चक्र, गदा, तरकस, शक्ति और अन्य सब युद्ध की सामग्री रख दो ॥११।१२॥ प्रबल पुरुष को निर्बल शत्रु से भी लापरवाही न करनी चाहिए। फिर दुर्योधन शकुनि और कर्ण तो अत्यन्त दुष्ट हैं ॥१३॥ श्रीकृष्ण के अनुचर उनकी आज्ञा से रथ सजाने लगे ॥१४॥ वह रथ कालानल के समान प्रज्वलित था । चलता इस तरह था मानों आकाश में उड़ रहा हो । सूर्य और चन्द्र के समान उसके पहिये थे ॥१५॥ चन्द्र, अर्धचन्द्र, मछली, मृग, पक्षी आदि के चिह्न उसमें बने हुए थे । विविध विचित्र पुष्प, मणि और बहुत सा सुवर्ण उसमें लगा हुआ था । ध्वजा और पताका उस पर फहरा रही थीं । ऊपर से बाघ की खाल मढ़ी हुई थी । वह रथ शत्रुओं के यश को हरनेवाला और यादवों के आनन्द को बढ़ानेवाला था । आगे

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकैः ।
स्नातैः संपादयामासुः संपन्नैः सर्वसंपदा ॥ १९ ॥
महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाऽभिवर्धयन् ।
सुघोषः पतगेंद्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ॥ २० ॥
तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुंदुभिनिःस्वनम् ।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥ २१ ॥
ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
पृथिवीं चांऽतरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ २२ ॥
व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत ।
शिवश्चाऽनुववौ वायुः प्रशांतमभवद्रजः ॥ २३ ॥
प्रदक्षिणानुलोमाश्च मंगल्या मृगपक्षिणः ।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ॥ २४ ॥
मंगल्यार्थपदैः शब्दैरन्ववर्तत सर्वशः ।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ॥ २५ ॥
मंत्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः ।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ २६ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः ।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुतः कुशिको भृगुः ॥ २७ ॥
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम् ।
प्रदक्षिणमवर्तंत सहिता वासवानुजम् ॥ २८ ॥
एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः ।

रहनेवाले मनुष्यों ने दम भर में शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम के श्रेष्ठ चार घोडे उसमें लगा दिये । ध्वजा के अग्रभाग में पक्षिराज गरुड विराजमान हुए। देखने से जान पडता था कि वह रथ श्रीकृष्ण की महिमा की घोषणा कर रहा है॥१९।२०॥

चाहे जहा जा सकनेवाले विमान के समान और मेघ की सी घरघराहट से चलनेवाले,मेरुशिखरतुल्य ऊंचे रथ पर श्रीकृष्ण सवार हुए ॥२१॥ उनके पीछे पुरुषोत्तम भगवान् सात्यकि बैठ गये। रथ घोष से आकाश और पृथ्वी को कपाते हुए श्रीकृष्ण चल दिये ॥२२॥ क्षण भर में आकाश निर्मल हो गया ; शीतल और अनुकूल वायु चलने लगी । धूल का उड़ना बन्द हो गया ॥२३॥ मङ्गल सूचक मृग और पक्षी उनके पीछे चलने लगे ॥२४॥ हंस, सारस, शतपत्र पक्षी मङ्गल शब्द करते हुए श्रीकृष्ण के पीछे जा रहे थे ॥२५॥ मन्त्रों से पवित्र आहुतिया पाकर अग्निदेव धूमरहित और प्रज्वलित हो उठे । अग्नि की लपट दक्षिणावर्त होकर निकलने लगी ॥२६॥ वशिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि,मरुत्त, कुशिक भृगु आदि ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि यदुकुल-भूषण

पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ॥ २९ ॥
तं प्रयांतमनुप्रायात्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ३० ॥
चेकितानश्च विक्रांतो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखंडी च महारथः ॥ ३१ ॥
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह ।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥ ३२ ॥
ततोऽनुव्रज्य गोविंदं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ३३ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नाऽर्थकारणात् ।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥ ३४ ॥
धर्मज्ञो धृतिमान्प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥ ३५ ॥
तं सर्वगुणसंपन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
संपरिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥
युधिष्ठिर उवाच—या सा बाल्यात्प्रभृत्यस्मान्पर्यवर्धयताऽबला ।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ॥ ३७ ॥
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता ।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियाऽस्माकं जनार्दन ॥ ३८ ॥
सुयोधनभयाद्या नोऽत्रायताऽमित्रकर्शन ।
महतो मृत्युसंबाधादुद्धरेन्नौरिवाऽर्णवात् ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा करने लगे ॥२७।२८॥

उक्त महात्माओं से सत्कार पाकरके कृष्णचन्द्र कौरवसभा को चले। ॥२९॥ तब युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, महारथी द्रुपद, काशिराज, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, विराट और उनके पुत्र आदि सब क्षत्रिय कार्यसिद्धि की बातें करते हुए शिष्टाचार के लिए कुछ दूर तक श्रीकृष्ण को पहुंचाने गये ॥३०।३२॥

काम, क्रोध या भय के वश न होनेवाले, अन्याय की प्रवृत्ति से रहित, सब जीवों के स्वामि, निर्लोभ, धर्मज्ञ, धीर, सब प्राणियों के अन्तर्यामि, सब गुणों से अलंकृत, श्रीवत्सलाञ्छन, सनातन, देवदेव केशव को गले लगाकर धर्मराज युधिष्ठिर कहने लगे—हे जनार्दन! बाल्यावस्था से ही हमारा पालन करनेवाली, उपवास, तपस्या, स्वस्त्ययन, देवपूजा, अतिथि सत्कार और गुरुजन की सेवा में लगी रहनेवाली, अत्यन्त पुत्रवत्सला हमारी दुखिया माता कुन्ती से मिलकर उनकी कुशल पूछिएगा। उन्हें प्रसन्न देखना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य है। नाव जैसे महाभयङ्कर समुद्र से बचाती है वैसे ही उन्होंने

अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव ।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ॥ ४० ॥
भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम् ।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पांडवान्परिकीर्त्तयन् ॥ ४१ ॥
ऊढात्प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम ।
निकारानतदर्हा च पश्यंती दुःखमश्नुते ॥ ४२ ॥
अपि जातु स कालः स्यात्कृष्ण दुःखविपर्ययः ।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ॥ ४३ ॥
प्रव्रजंतोऽनुधावंतीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
रुदतीमुपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ॥ ४४ ॥
न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव ।
तथा पुत्राधिभिर्गाढमार्त्ता ह्यानर्त्तसत्कृत ॥ ४५ ॥
अभिवाद्याऽथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद्विभो ।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोधिकाः ॥ ४६ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम् ।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान्प्रति ॥ ४७ ॥
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मंत्रधारिणम् ।
अगाधबुद्धिं धर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ॥ ४८ ॥
इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः ।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४९ ॥
व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम् ।

बारम्बार हमें दुर्योधन के भय से बचाया है। हमारे लिए उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट सहन किये हैं। उन्हें हमारी ओर से प्रणाम करके हमारे सकुशल होने का समाचार सुनाइएगा। उन्हें बारम्बार तरह-तरह से ढाढ़स बँधाइएगा ॥३३।४१॥ वे विवाह से लेकर बराबर ससुराल में दुःख और अपमान भोगती आई हैं ॥४२॥ हे वासुदेव! क्या वह मेरे सौभाग्य का दिन आवेगा कि मैं अपनी दुखिया माता के दुःख दूर कर सकूँगा! ॥४३॥ वनवास के समय वे रोती और दौड़ती हुई हमारे पास आई थीं; किन्तु हम उन्हें वहीं छोड़ आये थे। ऐसा जान पड़ता है कि वे मरी नहीं हैं, बल्कि पुत्र-वियोग के दुःख से अत्यन्त क्षीण होकर भी जीती हैं ॥४४।४६॥ आप जाकर उन्हें, धृतराष्ट्र को और भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, बाह्लीक, सोमदत्त आदि वृद्ध क्षत्रियों और माननीय गुरुओं को मेरी ओर से प्रणाम कीजिएगा ॥४७॥ कुरुकुल के प्रधान मन्त्री, धीशक्ति-सम्पन्न, धर्मशील, महाप्राज्ञ विदुर को गले से लगाइएगा ॥४८॥ राजाओं के बीच में इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा की और उनसे-

अब्रवीत्परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ॥ ५० ॥
यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मंत्रनिश्चये ।
अर्धराज्यस्य गोविंद विदितं सर्वराजसु ॥ ५१ ॥
तच्चेद्दद्यादसंगेन सत्कृत्याऽनवमन्य च ।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन्महतो भयात् ॥ ५२ ॥
अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित् ।
अंतं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ॥ ५३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते पांडवेन समाहृष्यद्वृकोदरः ।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात्प्रावेपत च पांडवः ॥ ५४ ॥
वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान् ।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ॥ ५५ ॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा संप्रावेपंत धन्विनः ।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ॥ ५६ ॥
इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम् ।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ॥ ५७ ॥
तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः ।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ ५८ ॥
ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ।
पंथानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवांऽबरम् ॥ ५९ ॥
अथाऽपश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वानि केशवः ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानान्स्थितानुभयतः पथि ॥ ६० ॥

आज्ञा लेकर लौट पड़े ॥४९॥ अब अर्जुन ने अपने सखा वासुदेव से कहा—हे गोविन्द ! मन्त्रणा के समय हम आधा राज्य लेकर सन्धि करने के लिए तैयार थे, यह बात सब राजा लोग जानते हैं॥५०।५१॥

कौरव लोग यदि सादर हमारा भाग हमें दे दें तो हम सबका कल्याण है; नहीं तो मैं अवश्य सब क्षत्रियों का संहार करूँगा ॥५२।५३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अर्जुन की बातें सुनकर भीमसेन ने अत्यन्त प्रसन्न होकर बड़ा उत्साह प्रकट किया । फिर क्रोध के मारे वे सिंहनाद करने लगे ॥५४॥ उनका शरीर कांपने लगा ॥५५॥ उनके सिंहनाद को सुनकर बड़े-बड़े धनुर्द्धर कांप उठे; हाथी, घोड़े आदि ने भय के मारे मल-मूत्र कर दिया ॥५६॥ अब अर्जुन भी श्रीकृष्ण को गले लगाकर लौट पड़े ॥५७॥ सब राजाओं के लौट जाने पर श्रीकृष्ण शीघ्रता से हस्तिनापुर नगर की ओर बढ़े ॥५८॥ दारुक के हांके हुए घोड़े वायु से बातें करने लगे । देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे आकाश को लांघ जायँगे ॥५९॥ कुछ दूर जाने पर जनार्दन ने राह के आस-पास खड़े हुए

सोऽवतीर्य रथात्तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः ।
यथावृत्तानृषीन्सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥ ६१ ॥
कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद्धर्मः स्वनुष्ठितः ।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित्तिष्ठंति शासने ॥ ६२ ॥
तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः ।
भगवंतः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ॥ ६३ ॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः ।
केनार्थेनोपसंप्राप्ता भगवंतो महीतलम् ॥ ६४ ॥
तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम् ।
परिष्वज्य च गोविंदं सुरासुरपतेः सखा ॥ ६५ ॥
देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयंतस्तपस्विनः ।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ॥ ६६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षंतश्च सर्वतः ।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ॥ ६७ ॥
एतन्महत्प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव ।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ॥ ६८ ॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप ।
भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ॥ ६९ ॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ ।
तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव ॥ ७० ॥
श्रोतुमिच्छाम गोविंद सत्यानि च हितानि च ।

ब्रह्मतेज-सम्पन्न कई महर्षियों को देखा उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण शीघ्र ही रथ से उतर पड़े ॥६०॥ यथोचित अभ्यर्थना करके कृष्णचन्द्र ने कहा—हे महर्षियो ! सब लोक में कुशल तो है ? धर्मकार्य तो ठीक रीति से किये जा रहे हैं? ॥६१॥ क्षत्रिय आदि वर्ण ब्राह्मणों की आज्ञा पर चलते हैं न ? ॥६२॥ आप लोगों का कुछ कार्य हो तो कहिए। मैं आपकी क्या सेवा करूं ? आप यहां किस कार्य से आये हैं ? ॥६३॥

तब इन्द्र के सखा महर्षि परशुराम श्रीकृष्ण के पास आकर उन्हें गले से लगाकर कहने लगे—हे गोविन्द ! हममें कोई देवर्षि, बहुव्रतधारी ब्राह्मण, कोई राजर्षि और कोई तपस्वी है। हमने बहुत बार देवताओं और दैत्यों का युद्ध देखा है। इस समय हम कौरव-सभा में सभासदों और राजाओं के बीच आपको देखने के लिए जा रहे हैं। कौरव-सभा में आपके मुँह से धर्मार्थयुक्त मधुर वचन सुनने की हमें बड़ी अभिलाषा है। हे मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, विदुर आदि बुद्धिमान् लोग और आप जो कुछ कहेंगे वह सत्य और हितकारी होगा।

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ ७१ ॥
यास्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ॥ ७२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

हम वही सुनना चाहते हैं । हे यदुश्रेष्ठ ! आप अब कौरव-सभा को जाइए । हम वहीं दिव्य आसन पर बैठे हुए तेजस्वी आपको देखेंगे ॥६९।७२॥

—०—

उद्योगपर्व का तिरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रयांतं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ १ ॥
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन्प्रेष्याश्च शतशोऽपरे ॥ २ ॥
जनमेजय उवाच—कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य प्रयाणे यान्यासन्निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ॥ ४ ॥
अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युत्समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद्विघने भृशम् ॥ ५ ॥
प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिंधुसत्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥
प्राज्वलन्नग्नयो राजन्पृथिवी समकंपत ।

चौरासी अध्याय ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शत्रुसेना को पीड़ा पहुंचानेवाले शस्त्रधारी महाबली पराक्रमी दस महारथी वीर, एक हजार पैदल सिपाही और इतने ही सवार तथा बहुत सी भोजन-सामग्री लिये हुए सैकड़ों दास आदि श्रीकृष्ण के साथ चले ॥१।२॥ राजा जनमेजय ने कहा—हे तपोधन ! महात्मा श्रीकृष्ण की यात्रा का पूरा-पूरा वृत्तान्त कहिए । जाते समय विष्णु के अवतार कृष्णचन्द्र को कौन-कौन सगुन या असगुन हुए थे ? ॥३॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जाते समय महात्मा कृष्णचन्द्र को जो सगुन और असगुन देख पड़े सो मैं कहता हूं, सुनिए ॥४॥ उस समय आकाश में बिना बादल के बिजली चमकने और कड़कने लगी । फिर बिना बादल के जोर से जल बरसाने लगा ॥५॥ नदियां उलटी बहने लगीं । सातों समुद्र पूर्व को उमड़ चले । एकाएक दिशाओं में अंधेरा छा गया । नहीं जान पड़ता था कि कौन दिशा और कौन स्थान किधर है ॥६॥ अग्निदेव प्रज्वलित हो उठे । बारम्बार

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम् ।
न्यवेदयंत वेश्मानि रत्नवंति महात्मने ॥ २७ ॥
तान्प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः ।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात्सहैव तैः ॥ २८ ॥
सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः ।
भुक्त्वा च सह तैःसर्वैरवसत्तां क्षपां सुखम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण लोग शत्रुदमन कृष्णचन्द्र के पास आये। उन्होंने कृष्णचन्द्र का स्वागत किया, आशीर्वाद दिये। फिर कहा कि हे महाराज! चलकर हमारे घरों को सनाथ कीजिए। भगवान् ने भी उनकी पूजा की; उनके मनोरथ को पूर्ण करने के लिए वे उनके घरों में पधारे। वहां कुछ देर ठहरकर कृष्णचन्द्र अपने डेरे पर लौट आये। उन ब्राह्मणों को सुन्दर दिव्य भोजन कराये, फिर आप भी सात्यकि के साथ भोजन किया। हे महाराज! इस तरह श्रीकृष्ण ने वृकस्थल में सुख से सोकर वह रात्रि व्यतीत की॥२५।२९॥

उद्योगपर्व का चौरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

अथ पंचाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयांतं मधुसूदनम् ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद्भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम् ॥ १ ॥
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम् ।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाऽब्रवीदिदम् ॥ २ ॥
अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनंदन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयंति गृहे गृहे ॥ ३ ॥
सत्कृत्याऽऽचक्षते चाऽन्ये तथैवाऽन्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तंते चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥
उपायास्यति दाशार्हः पांडवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ॥ ५ ॥
तस्मिन्हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।

पचासी अध्याय ॥ ८५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इधर धृतराष्ट्र ने दूतों से श्रीकृष्ण के आने की सूचना पाई तो उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया ॥१॥ उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, सञ्जय और महामति विदुर के सामने मन्त्रियों सहित दुर्योधन से कहा—हे बेटा! आश्चर्य की बात सुन पड़ती है। घर-घर, बैठकों में, सभाओं में, स्त्री-बालक-वृद्ध आदि सबके मुह से सुन पड़ता है कि महापराक्रमी यादवपति श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से हमारे पास आवेंगे। वे मधुसूदन सब तरह हमारे माननीय और पूज्य हैं ॥२।५॥

तस्मिन्धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ॥ ६ ॥
स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ॥ ७ ॥
स चेत्तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदम ।
कृष्णात्सर्वानभिप्रायान्प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ८ ॥
तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयंतां सर्वकामसमन्विताः ॥ ९ ॥
यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गांधारे कथं वा भीष्म मन्यसे ॥ १० ॥
ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयंतोऽस्य तद्वचः ॥ ११ ॥
तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥
ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ॥ १३ ॥
आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गंधानलंकारान्सूक्ष्माणि वसनानि च ॥ १४ ॥
गुणवंत्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगंधीनि तानि राजा ददौ ततः॥ १५ ॥

उन्हीं की कृपा से सबका निर्वाह होता है। वे सब प्राणियों के ईश्वर हैं। धैर्य, वीर्य, प्रज्ञा और तेज सब उनमें पूर्ण रूप से विद्यमान् हैं ॥६॥ वे पुरुषसिंह ऐसे हैं कि *साधु लोग उन्हें* सनातन-धर्म-स्वरूप मानकर उनका सम्मान किया करते हैं। उनकी पूजा करने से सब सुख मिलते हैं और पूजा न करने से महादुःख भोगना पड़ता है ॥७॥ जो हम विधि-पूर्वक आदर और सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर सके तो उनकी सहायता से हमें सब राजाओं से अपने मनोरथ पूरे कर लेने का अवसर प्राप्त होगा ॥८॥ हे शत्रुदमन! इस कारण उनके स्वागत की तैयारी करो। जगह-जगह पर, राह में, विश्राम करने के लिए मनोहर भवन बनवा दो और उनमें सब आवश्यकतानुसार और सुखभोग की उत्तम सामग्री रखवा दो ॥९॥ ऐसा करने से वे तुम पर बहुत प्रसन्न होंगे। मेरा मत है कि उनकी अच्छी तरह आवभगत की जाय। पितामह की क्या सम्मति है? ॥१०॥ पितामह भीष्म आदि सबने राजा धृतराष्ट्र की प्रशंसा करके श्रीकृष्ण के स्वागत का समर्थन किया ॥११॥ अनेक रत्नों से मनोहर सभाभवन जगह-जगह पर बन गये ॥१२॥ उनमें विश्राम करने के लिए सब तरह के सुपास का प्रबन्ध कर दिया गया ॥१३॥ विचित्र आसन, स्त्रियाँ, गन्ध, अलङ्कार, महीन वस्त्र, खाने-पीने के तरह-तरह के पदार्थ, सुगन्धित फूलमाला

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ॥ १६ ॥
एतद्विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ॥ १७ ॥
ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात्कुरुसद्म तत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

आदि सब वस्तुएं वहां तैयार रक्खी गईं ॥१४।१५॥ विशेषकर वृकस्थल में वासुदेव के ठहरने के लिए जो मनोहर सभा बनाई गई वह अन्य सभाओं से बहुत ही बढ़कर थी। असंख्य बहुमूल्य रत्नों से वह जगमगा रही थी।१६।१७। राजा दुर्योधनने अलौकिक ऐश्वर्य का परिचय देनेवाले भवन बनवाकर धृतराष्ट्र को उसकी सूचना दी, किन्तु आते समय श्रीकृष्ण ने उन सभाओं की ओर आंख उठाकर देखा तक नहीं ॥१८॥

उद्योगपर्व का पचासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

अथ षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः ।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥ १ ॥
आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम् ।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः ॥ २ ॥
स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः ।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान्प्रपितामहः ॥ ३ ॥
वृष्ण्यंधकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते ।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः ॥ ४ ॥
तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने ।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥ ५ ॥
एकवर्णैः सुकल्पांगैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः ।

छयासी अध्याय ॥ ८६ ॥

राजा धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुरजी! महाबली, महासत्वधारी जनार्दन उपप्लव्य गांव से हमारे राज्य में आ गये हैं और वृकस्थल में निवास कर रहे हैं। वे कल प्रात काल यहां आवेंगे ॥१॥ वे आहुक-वंश में प्रधान और सब यादवों के मुखिया हैं ॥२॥ वे भरे-पूरे उन्नतिशील वृष्णिराज्य के रक्षक हैं। वे तीनों लोक उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा के भी पिता नारायण हैं ॥३॥ आदित्य, वसु आदि देवता जैसे बृहस्पति क कहे पर चलते हैं वैसे ही अन्धक, वृष्णि आदि वंशों के यादव श्रीकृष्ण के अनुयायी हैं ॥४॥ हे धर्मज्ञ! मैं तुम्हारे सामने ही जितनी सामग्री भेंट करके श्रीकृष्ण की पूजा करूंगा, सो सुनो ॥५॥ मैं

चतुर्युक्तान्रथांस्तस्मै रौक्मान्दास्यामि षोडश ॥ ६ ॥
नित्यप्रभिन्नान्मातंगानीषादंतान्प्रहारिणः ।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥ ७ ॥
दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम् ।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ ८ ॥
आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम् ।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाऽष्ट च ॥ ९ ॥
अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च ।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ॥ १० ॥
दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः ।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥ ११ ॥
एकेनाऽभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश ।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ॥ १२ ॥
यावंति वाहनान्यस्य यावंतः पुरुषाश्च ते ।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ॥ १३ ॥
मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते ।
प्रत्युद्यास्यंति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥ १४ ॥
स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः ।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यंति केशवम् ॥ १५ ॥
नगरादपि याः काश्चिद्गमिष्यंति जनार्दनम् ।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यंत्यनावृताः ॥ १६ ॥

सुवर्णमण्डित सोलह रथ दूंगा। जिनमें एक ही डील-डौल और सूरत के, सुडौल, वाह्लीक देश के श्रेष्ठ चार-चार घोड़े जुते होंगे ॥६॥ लगातार जिनके मद बह रहा है और आठ आठ मनुष्य साथ रहते हैं, ऐसे बड़े-बड़े दांतोंवाले आठ गजराज दूंगा ॥७॥ सुनहरे रङ्ग की शरीर की कान्तिवाली, सब लक्षणों से युक्त, एक सौ दासियां और उतने ही दास दूंगा। दासियां नौजवान और ऐसी होंगी जिनके कोई बालक उत्पन्न नहीं हुआ ॥८॥ पहाड़ी लोगों के दिये हुए अठारह हज़ार मेष (मेढ़े) और चीन देश के हज़ार घोड़े अर्पण करूंगा ॥९।१०॥ दिन-रात जगमगानेवाली मणियां और चौदह योजन नित्य चलनेवाले बढ़िया खचर दूंगा ॥११।१२॥

महात्मा श्रीकृष्ण के साथी लोग और वाहन जितनी सामग्री खा-पी सकते हैं उससे अठगुनी आहार की सामग्री दूंगा ॥१३॥ दुर्योधन के सिवा मेरे सब पुत्र और पोते बढ़िया गहने और वस्त्र पहन कर उत्तम रथों पर बैठकर कृष्णचन्द्र की अगवानी के लिए जायंगे ॥१४।१५॥ तरह-तरह के शृङ्गार करके हज़ारों वेश्याएं पैदल—किसी

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम् ।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमंतमिव प्रजाः ॥ १७ ॥
महाध्वजपताकाश्च क्रियंतां सर्वतोदिशः ।
जलावसिक्तो विरजाः पंथास्तस्येति चाऽन्वशात् ॥ १८ ॥
दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद्वरम् ।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसंमृष्टमलंकृतम् ॥ १९ ॥
एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम् ।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तु सुमहाधनम् ॥ २० ॥
सर्वमस्मिन्गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च ।
यद्यदर्हति वार्ष्णेयस्तत्तद्देयमसंशयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

सवारी पर नहीं—उन महात्मा को लेने जायंगी। नगर से उन्हें देखने के लिए बहुत सी कन्याएं भी पैदल ही आयंगी ॥१६॥ प्रजा जैसे सूर्य के दर्शन करती है वैसे ही नगरनिवासी बालक-वृद्ध सब श्रीकृष्णके दर्शन करेंगे ॥१७॥ चारों ओर नगर में झण्डे, पताका, बन्दनवार आदि मङ्गलचिह्न लगा दो सड़कों को स्वच्छकर छिड़काव कर दो ॥१८॥ दुःशासन का महल दुर्योधन के महल से भी श्रेष्ठ है। इसलिए श्रीकृष्ण के ठहराने का उसी में प्रबन्ध करो ॥१९॥ उस भवन में अनेक मनोहर स्थान हैं। वह रमणीय और सब ऋतुओं में सुखदायक है ॥२०॥ दुर्योधन के भवन की सब श्रेष्ठ सामग्री उस महल में लाकर सजा दो ॥२१॥

उद्योगपर्व का छियासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

विदुर उवाच—राजन्बहुमतश्चाऽसि त्रैलोक्यस्याऽपि सत्तम ।
संभावितश्च लोकस्य संमतश्चाऽसि भारत ॥ १ ॥
यत्त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः ।
शास्त्राद्वा सुप्रतर्काद्वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि ॥ २ ॥
लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे ।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥ ३ ॥
सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव ।

सत्तासी अध्याय ॥ ८७ ॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! आप वृद्ध तो हैं ही, शास्त्र-ज्ञान और तर्क से आपकी बुद्धि भी स्थिर हो गई है। पृथ्वी पर आपका बड़ा मान है। लोग आपको प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। आप सबके प्रिय और आदरणीय हैं। आपका यह कहना ठीक ही है ॥१।२॥ प्रजा को विश्वास है कि पत्थर की लकीर की तरह आपमें दृढ़ धर्मभाव है। चन्द्रमा में कला और समुद्र में तरङ्ग की तरह आपमें गुण वर्तमान हैं ॥३॥ सब लोग आपके गुणों से प्रसन्न हैं। इसलिए आप अपने बान्धवों के साथ उन गुणों

गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥ ४ ॥
आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद्बहु नीनशः ।
राजन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥ ५ ॥
यत्त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चाऽर्हति ॥ ६ ॥
न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद्दित्ससि कृष्णाय सत्येनाऽऽत्मानमालभे ॥ ७ ॥
मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद्भूरिदक्षिण ।
जानामि त्वन्मतं राजन्गूढं बाह्येन कर्मणा ॥ ८ ॥
पञ्च पञ्चैव लिप्स्यन्ति ग्रामकान्पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ॥ ९ ॥
अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो विभेत्स्यसि ॥ १० ॥
न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनञ्जयात्कर्तुमेतत्तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥
वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदाऽस्य दृढभक्तिताम् ।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनञ्जयम् ॥ १२ ॥
अन्यत्कुम्भादपां पूर्णादन्यत्पादावसेचनात् ।

को बनाये रखने का यत्न कीजिए। सरलता ग्रहण कीजिए। बालकों की तरह लोभ के वश होकर बहुत से पुत्र, पौत्र, प्रिय सुहृद् और इष्ट-मित्र आदि सहित अपने को विनाश की राह पर मत ले जाइए। हे राजेन्द्र! आप श्रीकृष्ण को अतिथि जानकर जो कुछ देना चाहते हैं, वही नहीं, बल्कि सारी पृथ्वी यदि उनको अर्पण कर दीजिए तो वह भी उनकी यथेष्ट पूजा न होगी। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ, आप धर्म समझकर अथवा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए यह सामग्री नहीं देना चाहते ॥४।७॥ यह केवल आपकी माया ही है। इतनी सामग्री का लोभ दिखाकर आप श्रीकृष्ण को पाण्डवों से फोड़ना और अपनी ओर मिलाना चाहते हैं। आपके बाहरी कामों से मुझे आपके हृदय के गूढ़ भाव का पता लग जाता है ॥८॥ पाण्डवों ने आपसे केवल पांच गांव मांगे, पर आप उन्हें पांच गांव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे निश्चय है कि आप सन्धि करना नहीं चाहते ॥९॥ आप धन देकर महाबाहु वासुदेव को पाण्डवों से अलग करना चाहते हैं। आप समझते हैं कि इस उपाय से श्रीकृष्ण पाण्डवों का पक्ष छोड़ देंगे ॥१०॥ किन्तु मैं आपसे दावे के साथ कहता हूं कि धन देकर, पाण्डवों की निन्दा करके या किसी और उपाय से आप कृष्णचन्द्र को अर्जुन से अलग नहीं कर सकते ॥११॥ मैं श्रीकृष्ण की महिमा और अर्जुन की दृढ़ भक्ति अच्छी तरह से जानता हूँ। श्रीकृष्ण को अर्जुन प्राणप्रिय हैं। वे अर्जुन को कभी नहीं छोड़ सकते ॥१२॥ जनार्दन जल के कलश, पाद्य और कुशल-प्रश्न के

अन्यत्कुशलसम्प्रश्नान्नैवेक्ष्यति जनार्दनः ॥ १३ ॥
यत्त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः ।
तदस्मै क्रियतां राजन्मानार्होऽसौ जनार्दनः ॥ १४ ॥
आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवाऽस्मा उपाकुरु ॥ १५ ॥
शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥ १६ ॥
पिताऽसि राजन्पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत्तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

सिवा और कुछ न लेंगे। आपकी दी हुई और वस्तुओं को वे आंख उठाकर देखेंगे भी नहीं ॥१३॥ इस कारण जैसा सत्कार करने से माननीय जनार्दन प्रसन्न हो सकते हैं वही करना चाहिए ॥१४॥ महात्मा वासुदेव आप सबके भले के लिए सन्धि का प्रस्ताव लेकर आ रहे हैं। इसलिए उनकी बात मान लेना ही आपके लिए योग्य होगा ॥१५॥

हे राजेन्द्र ! पाण्डवों और कौरवों में मेल कराकर शान्ति स्थापित करना ही श्रीकृष्ण का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए उनकी आज्ञा से कार्य कीजिए। यही आपके लिए श्रेयस्कर होगा ॥१६॥ हे महाराज ! पाण्डव लोग आपके पुत्र सदृश हैं और आप उनके पिता के तुल्य हैं। वे बालक हैं, आप वृद्ध हैं। वे आपको पिता के तुल्य जानते हैं, आप भी उन्हें पुत्र के समान समझिए ॥१७॥

—०—

उद्योगपर्व का सत्तासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

अथ अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

दुर्योधन उवाच—यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत्सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान्प्रति जनार्दनः ॥ १ ॥
यत्तत्सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद्देयं कदाचन ॥ २ ॥
देशः कालस्तथाऽयुक्तो नहि नाऽर्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन्भयादर्चति मामिति ॥ ३ ॥

अट्ठासी अध्याय ॥ ८८ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी ! विदुर ने श्री कृष्ण के बारे में ठीक ही कहा है। पाण्डवों पर उनका अत्यन्त अनुराग है, इस कारण आप उन्हें किसी तरह अपने पक्ष में न कर सकेंगे ॥१॥ आपने सत्कार के लिए उन्हें जो कुछ धन या सम्पत्ति देने का विचार किया है वह उन्हें कभी न देनी चाहिए ॥२॥ श्रीकृष्ण आपके पूजनीय हैं सही ; किन्तु इस समय उक्त सामग्री से उनका सत्कार करने से वे

अवमानश्च यत्र स्यात्क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत्कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः॥ ४ ॥
स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम-सर्वथा ॥ ५ ॥
न तु तस्मै प्रदेयं स्यात्तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥
सत्कृतोऽसत्कृतो वाऽपि न क्रुद्धयेत जनार्दनः ।
नाऽलमेनमवज्ञातुं नाऽवज्ञेयो हि केशवः ॥ ८ ॥
यत्तु कार्यं महावाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित्कर्तुमन्यथा ॥ ९ ॥
स यद् ब्रूयान्महावाहुस्तत्कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ॥ १० ॥
धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन्वाच्याः प्रिया वाचो भवता वान्धवैः सह ॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच—न पर्यायोऽस्ति यद्राजञ्श्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ॥ १२ ॥
इदं तु सुमहत्कार्यं शृणु मे यत्समर्थितम् ।

समझेंगे कि ये लोग भयभीत होकर मेरी पूजा कर रहे हैं ॥३॥ क्षत्रिय को वह काम कभी न करना चाहिए जिसमें अपना अपमान हो ॥४॥ मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि श्रीकृष्ण सब लोगों के पूजनीय हैं; किन्तु जब आपस का युद्ध शान्त ही न होगा, तब उनकी पूजा करना सब व्यर्थ है ॥५।६॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुर्योधन के ये वचन सुनकर कुरुपितामह भीष्म ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजेन्द्र ! सत्कार या असत्कार चाहे जो करो, श्रीकृष्ण किसी तरह क्रोध नहीं कर सकते । कोई भी उनका अनादर नहीं कर सकता, इसी से कहता हूँ कि श्रीकृष्ण का किसी तरह अनादर न करना ॥७।८॥ वे जिस काम को करने का निश्चय कर लेते हैं उसे हजार उपाय करके भी कोई नहीं उलट सकता ॥९॥ महात्मा श्रीकृष्ण जो कहें वही तुम्हें करना चाहिए । तुम बिना कुछ सोचे-विचारे उसे मान लेना ॥१०॥ यह निश्चय है कि वे जो कुछ कहेंगे सो धर्मार्थ-सङ्गत और हितकारी होगा; क्योंकि वे बहुत बड़े धर्मात्मा हैं । बन्धुओं सहित तुम उनसे प्रिय और मीठी बातें कहना । श्रीकृष्ण को मध्यस्थ बनाकर तुम पाण्डवों से सन्धि कर लो ॥११॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! मैं जीते-जी पाण्डवों के साथ मिलकर इस समग्र पृथ्वी का राज्य भी नहीं करना चाहता; [अथवा पाण्डवों को हरा-

परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥ १३ ॥
तस्मिन्वद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥ १४ ॥
अत्रोपायान्यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चाऽपायो भवेत्कश्चित्तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम् ।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाऽभवत् ॥ १६ ॥
ततो दुर्योधनमिमं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद्वचः ।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥
दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः ।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥ १८ ॥
भीष्म उवाच—परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः ।
वृणोत्यनर्थं नैवाऽर्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥ १९ ॥
इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम् ।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्याऽनुवर्तसे ॥ २० ॥
कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्याऽयं सुदुर्मतिः ।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ॥ २१ ॥
पापस्याऽस्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः ।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथञ्चन ॥ २२ ॥

कर अकेले सम्पूर्ण साम्राज्य प्राप्त करने की भी आशा नहीं है] ॥१२॥ इस कारण मैंने इस सम्बन्ध में इस समय जो बहुत बड़ा काम करना विचारा है, सो कहता हूं, सुनिए। पाण्डवों के सबसे बड़े सहायक श्रीकृष्ण ही हैं। वे जब यहां आवेंगे तब उन्हें पकड़कर कैद कर लूंगा ॥१३॥ फिर तो पाण्डव, यादव और सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल के राजा सहज ही मेरे अधीन हो जायंगे ॥१४॥ आप इस बारे में मुझे ऐसा उपाय बताइए जिससे श्रीकृष्ण मेरे इस अभिप्राय को पहले से न जान जायं और मेरा किसी तरह का अनिष्ट भी न हो ॥१५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण के बारे में दुर्योधन के ऐसे ओछे विचार को सुनकर मन्त्रियों सहित धृतराष्ट्र व्यथित और उदास हो उठे ॥१६॥ उन्होंने दुर्योधन से कहा—हे बेटा! ऐसा मत कहो। यह सनातनधर्म नहीं है। इस समय श्रीकृष्ण एक तो दूत, दूसरे हमारे प्रिय सम्बन्धी हैं। उन्होंने कभी कौरवों का कुछ अनिष्ट भी तो नहीं किया। फिर किस प्रकार हम उन्हें कैद करने का विचार कर सकते हैं ॥१७।१८॥ भीष्म ने कहा—हे धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह पुत्र बड़ा ही मूर्ख है। यह सदा अनर्थ ही सोचा करता और अधर्म को ही पसन्द करता है। सब इष्ट-मित्रों तथा सुहृदों के समझाने पर भी यह ठीक राह पर नहीं चलता ॥१९॥ तुम भी अपने शुभ-

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान् ।
उत्थाय तस्मात्प्रातिष्ठद्भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

चिन्तकों के कहे पर ध्यान न देकर इस कुमार्गगामी पापी पुत्र की बात मानते और इसी के पीछे चलते हो ॥२०॥ मन्त्रियों सहित यह दुर्मति दुर्योधन जो ऐसा करेगा तो अवश्य वासुदेव के क्रोध की अग्नि में भस्म हो जायगा ॥२१॥ इस नराधम ने धर्म छोड़ दिया है। मैं इसकी ऐसी अनर्थ की बातें नहीं सुनना चाहता। भरतकुलश्रेष्ठ वृद्ध पितामह भीष्म यह कहकर क्रोध के मारे उसी समय सभा से उठकर चले गये ॥२२।२३॥

—०—

उद्योगपर्व का अट्ठासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

अथ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान्सर्वमाह्निकम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १ ॥
तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम् ।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः ।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ३ ॥
पौराश्च बहुला राजन्हृषीकेशं दिदृक्षवः ।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे ॥ ४ ॥
स वै पथि समागम्य भीष्मेणाऽक्लिष्टकर्मणा ।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥ ५ ॥
कृष्णसंमाननार्थं च नगरं समलंकृतम् ।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥ ६ ॥

नवासी अध्याय ॥ ८९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इधर रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकृत्य करके, ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर, कृष्णचन्द्र हस्तिनापुर की ओर चले ॥१॥ वृकस्थल के रहनेवाले सब लोग श्रीकृष्ण को जाते देखकर, उनसे आज्ञा लेकर, लौट गये ॥२॥ भीष्म, द्रोणाचार्य कृपाचार्य और—दुर्योधन के सिवा—धृतराष्ट्र के सब पुत्र वस्त्र अलङ्कार पहनकर महात्मा कृष्ण की अगवानी के लिए नगर से बाहर निकले ॥३॥ श्रीकृष्ण को देखने की लालसा से पुरवासी लोग भी सवारियों पर चढ़कर और कोई-कोई पैदल ही उनके साथ चले ॥४॥ कृष्णचन्द्र राह में भीष्म, द्रोण, और धृतराष्ट्र के पुत्रों से मिले और फिर उनके साथ नगर के भीतर गये ॥५॥ श्रीकृष्ण के सम्मान के लिए सारा नगर और राजमार्ग अनेक रत्नों और मूल्यवान् विचित्र वस्तुओं से सजाया गया

तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

के माननीय और सज्जन हैं। हे राजा जनमेजय! अब कृष्णचन्द्र ने विदुर से पाण्डवों का अभिप्राय विस्तार के साथ कहा ॥२४।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का नवासी अध्याय समाप्त हुआ । ८९ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

वैशम्पायन उवाच—अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः ।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिन्दमः ॥ १ ॥
सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत्स्मरन्ती तनयान्पृथा ॥ २ ॥
तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम् ।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं वाष्पमाहारयत्पृथा ॥ ३ ॥
साऽब्रवीत्कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम् ।
वाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ॥ ४ ॥
ये ते बाल्यात्प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः ।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः ।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ॥ ५ ॥
विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ॥ ६ ॥
अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम ।

नब्बे अध्याय ॥ ९० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! विदुर से वातचीत करके तीसरे पहर श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्ती के पास गये ॥१॥ सूर्य के समान परम-तेजस्वी और अपने पुत्रों के प्रधान सहायक श्रीकृष्ण को देखकर कुन्ती ने गले से लगा लिया। फिर वे अलग-अलग पुत्रों के नाम लेकर रोने लगीं ॥२॥ सत्यव्रत पुत्रों के साथी और सहायक श्रीकृष्ण को बहुत दिनों के पश्चात् देखकर कुन्ती देवी उमड़े हुए आंसुओं के वेग को नहीं रोक सकीं ॥३॥ फिर उन्होंने श्रीकृष्ण का सत्कार किया। जब वे आसन पर सुख से बैठ गये तब कुन्ती कहने लगीं—[उस समय कुन्ती का मुंह सूख रहा था और आंसुओं के वेग से वाणी गद्गद हो रही थी] हे कृष्णचन्द्र! मेरे पुत्र पाण्डव बाल्यावस्था से ही बड़े-बूढ़ों की सेवा करते रहे हैं। उनमें परस्पर ऐसा अटल स्नेह है कि कभी कोई किसी की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करता। शरीर भिन्न होने पर भी वे हृदय से एक हैं। शत्रुओं के छल और दुर्व्यव-

अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ॥ ७ ॥
ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले ।
बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ॥ ८ ॥
अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिःस्वनैः ॥ ९ ॥
पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात्प्रभृति केशव ।
ये स्म वारणशब्देन हयानां हेषितेन च ॥ १० ॥
रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे ।
शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ॥ ११ ॥
पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः ।
वस्त्रै रत्नैरलङ्कारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ॥ १२ ॥
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ॥ १३ ॥
प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः ।
क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ॥ १४ ॥
न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन ।
भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिःस्वनैः ॥ १५ ॥
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन ।
बन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ॥ १६ ॥

हार से राजभ्रष्ट होकर वे निर्जन वन को गये। मैं रोती रही, पर वे प्रिय राज्य और सुख के साथ मुझे भी छोड़ गये। अपने साथ ही वे मेरे हृदय को भी लेते गये। हे कृष्णचन्द्र! पुत्रों को मैंने सदा सुख में रक्खा था, वे किसी तरह वनवास के योग्य नहीं थे। हे केशव! सत्यवादी, क्रोध हर्ष से शून्य और ब्राह्मणों के भक्त मेरे पुत्र सिंह, बाघ, मस्त हाथी, सर्प आदि से परिपूर्ण भयङ्कर वन में इतने दिन किस तरह रहे होंगे! बाल्यावस्था में ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। मैंने ही पालकर उन्हें इतना बड़ा किया था। हे श्रीकृष्ण! घर में बाल्यावस्था से पाण्डव लोग शङ्ख, नगाड़े, मृदङ्ग, वंशी आदि के मधुर मङ्गलमय शब्द सुनकर पलँग से उठते थे; या घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिग्घार और रथों की घरघराहट से उनकी नींद खुलती थी ॥४।१०॥ शङ्ख, नगाड़े, वेणु, वीणा, पुण्याहपाठ आदि के शब्द के साथ ब्राह्मण लोग सदा उनकी स्तुति करते थे। वे भी विविध वस्त्र, अलङ्कार, रत्न-धन आदि देकर ब्राह्मणों को प्रसन्न करते थे। पूजनीय महात्मा ब्राह्मण पूजित होकर मङ्गलमय आशीर्वाद देकर उनका अभिनन्दन करते थे। हे श्रीकृष्ण! मेरे पुत्र महलों में कोमल मूल्यवान् बिछौनेवाले पलँगों पर सोते थे और पूर्वोक्त मधुर मङ्गलमय शब्द सुनकर जागते थे वन में क्रूर हिंसक जीवों के भयानक शब्द सुन

सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन ।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः ॥ ३७ ॥
ज्येष्ठोपचायिनं वीरं सहदेवं युधाम्पतिम् ।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे ॥ ३८ ॥
सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः ।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः ॥ ३९ ॥
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः ।
कच्चित्स कुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः ॥ ४० ॥
सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम् ।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः ॥ ४१ ॥
पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता ।
न लभामि धृतिं वीर साऽद्य जीवामि पश्य माम् ॥ ४२ ॥
सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन ।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ ४३ ॥
पुत्रलोकात्पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी ।
प्रियान्पुत्रान्परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते ॥ ४४ ॥
महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत ॥ ४५ ॥
पतिभिः पंचभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः ।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी ॥ ४६ ॥

सुकुमार, धर्मात्मा, सभाचतुर, भाइयों की सेवा में तत्पर, मुझे अत्यन्त प्रिय, जवान, बड़े भाई के अत्यन्त अनुगत और अन्य पाण्डवों से सदा प्रशंसा और मान पानेवाले माद्रीपुत्र सहदेव इस समय कैसे हैं ? हे यदुनाथ ! प्रियदर्शन, सुकुमार, तरुण, शूर, सब भाइयों को प्यारे, विचित्र युद्ध में अत्यन्त निपुण और मेरे हाथ से सुख पाकर पलनेवाले महात्मा नकुल इस समय कैसे हैं ? ॥३५।४०॥ हाय ! नकुल को घड़ी भर देखे बिना पहले मैं व्याकुल हो उठती थी; उन्हीं नकुल को इतने दिनों में न देखकर भी मैं अब तक जीती हूँ । हे केशव ! बेटा नकुल को क्या फिर मैं देख पाऊँगी ! हे जनार्दन ! कुलीन, असाधारण रूप-लावण्यशालिनी, सब गुणों से अलङ्कृत, मुझे पुत्रों से बढ़कर प्यारी द्रौपदी इस समय कैसी हैं ? वे महाकुल में उत्पन्न, कल्याणी द्रौपदी धन्य हैं, जो उन्होंने प्रिय पुत्रों का साथ छोड़कर पतियों के पास रहना ही स्वीकार किया । अग्नितुल्य तेजस्वी, शूर, योद्धा पाच पतियों के साथ रहकर भी द्रौपदी घोर दुःख भोग रही हैं । पुत्रों के दुःख से पीड़ित, सत्यवादिनी द्रौपदी को मैंने चौदह वर्षसे नहीं देखा । ऐसे श्रेष्ठ शील-स्वभाववाली द्रौपदी को सुख से वञ्चित देखकर यही कहना पड़ता है कि कोई मनुष्य पुण्य करके सुखभोग

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नाऽपश्यमरिन्दम ।
पुत्रादिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम् ॥ ४७ ॥
न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम् ।
द्रौपदी चेत्तथावृत्ता नाऽश्नुते सुखमव्ययम् ॥ ४८ ॥
न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः ।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम् ॥ ४९ ॥
न मे दुःखतरं किंचिद्भूतपूर्वं ततोऽधिकम् ।
स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम् ॥ ५० ॥
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना ।
सर्वे प्रैक्षंत कुरव एकवस्त्रां सभागताम् ॥ ५१ ॥
तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः ।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा ॥ ५२ ॥
तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम् ।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ॥ ५३ ॥
तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः ।
क्षत्तुः शीलमलङ्कारो लोकान्विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ५४ ॥
वैशम्पायन उवाच—सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम् ।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवाऽन्वकीर्तयत् ॥ ५५ ॥
पूर्वैराचरितं यत्तत्कुराजभिररिन्दम ।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम् ॥ ५६ ॥

नहीं कर पाता। हे श्रीकृष्ण! मैंने जब से सभा में पतिव्रता द्रौपदी का अपमान होते देखा है तब से मुझे तुम, अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल या सहदेव कोई नहीं सोहाता। जिस समय क्रोध और लोभ के अधीन, अनार्यप्रकृति दुष्ट लोग द्रौपदी को रजस्वला अवस्था में ही भरी सभा में ससुरों और समुरों के पास ले गये थे, उस समय मुझे जैसा दुःख हुआ था वैसा दुःख मुझे कभी नहीं मिला॥४९।५०॥

वहां सभा में धृतराष्ट्र, महाराज वाह्लिक, कृपाचार्य, सोमदत्त और सब कौरव लोग एक वस्त्र धारण किये द्रौपदी की वह दुर्दशा देखते रहे। खेद प्रगट करने के सिवा किसी ने उस अन्याय का प्रतिवाद नहीं किया। हे कृष्णचन्द्र! उस सभा में जितने लोग बैठे थे, उन सबमें विदुर को ही मैं श्रेष्ठ समझती हूँ। उन्होंने बड़ा धर्म की बात कही थी। धन से या केवल विद्या से कोई श्रेष्ठ नहीं होता, वास्तव में चरित्र ही श्रेष्ठता का मूल कारण है। महाबुद्धिमान्, गम्भीरप्रकृति, महात्मा विदुर का शील प्रशंसनीय, अलौकिक और अच्छा स्वरूप है ॥५१।५४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! गोविन्द को देखकर कुन्ती का दुःख उमड़ आया। वे शोक-मोह से विह्वल होकर अपने पहले के दुःखों का

तन्मां दहति यत्कृष्णा सभायां कुरुसन्निधौ ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा ॥ ५७ ॥
निर्वासनं च नगरात्प्रव्रज्या च परन्तप ।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञाऽस्मि जनार्दन ॥ ५८ ॥
अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव । ।
न मे क्लेशतमं तत्स्यात्पुत्रैः सह परन्तप ॥ ५९ ॥
दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दश ।
दुःखादपि सुखं नः स्याद्यदि पुण्यफलक्षयः ॥ ६० ॥
न मे विशेषो जात्वासीद्धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः ।
तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्र श्रिया वृतम् ॥
अस्माद्विमुक्तं संग्रामात्पश्येयं पाण्डवैः सह ॥ ६१ ॥
नैव शक्याः पराजेतुं सत्त्वं ह्येषां तथाविधम् ।
पितरं त्वेव गर्हेयं नाऽऽत्मानं न सुयोधनम् ॥ ६२ ॥
येनाऽहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवाऽर्पिता ।
बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम् ॥ ६३ ॥
अदात्तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।
साऽहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परन्तप ॥
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम ॥ ६४ ॥
यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः ।

वर्णन करने लगीं। वे कहने लगीं—हे मधुसूदन! पहले भी जो कुमति राजा लोग शिकार और पासे का खेल आदि व्यसनों में फँसे हैं उन्हीं को क्या कुछ सुख मिला है? हे वासुदेव! सभा में होनेवाले द्रौपदी के अपमान की याद सदा मेरे हृदय को जलाया करती है। हे माधव! दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने मुझे और मेरे पुत्रों को बड़े क्लेश दिये हैं। दुर्योधन ने पहले नगर से निकाल दिया, फिर छल करके बनवास और अज्ञातवास के लिए मेरे पुत्रों को विवश किया और अब राज्य न देकर वह जीविका छीन लेने को तैयार है। जो मैं भी पुत्रों के साथ रहती तो शायद ये बातें मेरे लिए उतना कष्ट न देतीं। दुर्योधन ने अब तक जो दुःख दिये हैं और कष्ट पहुँचाये हैं वे एक घड़ी के लिए भी मुझे नहीं भूलते। किन्तु मैंने सुना है कि दुःख-भोग से पहले के पापों का प्रायश्चित्त हो जाने पर मनुष्य को फिर सुख मिलता है। इसलिए, जान पड़ता है कि इस दुःख भोग के द्वारा जब हमारे पिछले पापों का क्षय हो जायगा तब हम लोग फिर सुख भोगेंगे ॥५५-६०॥ हे केशव! मैं पाण्डवों के समान ही कौरवों पर भी स्नेह रखती थी। यदि यह बात सत्य है तो उसी पुण्य के प्रभाव से मैं पाण्डवों सहित तुमको इस युद्ध के उपरान्त शत्रुओं को मारकर विजयलक्ष्मी प्राप्त किये हुए सकुशल

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चाऽस्य दिवं स्पृशेत् ॥ ६५ ॥
हत्वा कुरून्महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनञ्जयः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन्मेधानाहरिष्यति ॥ ६६ ॥
नाऽहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे ।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः ॥ ६७ ॥
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत ।
त्वं चापि तत्तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि ॥ ६८ ॥
न मां माधव वैधव्यं नाऽर्थनाशो न वैरता ।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विना भवः ॥ ६९ ॥
याऽहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
धनञ्जयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥
इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नाऽपश्यं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥
धनञ्जयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम् ।
जीवनाशं प्रनष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः ॥ ७१ ॥
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाऽहं जनार्दन ।
ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ७२ ॥

देखूंगी। सच्चरित्र पाण्डवों को कौरव कभी नहीं हरा सकेंगे। हे माधव! मैं अपने को या दुर्योधन को दोष नहीं दूंगी। मुझे सारा दोष अपने पिता का ही जान पड़ता है। उदार पुरुष जैसे लापर्वाही के साथ धन दे डालते हैं वैसे ही मेरे पिता ने मुझे अपने मित्र महात्मा कुन्तिभोज को दे दिया। मैं उस समय बालिका थी; गेंद और गुड़िया खेलने के सिवा कुछ नहीं जानती थी। हे कृष्णचन्द्र! पिता ने भी मेरा आदर नहीं किया और सुमराल में भी मैं सदा दुःख सहती रही। मैं बड़ी दुखिया हूं। मेरा जीवन ही निष्फल है। हे वासुदेव! अर्जुन के जन्म के समय रात्रि को मैंने आकाशवाणी सुनी थी कि 'कुन्ती, तुम्हारा यह प्रतापी पुत्र सारी पृथ्वी को जीतकर अपने अधिकार में कर लेगा। इसका यश स्वर्गलोक तक प्रसिद्ध होगा। यह युद्ध में कौरवों को मारकर राज्य प्राप्त करके भाइयों के साथ तीन अश्वमेध यज्ञ करेगा'। मैं उस देववाणी को मिथ्या नहीं समझती। सब लोक के विधाता धर्म को और महात्मा श्रीकृष्ण को प्रणाम है। धर्म ही सब लोकों को धारण किये हुए है। हे यदुराज! यदि धर्म है, यदि देववाणी सत्य है और जो तुम भी सत्य हो, तो तुम्हारे द्वारा अवश्य मेरी सब इच्छाएं पूरी होंगी। हे माधव! पुत्रों के वियोग का शोक मुझे जितना दुःख दे रहा है उतना दुःख वैधव्य, राज्य-हरण और कौरवों के वैर से नहीं मिला। आज यह चौदहवां वर्ष लगा है, मैंने शास्त्र और शस्त्र की विद्या में निपुण गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन को, धर्मात्मा युधिष्ठिर को, महाबली भीमसेन को और माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव को नहीं देखा। फिर मुझे कैसे शान्ति मिले! ॥६१-७१॥

बहुत दिन तक जिनकी कुछ सूचना नहीं मिलती उन्हें मरा समझकर लोग उनके लिए श्राद्धतर्पण

वासुदेव उवाच—का तु सीमन्तिनी त्वादृग्लोकेष्वस्ति पितृष्वसः ।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥ ९१ ॥
महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवाऽऽगता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ ९२ ॥
वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥ ९३ ॥
निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥ ९४ ॥
त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः ।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ॥ ९५ ॥
अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः ।
उत्तमांश्च परिक्लेशान्भोगांश्चाऽतीव मानुषान् ॥ ९६ ॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्तप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ॥ ९७ ॥
अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया ।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याऽऽहुरनामयम् ॥ ९८ ॥
अरोगान्सर्वसिद्धार्थान्क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान् ।
ईश्वरान्सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान् ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब अर्जुन के प्रिय सखा मधुसूदन पुत्रवियोग से विह्वल और शोक से पीड़ित अपनी बुआ कुन्ती को समझाते हुए कहने लगे—हे बुआजी! संसार में आपके समान सौभाग्यशालिनी स्त्री भला कौन है? आप महाराज शूरसेन की कन्या हैं और आपका विवाह महाराज अजमीढ के प्रसिद्ध कुल में हुआ है। जैसे कमलिनी एक सरोवर से दूसरे सरोवर में पहुंचती है वैसे ही आप एक श्रेष्ठ कुल से दूसरे श्रेष्ठ कुल में आई हैं। आप कल्याणरूपिणी और घर की स्वामिनी हैं। आपके पति महाराज पाण्डु सदा आपका आदर किया करते थे। आपमें सब गुण विद्यमान् हैं। आपके पति वीर थे और पुत्र भी वीर हैं। आप ऐसी बुद्धिमती स्त्री को धैर्य के साथ अपने ऊपर आनेवाले सुख या दुःख को समयानुसार सहना चाहिए। निद्रा, आलस्य, क्रोध, हर्ष, भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी आदि पर विजय पाकर वीरों के योग्य सुख भोगते हुए पाण्डव सकुशल हैं। वे विषयभोग के सुख को छोड़कर वीरोचित धैर्य का सुख भोग रहे हैं। वे बड़े उत्साही और बली हैं, इसलिए कभी थोड़े में सन्तोष नहीं करेंगे। जो धीर पुरुष हैं वे अन्त के सुख को पसन्द करते हैं और जो विषय-भोग को प्रिय समझते हैं वे बीच के सुख को चाहते हैं। उत्तम पुरुषों और वीरों का नियम होता है कि वे या तो बहुत बड़े क्लेश सहते हैं और या अलौकिक सुख भोगते हैं। पाण्डव दुःख के अन्त में मिलनेवाले सुख को ही पसन्द करते हैं, अन्त में दुःखदायक बीच के सुख में उनकी रुचि नहीं है। अन्त को जिसमें सुख हो वही सुख

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम् ।
पुत्राधिभिरभिध्वस्ता निगृह्याऽबुद्धिजं तमः ॥१००॥

कुन्त्युवाच—यद्यत्तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन ।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥१०१॥
अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परन्तप ।
प्रभावज्ञाऽस्मि ते कृष्ण सत्यस्याऽभिजनस्य च ॥१०२॥
व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं तपो महत् ॥१०३॥
त्वं त्राता त्वं महद्ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथैवाऽऽत्थ तथैवैतत्त्वयि सत्यं भविष्यति ॥१०४॥

वैशम्पायन उवाच—तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाऽभिप्रदक्षिणम्।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान्प्रति ॥१०५॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

है। हे देवी! युधिष्ठिर आदि पाचों भाइयों ने और द्रौपदी ने आपको प्रणाम कहा है और आपकी कुशल पूछी है। वे सब अच्छी तरह हैं। आप देखेंगी कि वे शीघ्र ही शत्रुओं को मारकर साम्राज्य और अतुल ऐश्वर्य प्राप्त करेंगे ॥९०।९९॥ पुत्र-विरह से व्याकुल कुन्ती को कृष्णचन्द्र के इन वाक्यों से सन्तोष और धैर्य हुआ। वे अज्ञान से उत्पन्न मोह को छोड़कर बोलीं—हे माधव! तुम वही करो जिसमें समझो कि पाण्डवों का हित होगा और धर्म की हानि भी न होगी। मैं नहीं चाहती कि राज्य के लिए मेरे पुत्र धर्म छोड़ दें या छल करें। हे कृष्णचन्द्र! मैं तुम्हारे प्रभाव, मित्रता, बुद्धि, विक्रम, सत्यनिष्ठा आदि सब गुणों को अच्छी तरह जानती हूं। तुम हमारे आत्मीय हो। तुमसे बढ़कर कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था देनेवाला और कोई नहीं। भैया मेरे पितृकुल में तुम धर्म, सत्य और तप के रूप हो। तुम्हीं पाण्डवों के रक्षक हो। तुम ब्रह्मस्वरूप हो। तुम्हीं में ब्रह्माण्ड की स्थिति है। तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब महात्मा कृष्णचन्द्र कुन्ती की प्रदक्षिणा करके, उनसे विदा होकर, कुरुराज दुर्योधन के घर को चले ॥१००।१०५॥

उद्योगपर्व का नब्बे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९० ॥

अथ एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

वैशम्पायन उवाच—पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाऽभिप्रदक्षिणम्।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिन्दमः ॥ १ ॥

इक्यानवे अध्याय ॥ ९१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महात्मा गोविन्द अपनी बुआ कुन्ती से पूछकर, उनकी प्रदक्षिणा करके, दुर्योधन के घर को गये। दुर्योधन का भवन इन्द्रभवन के समान श्रेष्ठ सम्पत्ति से शोभित

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम् ।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ॥ २ ॥
तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः ।
ततोऽभ्रघनसङ्काशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः ।
तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाऽभिसंवृतम् ॥ ४ ॥
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शाऽऽसीनमासने ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान्ददर्श सः ।
अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ६ ॥
उदतिष्ठत्सहामात्यः पूजयन्मधुसूदनम् ।
समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ॥ ७ ॥
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद्यथावयः ।
तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ॥ ८ ॥
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ।
तस्मिन्गां मधुपर्कं चाऽप्युदकं च जनार्दने ॥ ९ ॥
निवेदयामास तदा गृहान्राज्यं च कौरवः ।
तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।
ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ॥ ११ ॥

और मनोहर था। उसमें विचित्र आसन पड़े हुए थे। द्वारपालों ने श्रीकृष्ण को भीतर जाने से नहीं रोका। वे बाहर की तीन ड्योढ़ियां लांघकर भीतर पहुंचे। मेघवर्ण और पर्वतशिखर ऐसे उस भवन के ऊपर की बैठक पर चढ़कर श्रीकृष्ण ने देखा कि महाबाहु दुर्योधन बहुमूल्य रत्न-जटित सिंहासन पर बैठा हुआ है। उसके आसपास बहुत से राजा, मन्त्री और भाई बैठे हुए हैं। दुःशासन, कर्ण और शकुनि उसके पास ही विचित्र आसनों पर बैठे हैं ॥१।६॥

श्रीकृष्ण को देखते ही दुर्योधन अपने मन्त्रियों सहित उठ खड़ा हुआ। उसने यथोचित रूप से श्रीकृष्ण की अभ्यर्थना की। कृष्णचन्द्र भी मन्त्रियों सहित राजा दुर्योधन से और अन्य राजाओं से, अवस्था के अनुसार, मिले। सबसे कुशल प्रश्न करके भगवान् कृष्णचन्द्र एक सुन्दर सुवर्ण के पलंग पर जा बैठे। उस बहुमूल्य पलंग पर उज्ज्वल और कोमल बिछौने बिछे हुए थे। कुरुराज दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को मिष्टान्न, गाय, जल और रहने को घर देकर शिष्टाचार के तौर पर कहा—यह राज्य आपका ही है। फिर कौरवों ने भी महाबाहु कृष्णचन्द्र का सत्कार किया ॥७।१०॥

सूर्य सदृश तेजस्वी श्रीकृष्ण जब बैठ गये तब उनके पास ही सब कौरव और राजा लोग भी बैठे।

न्यमन्त्रयद्भोजनेन नाऽभ्यनन्दच्च केशवः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत्कुरुसंसदि ॥ १२ ॥
मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।
कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ॥ १३ ॥
त्वदर्थमुपनीतानि नाऽग्रहीस्त्वं जनार्दन ।
उभयोश्च ददत्साह्यमुभयोश्च हिते रतः ॥ १४ ॥
सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।
त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।
तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ १६ ॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद्वाक्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥
कृतार्था भुंजते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ १८ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवताऽस्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ॥ १९ ॥
कृतार्थं वाऽकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।

अब राजा दुर्योधन ने विजयी श्रीकृष्ण को भोजन का निमन्त्रण दिया, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब दुर्योधन उस सभा में, कर्ण को सुनाता हुआ, शठता से भरे हुए कोमल वचन कहने लगा—हे जनार्दन! ये खाने-पीने की सामग्रियां, वस्त्र, शय्या आदि वस्तुएं हमने आपके अर्पण कीं, पर आपने उन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया? आप दोनों पक्ष के सहायक हैं; पाण्डव और कौरव दोनों के हितचिन्तक हैं। आप महाराज धृतराष्ट्र के सम्बन्धी और उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। हे गोविन्द! आप धर्म और अर्थ की बातों को यथार्थ रूप से जानते हैं। मैं आपसे इसका कारण सुनना चाहता हूँ कि आपने हमारी की हुई पूजा और भोजन का निमन्त्रण क्यों अस्वीकार कर दिया? ॥११।१५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस पर चक्र-गदा-धारी महामना भगवान् श्रीकृष्ण ने, हाथ उठाकर मेघ के समान गम्भीर वाणी से, धर्मार्थयुक्त समयोचित वाक्य कहना प्रारम्भ किया। श्रीकृष्ण ने विस्तार के साथ, स्पष्ट, निर्भय और अखण्डनीय वचन कहकर निमन्त्रण अस्वीकार करने का कारण बताते हुए कहा—हे दुर्योधन! जब काम में सफलता मिल जाती है तभी दूत भोजन करते हैं और पूजा भी लेते हैं। जब मैं कृतकार्य हो जाऊँगा तब तुम मुझे और मेरे साथियों को भोजन कराना और पूजा भी करना ॥१६।१८॥ दुर्योधन ने कहा—हे वासुदेव! हम लोगों के सम्बन्ध में आपको ऐसे वचन नहीं कहने चाहिएं। आप अपना काम पूरा कर सकें या न कर सकें, हम सदा आपकी पूजा करने के लिए तैयार हैं। इसी कारण इस समय

यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ २० ॥
न च तत्कारणं विद्मो यस्मिन्नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नाऽमंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥
वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान्प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ २३ ॥
नाऽहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नाऽर्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथञ्चन ॥ २४ ॥
सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन्न चैवाऽऽपद्गता वयम् ॥ २५ ॥
अकस्माद् द्वेष्टि वै राजञ्जन्मप्रभृति पाण्डवान् ।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन्सर्वैः समुदितान्गुणैः ॥ २६ ॥
अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते ।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान्किं वक्तुमर्हति ॥ २७ ॥
यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥ २८ ॥
कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद्विरुरुत्सति ।

हम आपको पूजा से प्रसन्न करने का यत्न कर रहे हैं; परन्तु आपके स्वीकार न करने से हम असमर्थ हैं ॥१९।२०॥ हमने प्रीतिपूर्वक आपकी पूजा की, पर आप उसे स्वीकार नहीं करते। इसका कोई यथार्थ कारण हमें नहीं देख पड़ता। हे गोविन्द! आपके साथ हमारा वैर या विरोध नहीं है। इस पर विचार करके आप ऐसे वचन न कहिए, और हमारी की हुई पूजा ग्रहण कीजिए ॥२१।२२॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यह सुनकर श्रीकृष्ण मुसकाये और फिर मन्त्रियों सहित दुर्योधन की ओर देखकर कहने लगे—हे कौरव! मैं काम, क्रोध, द्वेष, स्वार्थ, कपट या लोभ के वश होकर धर्म को नहीं छोड़ सकता। लोग या तो प्रीति से और या विपत्तिग्रस्त होकर दूसरे का अन्न खाते हैं। तुमने प्रीति से मुझे भोजन का निमन्त्रण नहीं दिया और मुझ पर भी कोई विपत्ति नहीं आई है। फिर मैं क्यों भोजन करूं? ॥२३।२५॥ सब गुणों से परिपूर्ण सगे भाई के तुल्य स्नेहपात्र पाण्डवों से बिना किसी कारण के जन्म से ही द्वेष रखते हो। पाण्डव धर्मात्मा हैं, उनसे तुम्हारा अकारण वैर करना सर्वथा अनुचित है। उन्हें कोई कुछ भी दोष नहीं दे सकता। जो कोई पाण्डवों से द्वेष रखता है, वह मानों मुझसे भी द्वेष रखता है, और जो कोई उनसे प्रीति का व्यवहार करता है, वह मानों मुझसे भी वैसा ही व्यवहार करता है। मैं पाण्डवों से अलग नहीं हूं। उन धर्मात्माओं का शत्रु मेरा भी शत्रु है ॥२६।२८॥ जो पुरुष काम, क्रोध या मोह के वश होकर लोगों से विरोध करता है और गुणी पुरुष से द्वेष रखता

गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ २९ ॥
यः कल्याणगुणांजातीन्मोहाल्लोभाद्दिदृक्षते ।
सोऽजितात्माऽजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम् ॥ ३० ॥
अथ यो गुणसम्पन्नान्हृदयस्याऽप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३१ ॥
सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम् ।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ॥ ३२ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम् ।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद्धार्तराष्ट्रनिवेशनात् ॥ ३३ ॥
निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः ।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥
तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः ।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम् ॥ ३५ ॥
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम् ।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान्वयम् ॥ ३६ ॥
तानुवाच महातेजाः कौरवान्मधुसूदनः ।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता ॥ ३७ ॥
यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम् ।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान् ॥ ३८ ॥

है वह नराधम है। जो पुरुष कल्याणपात्र गुणी जातिवालों और भाइयों को अकारण लान्छन लगाता और उनकी सम्पत्ति हर लेने की इच्छा करता है, वह अजितेन्द्रिय दुराचारी कभी चिरसञ्चित सम्पत्ति नहीं भोग सकता, शीघ्र ही श्रीहीन हो जाता है ॥२९।३०॥ और, जो कोई अपने को हृदय से अप्रिय होने पर भी गुणी जातिवालों को, उनका प्रिय करके, अपने अनुकूल बनाता है वह सदा यशस्वी और श्रीमान् रहता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम किसी दुष्ट विचार से भोजन के लिए मुझ से अनुरोध कर रहे हो, इसलिए मैं तुम्हारे इस दूषित अन्न को न खाऊंगा। मैं केवल विदुरजी का अन्न ग्रहण करना ही उचित और श्रेयस्कर समझता हूं ॥३१।३२॥ महाबाहु श्रीकृष्ण क्रोधविह्वल दुर्योधन से इतना कहकर उठ खड़े हुए, और दुर्योधन के घर से निकल-कर विदुर के भवन में पहुंचे। भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक और अन्य कुरुवंशी लोग विदुर के यहां श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे अपने-अपने घर चलने के लिए अनुरोध करने लगे ॥३३।३६॥ श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—हे महात्माओ! आप लोग जाइए। आप लोगों से मैंने सब तरह की पूजा पा चुका। कौरव लोग जब अपने-अपने घर चले गये तब महात्मा विदुर ने बड़े स्नेह और यत्न से सब प्रकार के आवश्यक पदार्थों द्वारा कृष्णचन्द्र का सत्कार करके

ततः क्षत्ताऽन्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ ३९ ॥
तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान्मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः प्रथमं द्रविणान्यपि ॥ ४० ॥
ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

पवित्र उत्तम आहार और पीने की वस्तुएं उन्हें अर्पण कीं। मधुसूदन ने विदुर की दी हुई भोजन-सामग्री से पहले वेदपाठी ब्राह्मणों को तृप्त किया और बहुत सी दक्षिणा दी; फिर देवगण सहित इन्द्र की तरह अपने साथियों के साथ उन्होंने वह ब्राह्मण-भोजन से बचा हुआ अन्न खाया॥३७।४१॥

उद्योगपर्व का इक्यानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९१ ॥

अथ द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन उवाच—तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत् ।
नेदं सम्यग्व्यवसितं केशवाऽऽगमनं तव ॥ १ ॥
अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥
धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ॥ ३ ॥
कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक्सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाऽकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ॥ ४ ॥
मूढश्चाऽकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ॥ ५ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।
त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥
भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे ।

बानबे अध्याय ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण भोजन करके जब विश्राम करने लगे तब रात्रि को एकान्त में महात्मा विदुर ने उनसे कहा—हे केशव! आपका यहां आना अच्छा नहीं हुआ ॥१॥ मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ के ज्ञान से शून्य काम क्रोध-परायण, औरों के मान को मिटानेवाला, आप मान पाने का अभिलाषी, निर्बोध, मूढ, इन्द्रियासक्त, अपने को बुद्धिमान् समझनेवाला, मित्रद्रोही, कृतघ्न, अधर्मी, मिथ्यावादी और स्वेच्छाचारी है। किसी कर्तव्य के बारे में उसको दृढ़ निश्चय

भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ॥ ७ ॥
निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन ।
भीष्मद्रोणमुखान्पार्थानशक्ताः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ८ ॥
सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन ।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ॥ ९ ॥
एकः कर्णः पराजेतुं समर्थ इति निश्चितम् ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥ १० ॥
संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव ।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् ।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १२ ॥
यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन ।
न तत्र प्रलपेत्प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ १३ ॥
अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव ।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन्युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा ॥ १४ ॥
सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः ।
तस्मिन्निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥ १५ ॥
तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम् ।

नहीं रहता है। दुर्योधन में इनके सिवा और भी बहुत से दोष हैं। आप हित की बातें कहेंगे, पर वह किसी तरह न मानेगा ॥२।६॥ भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा और जयद्रथ आदि को दुर्योधन इसी ख़याल से बहुत कुछ वृत्ति दिये हुए है कि वे युद्ध में उसकी सहायता करेंगे। उन्हीं के बल पर भूला हुआ वह पाण्डवों से सन्धि करना नहीं चाहता। कर्ण-सहित सब धृतराष्ट्र के पुत्र निश्चय किये बैठे हैं कि भीष्म, द्रोण आदि से युद्ध करना कैसा, पाण्डव उनके भयङ्कर युद्धवेष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। राजाओं की बहुत सी सेना एकत्र करके ही मूर्ख बाल-प्रकृति दुर्योधन अपने को कृतार्थ मान रहा है। उस दुर्बुद्धि का यह भी दृढ़ निश्चय है कि अकेला कर्ण ही सब पाण्डवों को और उनकी सेना को परास्त करेगा। इसलिए वह कभी शान्ति की राह नहीं पकड़ेगा ॥७।१०॥

तात्पर्य यह है कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पाण्डवों को उनका उचित अंश न देने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। इसलिए आप पाण्डवों और कौरवों के मेल के लिए जो कुछ कहेंगे वह व्यर्थ होगा ॥११।१२॥

हे मधुसूदन! जैसे गवैया बहरे के आगे नहीं गाता वैसे ही बुद्धिमान् लोग उस व्यक्ति से कोई बात नहीं कहते जिसे अच्छी और बुरी दोनों तरह की बातें एक सी लगती हैं ॥१३॥ जैसे चाण्डाल को उपदेश देना ब्राह्मण का कर्तव्य नहीं है वैसे ही दुराचारी दुर्योधन को उपदेश देना आपका काम नहीं है ॥१४॥ विशेषकर इस समय उसने बहुत सी सेना एकत्र कर ली है, इसलिए वह कभी आपकी बात

तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥ १६ ॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥ १७ ॥
अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः ।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥ १८ ॥
बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव ।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ॥ १९ ॥
नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहाऽमरैः ।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ॥ २० ॥
तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु ।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ॥ २१ ॥
मध्ये तिष्ठन्हस्त्यनीकस्य मन्दो रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ॥ २२ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्शमः केवलो नोपलभ्यो बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ॥ २३ ॥
पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा दुर्योधनार्थे पाण्डवान्योद्धुकामाः ।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ॥ २४ ॥
सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण ।
तवोद्वेगात्संश्रिता धार्तराष्ट्रान्सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ॥ २५ ॥

न सुनेगा ॥१५॥ हे कृष्णचन्द्र ! एकत्र बैठे हुए उन पापियों के बीच में आपको जाना, अथवा उनके मत के विरुद्ध बातें कहना मेरी सम्मति में ठीक नहीं। वह दुष्ट एक तो बड़े-बूढ़ों की संगति में नहीं बैठा, दूसरे असहनशील और ऐश्वर्य के घमण्ड में चूर हो रहा है। इसलिए यह सर्वथा असम्भव है कि वह आपके कल्याणदायक वचनों को मान ले। दुर्योधन ने प्रबल सेना एकत्र कर ली है और वह आपसे शङ्कित भी रहता है, इसलिए कभी आपकी बात नहीं मानेगा ॥१६।१९॥ धृतराष्ट्र के पुत्रों ने विश्वास कर लिया है कि सब देवताओं सहित इन्द्र भी यदि युद्ध करने आवें तो कौरवों की सेना को हरा नहीं सकते ॥२०॥ काम क्रोध के वशवर्ती उन दुष्टों ने जब यह निश्चय कर लिया है तब आपके उपयुक्त वचन भी उनके आगे सफलता नहीं प्राप्त कर सकेंगे ॥२१॥ हे मधुसूदन ! दुर्मति दुर्योधन बहुत सी चतुराङ्गिणी सेना एकत्र करके, उसके बल पर, सारी पृथ्वी को अपनी ही समझता है ॥२२॥ धृतराष्ट्र का मूढ़ पुत्र समझता है कि पृथ्वी पर वह निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करेगा। उससे शान्ति के लिए कहना व्यर्थ है। वह समझता है कि मैं बाधकर शत्रुओं को जीत लूंगा और निश्चय अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकूंगा। यह पृथ्वी अधर्म के बोझ से दब रही है। संहार का समय उपस्थित है। पृथ्वी के सब योद्धा और राजा दुर्योधन के लिए

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन हृष्टा योद्धुं पाण्डवान्सर्वयोधाः ।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं न तन्मतं मम दाशार्हवीर ॥ २६ ॥
तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः ।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥ २८ ॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव ।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम् ॥ २९ ॥
या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

पाण्डवों से युद्ध करने आये हैं। वे सब पहले से ही आपके साथ वैर बांध चुके हैं, और आपके प्रभाव से नीचा भी देख चुके हैं। आपसे भयभीत होकर उन्होंने इस समय दुर्योधन और कर्ण का आश्रय लिया है ॥२३।२५॥ वे दुर्योधन के साथ रहकर पाण्डवों से युद्ध करने का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं। मैं उनके पास जाकर सन्धि के लिए प्रस्ताव करने का अनुमोदन नहीं करूँगा ॥२६।२७॥ हे कृष्णचन्द्र! मैं आपके बल और बुद्धि को अच्छी तरह से जानता हूं। यद्यपि देवता भी आपके प्रताप को सह नहीं सकते, तो भी मुझे आपका उस शत्रु-सभा में जाना पसन्द नहीं। पाण्डवों पर मुझे जितना स्नेह है, उससे अधिक आप पर है। हे पुरुषोत्तम! आप सब प्राणियों के आत्मा हैं। आपके दर्शनों से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥२८।३०॥

उद्योगपर्व का बानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

श्रीभगवानुवाच—यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद्विचक्षणः ।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ॥ १ ॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते ।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत्पितृमातृवत् ॥ २ ॥
सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाऽप्येवमेव यथात्थ माम् ।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुराऽवहितो भव ॥ ३ ॥
दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम् ।

तिरानवे अध्याय ॥ ९३ ॥

कृष्णचन्द्र ने कहा—हे विदुरजी! तुमने बुद्धिमान् और चतुर पुरुषों की सी ही बात कही है। मुझ ऐसे सुहृद् से तुम ऐसे व्यक्ति को जैसी धर्मार्थ-सङ्गत बात कहनी चाहिए वैसी ही तुमने कही है; किन्तु मैं और ही विचार से यहां आया हूं। सुनो, दुर्योधन का दौरात्म्य और क्षत्रियों की शत्रुता जान-

क्षत्रियों को सहज ही मार सकता हूं ॥२१॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यह बातचीत करके श्रीकृष्ण सुखदायक शय्या पर लेट गये ॥२२॥

—०—

उद्योगपर्व का तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा ।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥
धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः ।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ॥ २ ॥
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्याऽमिततेजसः ।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३ ॥
ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ॥ ४ ॥
तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम् ।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ॥ ५ ॥
कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चाऽऽदित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥ ६ ॥
अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
सन्ध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ७ ॥
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान्राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥ ८ ॥
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवाऽमराः ।
तावभ्यनन्दद्गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥
ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।

चौरानवे अध्याय ॥ ९४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण और विदुर को इस प्रकार धर्मार्थयुक्त वार्तालाप करते-करते रात्रि व्यतीत हो गई। आकाश से धीरे-धीरे नक्षत्र चलने लगे। वैतालिकगण ब्राह्ममुहूर्त्त में आकर मधुर स्वर से स्तुति करके और शङ्ख घण्टा नगाड़े आदि बजाकर श्रीकृष्ण को जगाने लगे ॥१-४॥ तब उन्होंने उठकर आवश्यक प्रातःकृत्य किये ॥५॥ फिर स्नान-सन्ध्या-जप-हवन आदि कर चुकने पर उन्होंने वस्त्र पहने। इतने में ही सूर्योदय हुआ और माधव उनकी आराधना करने लगे ॥६॥ इसी समय दुर्योधन और शकुनि ने श्रीकृष्ण के पास आकर कहा—हे वासुदेव! सभा में महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म आदि कौरव और अनेक अन्य राजा, देवता जैसे इन्द्र की प्रतीक्षा करें वैसे, आपकी राह देख रहे हैं

ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाऽश्वांश्च परन्तपः ॥ १० ॥
निसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसङ्क्रम्य ववन्दे सारथिस्तदा ॥ ११ ॥
ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥ १२ ॥
तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः ।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ १४ ॥
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाऽभिरक्षितः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥ १५ ॥
अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ॥ १६ ॥
ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परन्तपम् ॥ १७ ॥
सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चाऽपरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वै रथैरपि ॥ १८ ॥
तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः ।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन्विरेजिरे ॥ १९ ॥
सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम् ।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन् ॥ २० ॥

॥७,९॥ महात्मा वासुदेव ने मधुर वचनों से उनका अभिनन्दन किया। फिर ब्राह्मणों को गाय, सुवर्ण, वस्त्र, रत्न, घोड़े आदि देकर सन्तुष्ट किया ॥१०॥ अब दारुक सारथी ने श्रीकृष्ण के पास आकर प्रणाम किया ॥११॥ फिर वह किंकिणीजालयुक्त, श्रेष्ठ घोड़ों से शोभित बड़ा भारी रथ जोतकर ले आया ॥१२॥ महात्मा वासुदेव ने उस रथ को तैयार देखकर अग्नि और ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा की, कौस्तुभ मणि पहनी; फिर वे उस पर सवार हुए। पीछे सब धर्मों के ज्ञाता महात्मा विदुर भी उस पर बैठ गये ॥१३।१६॥ दुर्योधन और शकुनि अपने रथ पर बैठकर श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे चलने लगे ॥१७॥ सात्यकि, कृतवर्मा और अन्य वृष्णिवंशी यादव रथ, हाथी, घोड़े आदि पर बैठकर श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे चले ॥१८॥ उस समय उन क्षत्रियों के सुवर्ण-सामग्री-युक्त मेघ-जैसी घरघराहट करनेवाले बड़े रथ बहुत ही भले लगे ॥१९॥ वासुदेव की सवारी धीरे-धीरे राजमार्ग में पहुँची। चन्दन-जल के छिड़काव से सड़क की धूल बैठ गई थी ॥२०॥ शङ्ख, नगाड़े आदि बजने लगे। सिंह के समान पराक्रमी, शत्रु संहार में निपुण, वीर

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यंतैकपुष्कराः ।
शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च ॥ २१ ॥
प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः ।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परन्तपाः ॥ २२ ॥
ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः ।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्याऽऽसन्पुरः सराः ॥ २३ ॥
गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चाऽऽसन्सहस्रशः ।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम् ॥ २४ ॥
पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम् ।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिन्दम ॥ २५ ॥
वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः ।
प्रचलन्तीव भारेण योषिद्भिर्भवनान्युत ॥ २६ ॥
स पूज्यमानः कुरुभिः संशृण्वन्मधुराः कथाः ।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन्प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ॥ २७ ॥
ततः सभां समासाद्य केशवस्याऽनुयायिनः ।
सशङ्खैर्वेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ २८ ॥
ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम् ।
सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकांक्षया ॥ २९ ॥
ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन्नराधिपाः ।
श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३० ॥

लोग श्रीकृष्ण के रथ के चारों ओर चल रहे थे॥२१।२२॥ नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वस्त्र, भूषण धारण किये, असिप्रास आदि शस्त्र लिये हजारों वीर—हाथी, रथ आदि सवारियों पर—श्रीकृष्ण के पीछे जा रहे थे। ॥२३।२४॥ हस्तिनापुरनिवासी बालक, बूढे, स्त्रिया सभी सड़क पर जाते हुए श्रीकृष्ण को देखने के लिए आतुरता के साथ दौड़ पड़े ॥२५॥ स्त्रिया घर के चबूतरों पर खड़ी होकर श्रीकृष्ण को देख रही थीं। ऐसा जान पड़ता था कि मनुष्यों के बोझ के मारे मकान विचलित हो रहे हैं ॥२६॥ कौरवों से सत्कार पानेवाले श्रीकृष्ण उनके मधुर वचन सुनते, उनका यथोचित अभिनन्दन करते और चारों ओर की सैर करते धीरे धीरे आ रहे थे ॥२७॥ फिर कुरु-सभा में पहुँचकर केशव के साथ के लोगों ने शङ्ख, वेणु आदि के शब्दसे दसों दिशाओं को गुँजा दिया ॥२८॥ श्रीकृष्ण के आने की सूचना पाकर सारी सभा मानों हर्ष के मारे कंपने सी लगी ॥२९॥ क्रमशः श्रीकृष्ण सभा के समीप पहुच गये। उस समय मेघ के शब्द की तरह गम्भीर उस रथ के पहियों का शब्द सुनकर राजा लोग बहुत ही प्रसन्न हुए ॥३०॥ सभा

आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।
अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ ३१ ॥
नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ ३२ ॥
पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः ।
ज्योतींष्यादित्यवद्राजन्कुरून्प्राच्छादयञ्श्रिया ॥ ३३ ॥
अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।
वृष्णयः कृतवर्मा चाऽप्यासन्कृष्णस्य पृष्ठतः ॥ ३४ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः ।
आसनेभ्योऽचलन्सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ३५ ॥
अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ ३६ ॥
उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे ।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ ३७ ॥
आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥
स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चाऽन्यान्यथावयः ॥ ३९ ॥
तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम् ।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ॥ ४० ॥
तत्र तिष्ठन्स दाशार्हो राजमध्ये परन्तपः ।
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ॥ ४१ ॥

के द्वार पर पहुँचकर यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण कैलासशिखर-तुल्य रथ से उतरे ॥३१॥ वहाँ से विदुर और सात्यकि के हाथ पकड़े हुए श्रीकृष्ण आगे बढ़े ॥३२॥ नये मेघ-सदृश तेजस्वी श्रीकृष्ण के तेज और सौन्दर्य के आगे सबका तेज फीका पड़ गया ॥३३॥ वासुदेव ने इन्द्रसभा-सदृश कौरवों की सभा में प्रवेश किया। कर्ण और दुर्योधन उनके आगे थे और कृतवर्मा सहित यादव लोग पीछे थे ॥३४॥ श्रीकृष्ण ने सभामण्डप में ज्योंही प्रवेश किया त्योंही भीष्म, द्रोण आदि के साथ महाराज धृतराष्ट्र सिंहासन से उठ खड़े हुए। ॥३५।३६॥ उनके खड़े होते ही सभा में बैठे हुए हज़ारों राजा आसन छोड़कर खड़े हो गये ॥३७॥ धृतराष्ट्र की आज्ञा से सभा में श्रीकृष्ण के लिए सुवर्ण-मय, बहुत ही स्वच्छ, मूल्यवान् आसन रक्खा गया था ॥३८॥ वासुदेव ने मुसकाकर धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और अन्य राजाओं की यथोचित अभ्यर्थना की। कौरवों और सब राजाओं ने भी जनार्दन का आदर-सत्कार किया ॥३९।४०॥ कृष्णचन्द्र ने उन

अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः ।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥ ४२ ॥
निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥ ४३ ॥
पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ऋषीञ्शान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान् ॥ ४४ ॥
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत् ।
आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च ॥ ४५ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः ।
तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घेषु भारत ॥ ४६ ॥
निषसादाऽऽसने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ।
दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे ।
अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ॥ ४८ ॥
एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ।
गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः ॥ ४९ ॥
निषसादाऽऽसने राजा सहपुत्रो विशाम्पते ।
विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे ॥ ५० ॥
संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ।
चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते ॥ ५१ ॥

राजाओं के बीच में खड़े होकर, अन्तरिक्ष में स्थित नारद आदि महर्षियों को देखकर, भीष्म से कहा— हे पितामह ! नारद आदि महर्षि इस सभा के समारोह को देखने के लिए देवलोक से मनुष्यलोक में आये हैं ॥४१।४२॥ इनको यथोचित आसन दीजिए और सत्कार कीजिए । इन लोगों के आसन ग्रहण किये बिना कोई बैठ नहीं सकता है ॥४३॥ कुरुवंशश्रेष्ठ भीष्म ने ऋषियों को सभा के द्वार पर उपस्थित देखकर शीघ्र आसन लाने के लिए सेवकों को आज्ञा दी । सेवक लोग उसी समय मणिकाञ्चन-शोभित श्रेष्ठ आसन ले आये । ऋषि लोग जब उन आसनों पर बैठ गये तब महात्मा वासुदेव और अन्य राजा लोग अपने-अपने आसनों पर जा बैठे । दुःशासन ने सात्यकि को और विविंशति ने कृतवर्मा को श्रेष्ठ आसन दिया । क्रोधी असहनशील दुर्योधन कर्ण के साथ, एक ही आसन पर, श्रीकृष्ण से कुछ ही दूरी पर बैठा । शकुनि अपने पुत्र को साथ लिये हुए एक आसन पर बैठ गया । उसके शरीररक्षक गान्धार देश के वीर उसके पास उपस्थित थे । महात्मा विदुर महामूल्य मणिपीठ पर, श्रीकृष्ण के आसन से सटकर, बैठे ॥४४।५०॥ जैसे बारम्बार अमृत पीने से तृप्ति नहीं होती, वैसे ही बहुत दिनों के पश्चात् श्रीकृष्ण

अमृतस्येव नाऽतृप्यन्प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।
अतसीपुष्पसङ्काशः पीतवासा जनार्दनः ॥ ५२ ॥
व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ॥ ५३ ॥
ततस्तूष्णीं सर्वमासीद्गोविन्दगतमानसम् ।
न तत्र कश्चित्किंचिद्वा व्याजहार पुमान्क्वचित् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

को बारम्बार देखकर श्री·कुरुवंशियों का और अन्य राजाओं का जी नहीं भरता था ॥५१॥ अलसी के फूल के समान श्यामवर्ण मधुसूदन पीताम्बर पहने ऐसे जान पड़ते थे जैसे सुवर्ण में जड़ा हुआ नीलम का नग हो ॥५२॥ सब सभासद चुप-चाप बैठे हुए एकटक नारायण की ओर देख रहे थे। किसी को कुछ बोलने का साहस न होता था ॥५३।५४॥

—०—

उद्योगपर्व का चौरानवे अध्याय समाप्त हुआ । ९४ ॥

अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन उवाच—तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णींभूतेषु राजसु ।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥ १ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन्सभाम् ।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत ।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः ॥ ३ ॥
राजन्नाऽन्यत्प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः ।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ॥ ४ ॥
इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ५ ॥
कृपाऽनुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत ।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद्विशिष्यते ॥ ६ ॥

पचानबे अध्याय ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! इस तरह जब सभा में सन्नाटा छाया हुआ था तब महात्मा श्रीकृष्ण, वर्षाकाल के बादल की तरह, गम्भीर वाणी से सभामण्डप को प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्र की ओर देखकर कहने लगे—हे भरतकुलदीपक ! मैं इसी लिए आपके पास आया हूं कि पाण्डवों और कौरवों में परस्पर सन्धि हो जाय और वीर पुरुषों का विनाश न हो ॥१।२॥ आपको और कोई हितोपदेश करने की मुझे इच्छा नहीं; क्योंकि जानने योग्य सब बातें आप जानते ही हैं ॥४॥ हे राजेन्द्र! आप का घराना विद्या, सदाचार, वीरता आदि गुणों के कारण अन्य राजघरानों से श्रेष्ठ समझा जाता है ॥५॥

तस्मिन्नेवंविधे राजन्कुले महति तिष्ठति ।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ७ ॥
त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम ।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ॥ ८ ॥
ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः ।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ९ ॥
अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद्वेत्थ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥
सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता ।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११ ॥
शक्या चेयं शमयितुं न चेद्दित्ससि भारत ।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
त्वय्यधीनः शमो राजन्मयि चैव विशांपते ।
पुत्रान्स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥ १३ ॥
आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहाऽन्वयैः ।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ॥ १४ ॥
तव चैव हितं राजन्पाण्डवानामथो हितम् ।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

दया, उदारता, सरलता, क्षमा और सत्य, ये बातें कुरुकुल में विशेष रूप से विद्यमान हैं ॥६॥ इसलिए इस घराने से, विशेषकर आपसे, किसी तरह का अनुचित कार्य होना बहुत ही अनुचित है ॥७॥ आप कुरुकुल के प्रधान नेता और शासक वर्तमान हैं। आपके रहते आपसे छिपाकर और आपको जताकर भी कौरव लोग असत्य और कपट का व्यवहार कर रहे हैं। आपके पुत्र दुर्योधन आदि अत्यन्त अशिष्ट हैं। वे लोभ के वश होकर प्राचीन मर्यादा को तोड़ते हैं—धर्म और अर्थ पर दृष्टि न रखकर पाण्डवों के साथ क्रूरता और बेईमानी का बर्ताव कर रहे हैं। ॥८।१०॥ उसी के कारण इस समय कुरुकुल के ऊपर विपत्ति के बादल मडरा रहे हैं। जो आप ऐसी अवस्था को न सभालेंगे तो निश्चय है कि अन्त को युद्ध की अग्नि में पृथ्वी के असख्य मनुष्यों का सर्वनाश हो जायगा ॥११॥ हे राजेन्द्र! आप चाहें तो सहज मे यह आपत्ति टल सकती है। इसलिए कदाचित् दोनो पक्षो को शान्त करना अत्यन्त दुष्कर नहीं है ॥१२॥ हे राजेन्द्र! कौरवों और पाण्डवों का मेल आपके और मेरे हाथ में है। आप अपने पुत्रों को समझाकर या डाटकर शान्त कीजिए और मैं आपके वर्तमान शत्रु पाण्डवों को रोकूँगा ॥१३॥ हे राजेन्द्र! आपकी आज्ञा मानना आपके पुत्रों का आवश्यक कर्तव्य है। आपकी आज्ञा पर चलने से उनका परम कल्याण होगा ॥१४॥ शान्ति स्थापित करने से कौरव और पाण्डव दोनों का ही कल्याण होगा।

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशांपते ।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ॥ १६ ॥
धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन्पाण्डवैरभिरक्षितः ।
नहि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥ १७ ॥
नहि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः ।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपाः ॥ १८ ॥
यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १९ ॥
सैन्धवैश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥ २० ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः ।
को नु तान्विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥
लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाऽप्यधृष्यताम् ।
प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥ २२ ॥
तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते ।
श्रेयांसश्चैव राजानः सन्धास्यन्ते परन्तप ॥ २३ ॥
स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा ।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम् ॥ २४ ॥
एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा ।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ॥ २५ ॥

इसलिए शान्ति स्थापित करने का यत्न कीजिए, व्यर्थ का वैर छोड़ दीजिए। कौरव आपके सहायक हैं ही, इस समय पाण्डवों के द्वारा सब ओर से सुरक्षित होकर धर्मार्थ के चिन्तन में शेष जीवन के दिन व्यतीत कीजिए ॥१५।१७॥ हे नरराज ! विशेष यत्न और उद्योग करके भी आप पाण्डवों को हरा नहीं सकेंगे; किन्तु पाण्डव जो आपके रक्षक हो जायेंगे तो देवगण सहित इन्द्र भी आपका सामना न कर सकेंगे। राजाओं की तो कुछ बात ही नहीं ॥१८॥ देखिए, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजराज, सुदक्षिण, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि, महारथी युयुत्सु आदि वीर यदि मिलकर एक हो जायँ तो फिर समार में कौन इनसे युद्ध करने की शक्ति कर सकता है ॥१९।२१॥ हे शत्रुनाशन ! कौरवों और पाण्डवों का मेल हो जाने पर आप सहज ही सब शत्रुओं को जीत सकते और त्रिभुवन का साम्राज्य भी प्राप्त कर सकेंगे हैं ॥२२॥ उस समय आपके समकक्ष या आपसे श्रेष्ठ राजा भी आपसे सन्धि कर लेंगे ॥२३॥ तब पुत्र, पौत्र, भाई, पिता और सुहृद् गण से सुरक्षित होकर आप पृथ्वीमण्डल का

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत ।
अन्यान्विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाऽखिलः ॥ २६ ॥
तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परन्तप ।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहाऽमात्यैर्नराधिप ॥ २७ ॥
संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान्क्षयः ।
क्षये चोभयतो राजन्कं धर्ममनुपश्यसि ॥ २८ ॥
पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वाऽपि महाबलैः ।
यद्विन्देथाः सुखं राजन्स्तद्ब्रूहि भरतर्षभ ॥ २९ ॥
शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकांक्षिणः ।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान्रक्ष महतो भयात् ॥ ३० ॥
न पश्येम कुरून्सर्वान्पाण्डवांश्चैव संयुगे ।
क्षीणानुभयतः शूरान्रथिनो रथिभिर्हतान् ॥ ३१ ॥
समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥ ३२ ॥
त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः ।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात्कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥
शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः ।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान्पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥
शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम् ।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

साम्राज्य भोगते हुए परम सुख से रहेंगे ॥२४॥ आप अपने पुत्रों और भतीजों के प्रताप से सहज ही अन्य शत्रुओं को हराकर, मन्त्री, मित्र, पुत्र आदि के साथ पाण्डवों के बाहुबल से प्राप्त भूमि का ऐश्वर्य भोग सकेंगे ॥२५।२७॥ हे राजेन्द्र ! संग्राम का फल केवल महाक्षय है। देखिए, कौरव या पाण्डव दोनों में से यदि कोई पक्ष नष्ट हुआ तो आपकी हानि होगी। शोक भी होगा ॥२८॥ समर में पाण्डवों या कौरवों का विनाश होने से क्या आपकी प्रशंसा होगी ? पाण्डव मरे या कौरव मरे तो आपको क्या सुख मिलेगा ? ॥२९॥ पाचों पाण्डव शूर, युद्धनिपुण और आपके सगे हैं। इसलिए आप इस होनेवाले अनर्थ से दोनों पक्षों की रक्षा कीजिए ॥३०॥ ऐसा उपाय कीजिए जिसमें शूर और रथी पाण्डव और कौरव एक दूसरे के हाथ से मरते न देख पड़ें। हे राजेन्द्र ! पृथ्वी के सब राजा क्रोध-वश होकर एकत्र हुए हैं। उनके क्रोध से बड़ी भारी मनुष्यहत्या या लोकक्षय होगा। इसलिए आप प्रजा की रक्षा कीजिए; उसका विनाश न होने पावे। आप प्रकृतिस्थ हों, अर्थात् सत्त्वगुण की वृत्ति स्वीकार करें तो यह भाई-भाई का विरोध बहुत शीघ्र मिट सकता है। विशुद्ध वंश में उत्पन्न, उदार,

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परन्तप ॥ ३६ ॥
हार्दं यत्पाण्डवेष्वासीत्प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये ।
तदेव ते भवत्वद्य सन्धत्स्व भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः ।
तान्पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः ।
मा ते धर्मस्तथैवाऽर्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ ३९ ॥
आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च ।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहाऽनुगैः ॥ ४० ॥
द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः ।
त्रयोदशं तथाऽज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ ४१ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन्पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाऽहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः॥ ४२ ॥
तस्मिन्नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन्स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ ४३ ॥
त्वं धर्ममर्थं संज्ञानन्सम्यङ् नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून्क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥ ४४ ॥
स भवान्मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

यशस्वी, लज्जाशील कौरव-पाण्डवों को परस्पर मित्र बनाकर आप इस महाभय से बचाइए ॥३१।३४॥ आये हुए राजा लोग क्रोध और वैरभाव छोड़कर, आपस में मिलकर, कीमती वस्त्र और माला आदि पहनें, एक साथ भोजन करें और प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घर को लौट जायँ ॥३५।३६॥ पहले पाण्डवों के साथ आपका जैसा सद्भाव था वैसा ही फिर हो जाय। हे भरतश्रेष्ठ! आप शान्ति स्थापित करने के लिए यत्न कीजिए॥३७॥ पाण्डवों के पिता बाल्यावस्था में ही मर गये थे, तभी से वे पुत्र की तरह आपके यहां पले हैं। इसलिए आप उन्हें और अपने पुत्रों को एकसा समझकर दोनों की रक्षा कीजिए ॥३८॥ सब समय, विशेषकर विपत्ति के समय, आपको पाण्डवों की रक्षा करनी चाहिए। इस कारण कर्तव्य-विरुद्ध कार्य करके धर्म और अर्थ को हानि करना आप लोगों के लिए सर्वथा अयोग्य है ॥३९॥ हे महाराज! पाण्डवों ने आपको प्रणाम और प्रसन्न करके कहा है कि 'हमने आपको पिता मानकर आपकी आज्ञा से बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करके बहुत भारी क्लेश सहे हैं ॥४०।४१॥ हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके, यह बात वनवासी ब्राह्मण जानते हैं। इस समय ऐसा उपाय कीजिए जिससे हमें अपने भाग का राज्य मिल जाय ॥४२।४३॥ आप धर्म और अर्थ के तत्त्व को

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ ४५ ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।
पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥ ४६ ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।
आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च ॥ ४८ ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
न चाऽस्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥ ५० ॥
ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥ ५१ ॥
शक्यं किमन्यद्वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥ ५२ ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुंचेमान्मृत्युपाशात्क्षत्रियान्पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

अच्छी तरह से जानते हैं। हमने आपको गुरुतुल्य समझकर सब क्लेश सहे हैं ॥४४॥ इसलिए इस समय पिता-माता की तरह हमें विपत्ति से उबारना आपका परम कर्तव्य है। हे महाराज! गुरु से शिष्य को जैसा व्यवहार करना चाहिए, वैसा ही व्यवहार हम आपके साथ करते हैं। आप भी हमारे साथ ऐसा व्यवहार कीजिए जैसा गुरु को करना चाहिए ॥४५।४६। हम जो कुराह पर चलें तो हमें सुमार्ग पर लगाना आपका काम है। आप धर्म-मार्ग पर दृढ़ होकर हमें उसी राह पर लगाइए' ॥४७॥ पाण्डवों ने आपके सभासदों से भी कहा है कि 'आप लोगों के ऐसे सभासदों के रहते सभा में अन्याय होना उचित नहीं ॥४८॥ यदि सभासदों के आगे अधर्म से धर्म का और असत्य से सत्य का विनाश हो तो वे भी नष्ट हो जाते हैं ॥४९॥ जिस सभा में अधर्म के हाथों धर्म की हत्या होती है और वहा के सभासद अधर्म से धर्म की रक्षा नहीं करते तो उस धर्म की हत्या से वे भी मारे जाते हैं। नदी जैसे किनारे पर के वृक्षों को उखाड़ डालती है वैसे ही धर्म ऐसे सभासदों को नष्ट कर देता है ॥५०॥ जो सभासद धर्म पर दृष्टि रखकर सोच-विचार करते हैं अर्थात् अधर्म का अनुमोदन नहीं करते वे ही सत्य, धर्मसङ्गत और न्यायपूर्ण वचन कहते हैं' ॥५१॥ हे महाराज! मैं इसके सिवा और कुछ नहीं कह सकता कि आप पाण्डवों को राज्य देकर उनसे सन्धि कर लीजिए; अथवा इस बारे में जो वक्तव्य हो सो यहा के सभासद कहें ॥५२॥ हे राजेन्द्र! यदि आपको मेरी ये बातें धर्मार्थ सङ्गत और सत्य समझ पड़ें तो इन राजाओं को और अपने पुत्रों को मृत्युपाश से छुड़ाइए ॥५३॥ हे भरतश्रेष्ठ!

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांऽशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥ ५४ ॥
ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुंक्ष्व भोगान्परंतप ।
अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥ ५५ ॥
सपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥ ५६ ॥
इन्द्रप्रस्थं त्वयैवाऽसौ सपुत्रेण विवासितः ।
स तत्र निवसन्सर्वान्वशमानीय पार्थिवान् ॥ ५७ ॥
त्वन्मुखानकरोद्राजन्न च त्वामत्यवर्तत ।
तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥ ५८ ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।
स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभां गताम् ॥ ५९ ॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाऽकम्पत युधिष्ठिरः ।
अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥ ६० ॥
धर्मादर्थात्सुखाच्चैव मा राजन्नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चाऽनर्थमात्मनः ॥ ६१ ॥
लोभेऽतिप्रसृतान्पुत्रान्निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः ।
यत्ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परन्तप ॥ ६२ ॥

अब आप क्रोध-ईर्ष्या त्यागकर शान्त भाव धारण कीजिए। पाण्डवों को उनके बाप का भाग देकर पुत्रों के साथ सुख से रहिए ॥५४॥ महात्मा युधिष्ठिर धर्म के मार्ग से कभी डिगनेवाले नहीं ॥५५॥ आप अच्छी तरह जानते हैं कि महाराज युधिष्ठिर आपसे और आपके पुत्रों से कैसा व्यवहार रखते हैं। यद्यपि आपने उनको जलाना चाहा, देश से निकाल दिया, तो भी वे आपकी शरण में आये हैं ॥५६॥ आपने पहले, पुत्रों की सम्मति से, युधिष्ठिर को हस्तिनापुर से इन्द्रप्रस्थ में रहने को बाध्य किया था। उनके अनुसार वे वहां रहे थे और अपने बाहुबल से राजाओं को जीतकर उन्होंने आपके अधीन कर दिया था। इसके विरुद्ध उन्होंने कभी कुछ काम नहीं किया। ॥५७।५८॥ किन्तु बीच में सुबल-पुत्र शकुनि ने, आपकी सम्मति से, कपट-द्यूत में उनका राज्य और धन-सम्पत्ति अन्यायपूर्वक हर ली। उस अवस्था में द्रौपदी का घोर अपमान देखकर भी पाण्डव लोग क्षत्रिय-धर्म से विचलित नहीं हुए ॥५९॥ हे भारत! मैं आपके और पाण्डवों के कल्याण के लिए ही ये सब बातें कह रहा हूं। हे राजेन्द्र! आप युद्ध ठानकर अपनी प्रजा के धर्म, अर्थ और सुख को नष्ट न कीजिएगा। हे महाराज! आपके लोभी पुत्र अनर्थ को अर्थ और अर्थ को अनर्थ समझ रहे हैं। इसलिए आप उनको शासन में लाइए। पाण्डव लोग भक्ति

वैशम्पायन उवाच—तद्वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् ।
न तत्र कश्चिद्वक्तुं हि वाचं प्राक्रामदग्रतः ॥ ६३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

और युद्ध, दोनों के लिए तैयार हैं। अब आपको जो रुचे सो कीजिए ॥६०।६२॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण के वचन सुनकर राजा लोग मन ही मन उनकी प्रशंसा करने लगे। किन्तु स्पष्ट रूप से पहले बोलने का या कुछ कहने का साहस किसी को नहीं हुआ ॥६३॥

उद्योगपर्व का पचानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९५ ॥

अथ षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना ।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन्सर्वे सभासदः ॥ १ ॥
कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान् ।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ॥ २ ॥
तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णींभूतेषु राजसु ।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत्कुरुसंसदि ॥ ३ ॥
इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः ।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे ॥ ४ ॥
राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराऽभवत् ।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥
स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान् ।
ब्राह्मणान्क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः ॥ ६ ॥
अस्ति कश्चिद्विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद्युधि ।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वाऽपि शस्त्रभृत् ॥ ७ ॥
इति ब्रुवन्नन्वचरत्स राजा पृथिवीमिमाम् ।

छियानवे अध्याय ॥ ९६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महामनस्वी यशस्वी श्रीकृष्ण की बात पूरी होने पर सभासद चुपचाप सोचने लगे; कोई कुछ उत्तर न दे सका। सबको रोमाञ्च हो आया। इस तरह सब राजाओं के चुप रहने पर निर्भय महर्षि परशुराम ने कुरुसभा में सबके सामने कहा—हे धृतराष्ट्र! मैं दृष्टान्त सहित कुछ सत्य बातें कहता हूँ। उन्हें सुनकर जो उचित समझिए सो कीजिए। यह निश्चित है कि यदि मेरी बात मानियेगा तो आपका कल्याण होगा ॥१।४॥ मैंने सुना है कि प्राचीन काल में एक दम्भोद्भव नाम के राजा थे। वे सम्पूर्ण पृथ्वी के सम्राट् होकर राज्यसुख भोग करने लगे थे ॥५॥ महारथी राजा दम्भोद्भव प्रातःकाल उठकर नित्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि से पूछते थे कि क्या पृथ्वी पर ब्राह्मण आदि चारों

दर्पेण महता मत्तः कश्चिदन्यमचिन्तयन् ॥ ८ ॥
तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः ।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः ॥ ९ ॥
निषिध्यमानोऽप्यसकृत्पृच्छत्येवं स वै द्विजान् ।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा ॥ १० ॥
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः ।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः ॥ ११ ॥
अनेकजयिनौ संख्ये यो वै पुरुषसत्तमौ ।
तयोस्त्वं न समो राजन्भवितासि कदाचन ॥ १२ ॥
एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान्द्विजान् ।
क तौ वीरौ कजन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ ॥ १३ ॥
ब्राह्मणा ऊचुः—नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम् ।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युद्धयस्व पार्थिव ॥ १४ ॥
श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्यते गन्धमादने ॥ १५ ॥
स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम् ।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद्यत्र तावपराजितौ ॥ १६ ॥
स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ।
मृगयाणोऽन्वगच्छत्तौ तापसौ वनमाश्रितौ ॥ १७ ॥

वर्णों में मुझसे अधिक या मेरे समान कोई शस्त्रधारी पुरुष है ? ॥६।७॥ राजा दम्भोद्भव को ऐसा गर्व था कि वे अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझते थे और अपने साथ युद्ध करने की शक्ति रखनेवाले योद्धा की तलाश में पृथ्वी पर घूमते रहते थे। विद्वान् उदार और निडर ब्राह्मणों ने राजा को बारम्बार इस तरह अपने मुँह अपनी प्रशंसा करते देखकर कई बार मना किया तो भी राजा ने नहीं माना; ब्राह्मणों से यह प्रश्न करना नहीं छोड़ा। तब वेदपाठी तपस्वी ब्राह्मणों ने कुपित होकर उन महाअभिमानी और ऐश्वर्य के नशे में चूर राजा से कहा—हे राजेन्द्र ! दो पुरुष श्रेष्ठ ऐसे हैं, जिन्होंने युद्धस्थल में कई बार अनेक वीरों को हराया है। तुम युद्ध में कभी उनकी बराबरी नहीं कर सकोगे ॥८।१२॥ ब्राह्मणों से यह सुनकर राजा ने पूछा—हे ब्राह्मणो ! वे दोनों वीर किस देश में उत्पन्न हुए हैं ? कहाँ रहते हैं ? कौन हैं ? उनके कर्म किस प्रकार के हैं ? ॥१३॥ ब्राह्मणों ने कहा—हे राजेन्द्र ! हमने सुना है कि वे दोनों श्रेष्ठ तपस्वी नर-नारायण हैं और इस समय देवलोक से मनुष्य-लोक में आकर तप कर रहे हैं। तुम उनके साथ युद्ध करो। उनका ठिकाना भी हम तुमको बताये देते हैं। चले जाओ, वे गन्धमादन पर्वत पर अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हैं ॥१४।१५॥ असहनशील घमण्डी राजा दम्भोद्भव नर-नारायण को अपराजित

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसन्ततौ ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ॥ १८ ॥
अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ॥ १९ ॥
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति ।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवाऽन्वकीर्तयत् ॥ २० ॥
बाहुभ्यां मे जीता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः ।
भवद्भ्यां युद्धमाकांक्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ॥ २१ ॥
आतिथ्यं दीयतामेतत्कांक्षितं मे चिरं प्रति ।
नरनारायणावूचतु —अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ॥ २२ ॥
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः ।
अन्यत्र युद्धमाकांक्षा बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ॥ २३ ॥
राम उवाच—उच्यमानस्तथाऽपि स्म भूय एवाऽभ्यभाषत ।
पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ॥ २४ ॥
दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ ।
ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ॥ २५ ॥
अब्रवीदेहि युध्यस्व युद्धकामुक क्षत्रिय ।
सर्वशस्त्राणि चाऽऽदत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ॥ २६ ॥

सुनकर बहुत सी चतुरङ्गिणी सेना साथ लिये हुए गन्धमादन पर्वत की ओर चले, जहा नर और नारायण कठिन तपस्या कर रहे थे। राजा ने गन्धमादन पर्वत पर जाकर देखा कि उक्त महर्षि जाड़ा-गर्मी, आंधी-जल, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व धर्मों को सहते हुए उग्र तपस्या कर रहे हैं ॥१६।१७॥ दोनों महर्षियों के शरीर ऐसे दुर्बल थे कि नसें दूर से देख पड़ती थीं। राजा ने पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और कुशल पूछी। ऋषियों ने भी आसन, फल मूल, जल आदि देकर राजा का सत्कार किया और पूछा—हे राजेन्द्र ! कहिए हम आपका क्या कार्य करें ? ॥१८।१९॥ अब राजा ने आदि से अन्त तक सब हाल सुनाकर उनसे कहा—मैं अपने बाहुबल से सब शत्रुओं को मारकर सारी पृथ्वी जीत चुका हूँ। इस समय आप लोगों से युद्ध करने इस पर्वत पर आया हूँ। मेरी बहुत दिनों की युद्ध की इच्छा पूरी कीजिए। मैं यही अतिथिसत्कार चाहता हू ।२०।२२। नर नारायण ने कहा—हे राजेन्द्र ! यह आश्रम क्रोध और लोभ से रहित है। इस आश्रम में युद्ध कैसा ? यहां अस्त्र शस्त्र, क्रूरता या कुटिलता की चर्चा होना भी असम्भव है। पृथ्वी पर बहुत से क्षत्रिय हैं। और जगह जाकर उनमे युद्ध की इच्छा प्रकट करो ॥२३॥ परशुराम कहते हैं—दम्भोद्भव राजा को शान्त करने के लिए नर-नारायण ने बारम्बार इस तरह कहा, पर राजा ने न माना। वे बारम्बार युद्ध के लिए उन महर्षियों को बुलाने लगे। तब नर ने मुट्ठी भर सेंठे

अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम् ।
दम्भोद्भव उवाच—यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ॥ २७ ॥
एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः ।
राम उवाच—इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ॥ २८ ॥
दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।
तस्य तानस्यतो घोरानिषून्परतनुच्छिदः ॥ २९ ॥
कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।
ततोऽस्मै प्रास्रजद्घोरमैषीकमपराजितः ॥ ३० ॥
अस्त्रमप्रतिसन्धेयं तदद्भुतमिवाऽभवत् ।
तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ॥ ३१ ॥
निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।
स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ॥ ३२ ॥
पादयोर्न्यपतद्राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाऽब्रवीत् ।
तमब्रवीन्नरो राजञ्छरण्यः शरणैषिणाम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।
नैतादृक्पुरुषो राजन्क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
मनसा नृपशार्दूल भवेत्परपुरञ्जयः ।
मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित्कथञ्चन ॥ ३५ ॥
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत्ते राजन्समाहितम् ।

उछलकर राजा से कहा—हे युद्ध की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय! आओ, सब अस्त्र शस्त्र ले आओ सेना तैयार करो। मैं अभी तुम्हारी युद्ध की श्रद्धा उतार देता हूं ॥२४।२७॥ राजा ने कहा—हे तापस! जो तुम इन सेंठों से मेरे साथ युद्ध करना उचित समझते हो, तो मैं इस तरह भी तुमसे युद्ध करने को तयार हूं। मैं युद्ध की इच्छा से ही यहां आया हूं। परशुराम कहते हैं—अब राजा दम्भोद्भव तपस्वी नर को मारने की इच्छा से उनके ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। राजा के सैनिक भी चारों ओर से उनपर बाण बरसाने लगे। अपराजित तपस्वी नर ने दिव्य अस्त्र से अभिमन्त्रित सेंठों से ही शत्रुओं को छिन्न करनेवाले बाणों की वह वर्षा निष्फल कर दी और फिर अमोघ घोर ऐषीक अस्त्र राजा के ऊपर छोड़ा। उस अस्त्र से नर ने बड़ा अद्भुत काम यह किया कि मायाबल से सेना-सहित राजा के आंख, नाक, कान आदि अङ्गों को सेंठों से भर दिया। शब्दवेधी और निमित्तवेधी बाण छोड़नेवाले नर के अस्त्र प्रभाव को देखकर राजा व्याकुल हो गये। उन्होंने देखा कि श्वेत इषीका (सेंठे) आकाश भर में छाई हुई है। तब वे "मेरा कल्याण हो" कहकर नर के पांवों पर गिर पड़े ॥२८।३३॥ शरणागतरक्षक भगवान् नर ने राजा से कहा—हे नरश्रेष्ठ! अब धर्मात्मा और ब्राह्मणभक्त बनो। फिर ऐसा काम न करना।३४। तुम ऐसे पुरुष, क्षत्रिय के धर्म का स्मरण करके

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहङ्कार आत्मवान् ॥ ३६ ॥
दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्य प्रजाः पालय पार्थिव ।
मा स्म भूयः क्षिपेः कञ्चिदविदित्वा बलाबलम् ॥ ३७ ॥
अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान्पृच्छेरावयोर्वचनाद्भृशम् ॥ ३८ ॥
ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाऽचरद्भृशम् ॥ ३९ ॥
सुमहच्चापि तत्कर्म यन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥ ४० ॥
तस्माद्यावद्धनुः श्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत्त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन्धनञ्जयम् ॥ ४१ ॥
काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसन्तर्जनं तथा ।
सन्तानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ॥ ४२ ॥
एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ॥ ४३ ॥
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेत उदाहृताः ।
उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ ४४ ॥
स्वपन्ति च प्लवन्ते च च्छर्दयन्ति च मानवाः ।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ४५ ॥

रखकर, कभी नरने ऐसा विचार भी नहीं करते ॥३५॥ तुम अहङ्कार के अधीन होकर अपने से दुर्बल या प्रबल पर कभी आक्रमण न करना ॥३६॥ अब प्रज्ञायुक्त होकर लोभ और अहङ्कार छोड़ दो । महानुभाव, दमयुक्त, क्षमाशील और शान्तिप्रिय होकर प्रजा का पालन करो ॥३७॥ किसी के बलाबल को जाने बिना भूलकर उस पर आक्रमण न करना ॥३८॥ मैं जाने की आज्ञा देता हूं; जाओ, सुख से रहो । मेरे कहने से जाकर ब्राह्मणों से उनकी कुशल पूछना ॥३९॥ राजा दम्भोद्भव ने दोनों महात्माओं के पांव छुए । फिर वे अपने नगर में जाकर धर्म के अनुसार सब कार्य करने लगे । हे धृतराष्ट्र ! नर ने पहले बहुत से अलौकिक कार्य किये हैं । नारायण नर से भी अधिक गुणी और श्रेष्ठ हैं ॥४०॥ इसलिए श्रेष्ठ धनुष गाण्डीव पर बाण चढ़ने के पहले ही अभिमान छोड़कर अर्जुन की शरण में जाओ ॥४१॥ हे राजेन्द्र ! ये मनुष्य काकुदीक, शुक, नाक, अक्षिसन्तर्जन, सन्तान, नर्तक, घोर और आस्यमोदक नाम के आठ अस्त्रों से घायल होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं । ये आठो अस्त्र काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अभिमान, मात्सर्य और अहङ्कार ही है ॥४२,४३॥ लोग इन्हीं अस्त्रों के लगने से उन्मत्त से हो जाते हैं । कभी सोते, कभी उछलते कभी वमन करते, कभी मूत्र करते, कभी रोते और

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित् ।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ॥ ४६ ॥
कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत ।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि ॥ ४७ ॥
असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः ।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥ ४८ ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवाऽर्जुनकेशवौ ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥ ४९ ॥
यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे ।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः ॥ ५० ॥
अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति ।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः ॥ ५१ ॥
भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि ।
तत्तथैवाऽस्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दंभोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

कभी हँसते देख पड़ते हैं ॥४४।४५॥ सब लोकों का निर्माण करनेवाले, ईश्वर, सब कर्मों के ज्ञाता नारायण जिनके सखा हैं उन युद्धप्रिय अजेय अर्जुन को हरा सकनेवाला तीनों लोकों में नहीं है ॥४६॥ युद्ध में नरश्रेष्ठ अर्जुन के समान दूसरा कोई नहीं है। तुम भी अर्जुन को अच्छी तरह से जानते हो। जनार्दन कृष्ण उनसे भी श्रेष्ठ हैं। हे राजेन्द्र ! जिन नर-नारायण का वर्णन मैंने किया वे ये अर्जुन और श्रीकृष्ण ही हैं। यदि मेरी बात विश्वासयोग्य समझते हो और मेरा तात्पर्य समझ गये हो तो युद्ध की इच्छा छोड़कर शान्ति ग्रहण करो। हे भरतश्रेष्ठ ! इस पृथ्वी पर तुम्हारा कुल प्रतिष्ठित समझा जाता है, इसलिए ऐसा करो, जिसमें उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपना भला सोचो ॥४७।५२॥

—०—

उद्योगपर्व का छियानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९६ ॥

अथ सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

वैशम्पायन उवाच—जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत्कुरुसंसदि ॥ १ ॥
कण्व उवाच—अक्षयश्चाऽव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।

सत्तानवे अध्याय ॥ ९७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! परशुराम के पश्चात् महर्षि कण्व ने दुर्योधन से कहा— हे कुरुराज ! लोकपितामह ब्रह्मा, भगवान् नर और नारायण, ये तीनों क्षय और व्यय से रहित निर्भय

तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ॥ २ ॥
आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाऽव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ॥ ३ ॥
निमित्तमरणाश्चाऽन्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा ॥ ४ ॥
ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः ॥ ५ ॥
मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्यश्च ये चाऽन्ये जीवलोकचरास्तथा ॥ ६ ॥
भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ॥ ७ ॥
स भवान्धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहाऽर्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुन्धराम् ॥ ८ ॥
बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥
न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ॥ १० ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ॥ ११ ॥
मतस्त्रिलोकराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ॥ १२ ॥

हैं । सब देवताओं में एक विष्णु ही सनातन, अव्यय, अजेय और सबके ईश्वर हैं । चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रहगण, नक्षत्रपुञ्ज आदि सब प्रलय काल में नष्ट हो जाते हैं । ये बारम्बार प्रलय के समय जगत् से मिट जाते हैं और सृष्टि के समय फिर प्रकट होते हैं ॥१।५॥ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनि के जीव और अन्य सब जीवलोक के प्राणी बहुत थोड़े दिन जीकर परलोक को सिधार जाते हैं । राजालोग प्रायः थोड़ी ही अवस्था तक ऐश्वर्य-सुख भोगकर जवानी में ही, अपने पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए, परलोक-वासी हो जाते हैं ॥६।७॥ इसलिए तुम युद्ध की इच्छा छोड़कर पाण्डवों से सन्धि कर लो और उनके साथ पृथ्वी का पालन करो । हे दुर्योधन ! अपने को ही सबसे बढ़कर बलशाली समझना अनुचित है । संसार में एक से एक बली पड़े हैं । बाहुबल रखनेवाले लोगों के आगे सेना का बल कोई कुछ नहीं । देव-तुल्य पराक्रमी पाण्डव असाधारण बल वीर्यशाली हैं । ॥८।१०॥ यहाँ पर मैं तुमको एक पुरातन इतिहास सुनाता हूं जिसमें मातलि का, कन्या के लिए, वर ढूंढने जाने का हाल है ॥११॥ त्रिलोकीनाथ इन्द्र के

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः साऽतिरिच्यते ॥ १३ ॥
तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ॥ १४ ॥
धिक्खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ॥ १५ ॥
मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितुं कुरुते कन्यका सताम् ॥ १६ ॥
देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ॥ १७ ॥
कण्व उवाच—न देवान्नैव दितिजान्न गन्धर्वान्न मानुषान् ।
अरोचयद्वरकृते तथैव बहुलानृषीन् ॥ १८ ॥
भार्यया‌ऽनु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया ।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम् ॥ १९ ॥
न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः ।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम् ॥ २० ॥
इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाऽभिप्रदक्षिणम् ।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

सारथी मातलि के एक ही कन्या थी, और कोई सन्तान न थी। उसका नाम गुणकेशी था और रूप जगत् भर में बड़ा ही प्रसिद्ध था ॥१२॥ देवरूपिणी गुणकेशी सौन्दर्य तथा तेज में और स्त्रियों से बहुत बढ़कर थी। उस कन्या को विवाह के योग्य देखकर मातलि और उसकी स्त्री दोनों को बड़ी चिन्ता हुई ॥१३।१४॥ मातलि सोचने लगा—हे महाशय! प्रतिष्ठित, यशस्वी पुरुषों के घर में कन्या का होना बहुत बुरा है। कन्या के कारण उसकी माता का कुल, पिता का कुल और पति का कुल, तीनों कुल संशय में पड़ते हैं। मैं मनुष्य-दृष्टि से मनुष्यलोक और देवलोक में कन्या के लिए वर खोज चुका, पर कोई मेरे मनका वर नहीं मिलता॥१५।१७॥ कण्वऋषि कहते हैं—मातलि ने बहुत से देव, दानव, गन्धर्व, ऋषि और मनुष्य देख डाले, पर अपनी कन्या के योग्य उसे कोई न जान पड़ा ॥१८॥ अन्त को रात्रि के समय अपनी स्त्री सुधर्मा से सम्मति करके उसने नागलोक जाने का निश्चय किया ॥१९॥ मन में यह सोचकर कि देवलोक और मनुष्यलोक में गुणकेशी के योग्य वर नहीं मिला, अब शायद नागलोक में मिल जाय, मातलि ने यात्रा कर दी। अपनी स्त्री से बिदा होकर, कन्या को प्यार करके, मातलि पाताल को चल दिया ॥२०।२१॥

—०—

उद्योगपर्व का सत्तानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९७ ॥

अथ अष्टनवतितमोऽध्याय ॥ ९८ ॥

कण्व उवाच—मातलिस्तु व्रजन्मार्गे नारदेन महर्षिणा ।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद्यदृच्छया ॥ १ ॥
नारदोऽथाऽब्रवीदेनं क्व भवान्गन्तुमुद्यतः ।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद्वा शतक्रतोः ॥ २ ॥
मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता ।
यथावत्सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति ॥ ३ ॥
तमुवाचाऽथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति ।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः ॥ ४ ॥
अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन्वसुधातलम् ।
दृष्ट्वा तत्र वरं कञ्चिद्रोचयिष्याव मातले ॥ ५ ॥
अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपां पतिम् ॥ ६ ॥
तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः ।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत ॥ ७ ॥
तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह ।
वरुणेनाऽभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ॥ ८ ॥
नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम् ।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥
नारद उवाच—दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः ।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ १० ॥

अट्ठानबे अध्याय ॥ ९८ ॥

कण्व कहते हैं कि इसी समय महर्षि नारद वरुण से भेंट करने पाताल को जा रहे थे। राह में मातलि को देखकर उन्होंने पूछा—हे मातलि! कहा जा रहे हो? अपने काम से कहीं जा रहे हो या इन्द्र की आज्ञा से? ॥१।२॥ तब मातलि ने उन्हें सब हाल कह सुनाया। नारद ने कहा—हे सूत! मैं भी वरुण से भेंट करने जाता हूं ॥३॥ चलो, हम दोनों साथ ही चलें। मैं तुमको पाताल की सैर भी करा दूँगा और वहा का सब हाल भी बताऊंगा। हम दोनों मिलकर वहा एक योग्य वर भी खोज सकेंगे ॥४।५॥ हे दुर्योधन! यह निश्चय करके दोनों पाताल के भीतर घुसे। वहा जाकर उन्होंने वरुण के दर्शन किये ॥६॥ वहा नारद की तो देवर्षि के योग्य और मातलि की इन्द्र की सी पूजा हुई। फिर अपने आने का कारण बताकर और वरुण से अनुमति लेकर वे नागलोक में घूमने लगे ॥७।८॥ महर्षि नारद पाताललोकवासी प्राणियों का हाल जानते थे, इसलिए वे मातलि से सब हाल कहने लगे—हे सूत! पुत्र-

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः ।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ॥ ११ ॥
एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः ।
रूपवान्दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ॥ १२ ॥
ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम् ।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ॥ १३ ॥
भवनं पश्य वारुण्यं यदेतत्सर्वकाञ्चनम् ।
यत्प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥ १४ ॥
एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले ।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ॥ १५ ॥
अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले ।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ॥ १६ ॥
अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले ।
दिव्यप्रहरणाश्चाऽऽसन्पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७ ॥
अग्निरेष महार्चिष्मान्जागर्ति वारुणे ह्रदे ।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ॥ १८ ॥
एष गाण्डीवमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः ।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद्गाण्डिवं धनुः ॥ १९ ॥
एष कृत्ये समुत्पन्ने तत्तद्धारयते बलम् ।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ॥ २० ॥

पौत्र-सहित वरुण देव के तुम दर्शन कर चुके, अब जलराज के सब समृद्धि-पूर्ण उत्तम स्थानों की सैर करलो ॥९।१०॥ वह देखो, जलपति के कमललोचन महाप्राज्ञ पुष्कर नाम के पुत्र हैं। ये रूप, गुण, शौच और सच्चरित्रता में सबसे बढ़े हुए हैं। लक्ष्मी के समान रूप-लावण्यवाली ज्योत्स्नाकाली नाम की सोम की कन्या ने इनको अपना पति बनाया है ॥११।१३॥ वह देखो, अदिति के बड़े पुत्र सुरश्रेष्ठ का काञ्चनमय वारुणीगृह है। इसी को पाकर देवता लोग 'सुर' कहलाते हैं। हे मातलि! जिनका राज्य छीन लिया गया है उन दैत्यों के वे शस्त्र रक्खे हुए चमक रहे हैं ॥१४।१५॥ ये सब अक्षय शस्त्र, चलाये जाने पर शत्रुवध करके फिर चलानेवाले के पास बारम्बार चले आते हैं। देवताओं ने दैत्यों को जीतकर ये शस्त्र प्राप्त किये हैं। इस स्थान पर राक्षसों और दैत्यों को देवताओं ने हराया था। उन राक्षसों और दैत्यों के पास पहले के देवताओं के ही बनाये ये दिव्य अस्त्र थे। वह वारुणह्रद में उज्ज्वल लपटोंवाली अग्नि जल रही है। यह अग्नि विष्णु के चक्र के भय को भी दूर किये हुए है—यहाँ विष्णु के सुदर्शन चक्र का भी भय नहीं है। वह जो देवताओं द्वारा सुरक्षित गैंड़े की पीठ का बड़ा भारी धनुष रक्खा है, उसका नाम

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु ।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥
एतच्छत्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम् ।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥
एतत्सलिलराजस्य च्छत्रं छत्रगृहे स्थितम् ।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥
एतच्छत्रात्परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम् ।
तमसा मूर्छितं भाति येन नाऽऽर्छति दर्शनम् ॥ २४ ॥
बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यविरोधस्तु तस्माद्गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

गाण्डीव है । अवसर पर अन्य धनुषों की अपेक्षा सौ गुना हजार गुना इसका बल बढ़ जाता है ॥१६।२०॥ यह राक्षस-सदृश शान्ति भङ्ग करनेवाले दुष्ट राजाओं को दण्ड देने के लिए बना है । ब्रह्मज्ञ भगवान् ब्रह्मा ने इसे बनाया है । भगवान् शुक्र ने इसे सब शास्त्रों से श्रेष्ठ कहा है । जलेश वरुण के पुत्र इस धनुष को धारण करते हैं । वह देखो, जलेश वरुण का छत्रगृह है । उसमें विशाल छत्र रक्खा है । वह छत्र मेघ की तरह शीतल जल बरसाया करता है । इस छत्र से गिरनेवाला जल चन्द्र-सम उज्ज्वल होने पर भी अन्धकार से ढका रहने के कारण देख नहीं पड़ता । हे सूत ! यहां बहुत सी देखने योग्य अद्भुत वस्तुएं हैं । परन्तु तुम्हारे काम की शीघ्रता के कारण उन्हें बिना देखे ही हम चलेंगे ॥२१।२५॥

उद्योगपर्व का अट्ठानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

अथ ऊनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

नारद उवाच—एतत्तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद्भुवि जङ्गमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥
अत्राऽऽसुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

निन्नानवे अध्याय ॥ ९९ ॥

नारदजी कहते हैं कि हे मातलि ! यह पाताल नाम का पुर नागलोक के ही मध्य भाग में है । यहां अनेक दैत्य और दानव रहते हैं ॥१॥ जल के वेग में बहकर आये हुए पृथ्वी के कुछ जङ्गम जीव जब यहां प्रवेश करते हैं तब भय के मारे चिल्लाने लगते हैं ॥२॥ यहीं जल सोखनेवाले आसुर अग्नि(वाडवानल) स्थित हैं । जगत् पर अनुग्रह करने के लिए वे अपने को रोके हुए हैं ॥३॥ देवताओं ने यहीं शत्रुओं को

अत्राऽमृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहितारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥
अत्राऽऽदित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यं वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥
यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात्पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥
ऐरावणोऽस्मात्सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥
अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥
अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥
उदयन्नित्यशश्चाऽत्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात्सञ्जीवयति देहिनः ॥ १० ॥
अत्र ते धर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥
अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः ।
भूतये सर्वभूतानामचरत्तप उत्तमम् ॥ १२ ॥
अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः ।

मारकर अमृत पिया और रख दिया है । यहीं से सोम की वृद्धि और क्षय देखा जाता है ॥४॥ इसी स्थान पर अदितिपुत्र हयग्रीव रूपधारी विष्णु, वेदपाठी लोगों की वेदध्वनि बढ़ाने के लिए, वेद-वाक्यों से जगत् को पूर्ण करते हुए पर्व पर्व पर ऊपर उठते हैं। वे सुवर्ण नाम से प्रसिद्ध हैं ॥५॥ ज्योंही वे ऊपर उठते हैं त्योंही ये चन्द्र आदि सब जलमूर्ति होकर, द्रवीभूत चन्द्रकान्त मणि की तरह, गिरते हैं । इसी से इस स्थान का नाम पाताल है ॥६॥ जगत् का हित करने के लिए गजराज ऐरावत इसी स्थान से शीतल जल खींचकर मेघों को पहुंचाते हैं। उसी जल को इन्द्र पृथ्वी पर बरसाते हैं ॥७॥ इसी स्थान पर विविध आकारवाले जलचारी तिमि आदि जल-जन्तु चन्द्रमा की कान्ति पीते हुए रहते हैं ॥८॥ हे सूत ! इस पाताल-तल में इस तरह के बहुत से जीव हैं जो दिन को तो सूर्य की किरणों से मर जाते हैं; किन्तु रात्रि को चन्द्रमा उदय होकर अपनी किरणों से उन पर अमृत बरसाते हैं इससे वे फिर जी उठते हैं ॥९।१०॥ समय के फेर में पड़े हुए दैत्य, इन्द्र से हारकर, यहीं रहते और अपने धर्म का पालन करते हैं ॥११॥ इसी स्थान में सब प्राणियों के स्वामी देवाधिदेव भगवान् शूलपाणि महादेव ने प्राणियों के हित के लिए ही उग्र तप किया है ॥१२॥ वेदपाठ-परायण गोव्रतधारी महर्षि ब्राह्मण स्वर्ग को

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु ।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥
एतच्छत्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम् ।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥
एतत्सलिलराजस्य च्छत्रं छत्रगृहे स्थितम् ।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥
एतच्छत्रात्परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम् ।
तमसा मूर्छितं भाति येन नाऽऽर्छति दर्शनम् ॥ २४ ॥
बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यविरोधस्तु तस्माद्गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

गाण्डीव है । अवसर पर अन्य धनुषों की अपेक्षा सौ गुना हजार गुना इसका बल बढ़ जाता है ॥१६।२०॥ यह राक्षस-सदृश शान्ति भङ्ग करनेवाले दुष्ट राजाओं को दण्ड देने के लिए बना है । ब्रह्मज्ञ भगवान् ब्रह्मा ने इसे बनाया है । भगवान् शुक्र ने इसे सब शास्त्रों से श्रेष्ठ कहा है । जलेश वरुण के पुत्र इस धनुष को धारण करते हैं । वह देखो, जलेश वरुण का छत्रगृह है । उसमें विशाल छत्र रखा है । वह छत्र मेघ की तरह शीतल जल बरसाया करता है । इस छत्र से गिरनेवाला जल चन्द्र-सम उज्ज्वल होने पर भी अन्धकार से ढका रहने के कारण देख नहीं पड़ता । हे सूत ! यहा बहुत सी देखने योग्य अद्भुत वस्तुएं है । परन्तु तुम्हारे काम की शीघ्रता के कारण उन्हें बिना देखे ही हम चलेंगे ॥२१।२५॥

उद्योगपर्व का अट्ठानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

अथ ऊनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

नारद उवाच—एतत्तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद्भुवि जङ्गमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥
अत्राऽऽसुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

निन्नानवे अध्याय ॥ ९९ ॥

नारदजी कहते हैं कि हे मातलि ! यह पाताल नाम का पुर नागलोक के ही मध्य भाग में है । यहा अनेक दैत्य और दानव रहते हैं ॥१॥ जल के वेग में बहकर आये हुए पृथ्वी के कुछ जङ्गम जीव जब यहा प्रवेश करते हैं तब भय के मारे चिल्लाने लगते हैं ॥२॥ यहीं जल सोखनेवाले आसुर अग्नि(वाड़वानल) स्थित हैं । जगत् पर अनुग्रह करने के लिए वे अपने को रोके हुए हैं ॥३॥ देवताओं ने यहीं शत्रुओं को

अत्राऽमृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहितारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥
अत्राऽऽदित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यं वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥
यस्माद्लं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात्पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥
ऐरावणोऽस्मात्सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥
अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥
अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥
उदयन्नित्यशश्चाऽत्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात्सञ्जीवयति देहिनः ॥ १० ॥
अत्र ते धर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥
अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः ।
भूतये सर्वभूतानामचरत्तप उत्तमम् ॥ १२ ॥
अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः ।

मारकर अमृत पिया और रख दिया है । यहीं से सोम की वृद्धि और क्षय देखा जाता है ॥४॥ इसी स्थान पर अदितिपुत्र हयग्रीव रूपधारी विष्णु, वेदपाठी लोगों की वेदध्वनि बढ़ाने के लिए, वेद-वाक्यों से जगत् को पूर्ण करते हुए प्रतिपर्व पर ऊपर उठते हैं। वे सुवर्ण नाम से प्रसिद्ध हैं ॥५॥ ज्योंही वे ऊपर उठते हैं त्योंही ये चन्द्र आदि सब जलमूर्ति होकर, द्रवीभूत चन्द्रकान्त मणि की तरह, गिरते हैं । इसी से इस स्थान का नाम पाताल है ॥६॥ जगत् का हित करने के लिए गजराज ऐरावत इसी स्थान से शीतल जल खींचकर मेघों को पहुंचाते हैं। उसी जल को इन्द्र पृथ्वी पर बरसाते हैं ॥७॥ इसी स्थान पर विविध आकारवाले जलचारी तिमि आदि जल-जन्तु चन्द्रमा की कान्ति पीते हुए रहते हैं ॥८॥ हे सूत ! इस पाताल-तल में इस तरह के बहुत से जीव हैं जो दिन को तो सूर्य की किरणों से मर जाते हैं; किन्तु रात्रि को चन्द्रमा उदय होकर अपनी किरणों से उन पर अमृत बरसाते हैं इससे वे फिर जी उठते हैं ॥९।१०॥ समय के फेर में पड़े हुए दैत्य, इन्द्र से हारकर, दुःखी रहते और अपने धर्म का पालन करते हैं ॥११॥ इसी स्थान में सब प्राणियों के स्वामी देव दिदेव भगवान् शूलपाणी महादेव ने प्राणियों के हित के लिए ही तप किया है ॥१२॥ वेदपाठ-परायण गोव्रतधारी महर्षि ब्राह्मण स्वर्ग को

त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥
यत्र तत्र शयो नित्यं येन केनचिदाशितः ।
येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते ॥ १४ ॥
ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।
प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः ॥ १५ ॥
पश्य यद्यत्र ते कश्चिद्रोचते गुणतो वरः ।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले ॥ १६ ॥
अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया ।
आप्रजानां निसर्गाद्वै नाद्भिद्यति न सर्पति ॥ १७ ॥
नाऽस्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै ।
पितरं मातरं चापि नाऽस्य जानाति कश्चन ॥ १८ ॥
अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः ।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १९ ॥
मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याऽथ भाषितम् ।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज मा चिरम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे ऊनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

अपने कर्मों से जीतकर, प्राण त्यागकर, इसी स्थान में रहते हैं ॥१३॥ इधर-उधर पड़े रहना, जो मिल जाय वही खा लेना, और जो मिल जाय वही पहन लेना गोव्रत कहलाता है ॥१४॥ ऐरावत, वामन, कुमुद, अञ्जन आदि सुप्रतीक के वंश मे उत्पन्न गजराज यहां प्रकट हुए है ॥१५॥ हे मातलि ! देखो, शायद यहां कोई गुणी वर तुम्हें पसन्द आ जाय । तुम पसन्द कर लो, फिर मै यत्न करके उसे प्रसन्न कर लूंगा ॥१६॥ देखो, जल के भीतर वह जो तेज से प्रकाशमान अण्ड देख पड़ता है सो सृष्टि के आरम्भ से अब तक यो ही रक्खा है; न तो वह फूटता है और न चलता है ॥१७॥ मैंने किसी के मुँह से इसके जन्म या विशेषता का हाल नहीं सुना । कोई नहीं बतला सकता कि इसके माता-पिता कौन हैं ॥१८॥ प्रलयकाल मे इसी से महान् अग्नि उत्पन्न होकर चराचर जगत् को भस्म कर देगा ॥१९॥ नारदजी के वचन सुनकर मातलि ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! यहां मुझे अपनी कन्या के योग्य वर नहीं देख पड़ता । चलिए, हम लोग किसी दूसरे स्थान मे चलें ॥२०॥

उद्योगपर्व का निन्नानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९९ ॥

अथ शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

नारद उवाच—हिरण्यपुरमित्येतत्ख्यातं पुरवरं महत् ।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम् ॥ १ ॥
अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा ।

मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम् ॥ २ ॥
अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः ।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा ॥ ३ ॥
नैते शक्रेण नाऽन्येन यमेन वरुणेन वा ।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च ॥ ४ ॥
असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः ।
नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ॥ ५ ॥
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ॥ ६ ॥
निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैताञ्शक्नोति बाधितुम् ॥ ७ ॥
बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ॥ ८ ॥
पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ॥ ९ ॥
वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ॥ १० ॥
पार्थिवानीव चाऽऽभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाऽप्युत ॥ ११ ॥
सूर्यरूपाणि चाऽऽभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ॥ १२ ॥

वाँ अध्याय ॥ १०० ॥

नारदजी ने कहा—हे मातलि ! असुरों के विश्वकर्मा मय दानव ने मायावी दैत्यों और दानवों के लिए बड़े यत्न से, मनोबल के द्वारा, पाताल में हिरण्यपुर नाम का यह श्रेष्ठ पुर बनाया है। पूर्व समय में महातेजस्वी, महावीर, विशालशरीर, भीमपराक्रमी, वायुवेगगामी राक्षस विष्णु के चरणों से उत्पन्न कालखञ्ज असुर और ब्रह्मा के पावों से उत्पन्न महायोद्धा निवातकवच दानव—ब्रह्मा के वर से—यहाँ बसकर रहते थे। वे हजारों घोर मायाओं को जानते थे। इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर अथवा अन्य देवता उन्हें नहीं जीत सकते थे। तुमको विदित है कि इन्द्र तक उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख, इन्द्र और उनके पुत्र जयन्त कई बार युद्ध में उनके मारने से भाग चुके हैं ॥१-८॥ हे मातलि ! देखो, इस हिरण्यपुर के सुवर्णमय, चाँदी के, पद्मरागमय, वैदूर्यमणिमय, मूँगे के और शुभ्रवर्ण सूर्यकान्त मणि के बने, उज्ज्वल हीरों से शोभित, ऊँचे, विचित्र मणिजाल से विभूषित

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ॥ १३ ॥
आक्रीडान्पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ॥ १४ ॥
जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान्कामचारिणः ॥ १५ ॥
मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवाऽन्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ॥ १६ ॥
मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ॥ १७ ॥
नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ॥ १८ ॥
अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नाऽर्हामि दानवान् ।
जानामि तव चाऽऽत्मानं हिंसात्मकमनं तथा ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

घने विशाल भवन शिलामय काष्ठमय सूर्यकिरणमय और अग्निमय ऐसे जान पड़ते हैं ॥९।१२॥ इनके रूप, गुण, परिमाण आदि सब अनिर्वचनीय हैं। ये किस सामग्री से बने हैं, यह बताना भी असम्भव सा है। वह देखो, दैत्यों के क्रीड़ा-स्थान, सोने की शय्याएँ, बहुमूल्य-रत्न-मण्डित भवन और आसन हैं। मेघ-सदृश पर्वत, झरने और इच्छानुसार सदा फूलने-फलनेवाले वृक्ष देखकर नेत्रों को सफल करो। हे मातलि ! तुमने अपनी कन्या के लिए यहां कोई वर पसन्द किया या नहीं ? यदि कोई न जंचा हो तो हम भूमि की और दिशा में चलें ॥१३।१६॥

मातलि ने कहा—हे नारदजी ! मैं देवताओं का अप्रिय नहीं कर सकता। यद्यपि देवता और दैत्य भाई-भाई है, फिर भी दोनों में सदा से वैर चला आता है। इस कारण मैं शत्रुपक्ष से नातेदारी नहीं कर सकता। मैं अपने, आपके और हिंसा-प्रिय दानवों के स्वभाव को अच्छी तरह जानता हूँ। आइए, हम और जगह चलें। मैं दानवों को देखना भी नहीं चाहता ॥१७।१९॥

उद्योगपर्व का सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०० ॥

अथ एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

नारद उवाच—अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम् ।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥ १ ॥

एक सौ एक अध्याय ॥ १०१ ॥

नारद ने कहा—हे सूत ! यह लोक सर्पों और नागों को खा जानेवाले गरुड़ पक्षियों के रहने का स्थान है। ये पक्षी आकाश में उड़ने से या बोझ लादने से कभी नहीं थकते। कश्यप की स्त्री

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम् ।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ॥ २ ॥
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले ।
वर्धितानि प्रसूत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ॥ ३ ॥
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च ।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ॥ ४ ॥
सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः ।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ॥ ५ ॥
कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः ।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद्ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ॥ ६ ॥
नामानि चैषां वक्ष्यामि यथाप्राधान्यतः शृणु ।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ॥ ७ ॥
दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम् ।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ॥ ८ ॥
सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः ।
अनिलश्चाऽनलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ॥ ९ ॥
पङ्कजिद्वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः ।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ॥ १० ॥
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा ।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ॥ ११ ॥
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथाऽनघः ।
मेषहृत्कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सोमभोजनः ॥ १२ ॥

विनता के गर्भ से सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुक्, और सुवर्ण नाम के छः पुत्र उत्पन्न हुए थे। उन्हीं से यह गरुड़ पक्षियों का वंश चला और बढ़ा है। विनता के वंश में उत्पन्न प्रधान-प्रधान पक्षियों ने सैकड़ों हज़ारों कुलों की सृष्टि करके गरुड़-वंश को बढ़ाया है। इस वंश में उत्पन्न सब गरुड़ श्रीमान्, श्रीवत्सचिह्नयुक्त, श्री प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले और बलवान् हैं। ये दयाहीन और नागभक्षी होने के कारण कर्म से क्षत्रिय हैं। अपनी जाति का क्षय करनेवाले होने से ये ब्राह्मण-पदवी नहीं पाते। ये विष्णु भगवान् के वाहन हैं। इन पक्षियों के कुल-देवता, प्रधान आश्रय हृदयनिवासी और परमगति विष्णु ही हैं। यह गरुड़-वंश अत्यन्त प्रशंसनीय है। अब मैं प्रधानता के अनुसार इनके नाम तुमको सुनाता हूँ। सुवर्णचूड़, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्ड, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पङ्कजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमिष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव,

गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः ।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ॥ १३ ॥
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च ।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ॥ १४ ॥
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः ।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ॥ १५ ॥
यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले ।
तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१॥

वल्मीकि, दीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सोमभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर, दिवाकर आदि गरुड़ यहां रहते हैं। मैंने संक्षेप में कीर्तिशाली, महाकाय, प्रधान प्रधान गरुड़पुत्रों के नाम तुम्हें सुना दिये। हे मातलि! जो यहां भी तुम्हारी पसन्द का कोई वर न हो तो फिर चलो, मैं तुमको उस स्थान में ले चलूं जहां तुम्हें कन्या के लिए अपनी पसन्द का बालक मिल जायगा ॥१।१६॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

अथ द्व्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १०२ ॥

नारद उवाच—इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम् ।
यत्राऽऽस्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ॥ १ ॥
क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम् ।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमृतेनाऽभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा ।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ॥ ३ ॥
यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले ।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥ ४ ॥
पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम् ।

एक सौ दो अध्याय ॥ १०२ ॥

नारदजी कहते हैं—हे मातलि! इस स्थानका नाम रसातल है। इसे सातवां पाताल कहते हैं। इस स्थान में गोमाता सुरभि रहती हैं ॥१॥ सुरभि गाय अमृत से उत्पन्न हुई हैं। उन्हीं [के स्तनों] से छहों रसों का सार गोरस निकलता है। वह गोरस पृथ्वी के सार से प्रकट है। पूर्व समय में ब्रह्मा ने अमृत से तृप्त होकर उसका सारांश अपने मुंह से उगला था, तभी से सुरभि उत्पन्न हुई हैं। उन्हीं

पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ॥ ५ ॥
फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले ।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ॥ ६ ॥
अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले।
निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः समन्ताः॥ ७ ॥
पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी ।
दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ॥ ८ ॥
पश्चिमा वारुणी दिक्च धार्यते वै सुभद्रया ।
महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ॥ ९ ॥
सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम् ।
उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ॥ १० ॥
आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ॥ ११ ॥
उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले ।
उच्चैःश्रवाश्चाऽश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ॥ १२ ॥
सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम् ।
अमृतं चाऽमृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ॥ १३ ॥
अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः ।
पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ॥ १४ ॥
न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवासः सुखस्तादृग्रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२॥

के दूध की धारा पृथ्वी पर गिरने से क्षीरसागर बना है।२।४। उस दूध का फेना सागर के किनारों तक फूल सा देख पड़ता है। हे मातलि! कुछ महर्षि वही फेना पीकर दुष्कर तप करते हैं, इससे वे फेनप कहलाते हैं। उन मुनियों के तपोबल से देवता भी भयभीत होते हैं ॥५।६॥ सुरभि की चार बेटिया (गावें) चारों दिशाओं के सिरों पर रहकर उन दिशाओं को धारण किये हुए हैं और उनका पालन करती हैं। सुरभि की कन्या सुरूपा पूर्व दिशा में, हंसिका दक्षिण दिशा में, सुभद्रा पश्चिम दिशा में और कामधेनु एलविला उत्तर दिशामें रहती है।७।१०। देवताओं और दैत्यों ने मन्दराचल को मथानी बनाकर क्षीरसागर में इन धेनुओं का दूध मथा था और सागर से उन्हें वारुणी, लक्ष्मी, अमृत, श्रेष्ठ घोड़ा उच्चैःश्रवा और श्रेष्ठ मणि कौस्तुभ आदि रत्न मिले थे॥११।१२॥ सुरभि का दूध सुधा का आहार करनेवालों (पितरों) के लिए सुधा, अमृताहारियों के लिए अमृत और स्वधा से तृप्त होनेवालों के लिए स्वधा है। पहले रसातल के निवासी

इस विषय की एक गाथा कहते थे, वह अब तक सुनी जाती है। पण्डित लोग अभी तक यह गाथा गाते हैं कि रसातल में रहने से जो सुख प्राप्त होता है वह नागलोक, स्वर्गलोक या विमानों में नहीं है ॥१३।१५॥

उद्योगपर्व का एक सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०२ ॥

अथ त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

नारद उवाच—इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
यादृशी देवराजस्य पुरी वर्याऽमरावती ॥ १ ॥
एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ॥ २ ॥
श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः ।
सहस्रं धारयन्मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः ॥ ३ ॥
इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः ।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४ ॥
मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः ।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ॥ ५ ॥
सहस्रशिरसः केचित्केचित्पञ्चशताननाः ।
शतशीर्षास्तथा केचित्केचित्त्रिशिरसोऽपि च ॥ ६ ॥
द्विपञ्चशिरसः केचित्केचित्सप्तमुखास्तथा ।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ॥ ७ ॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ॥ ८ ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ।
कालीयो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥

एक सौ तीन अध्याय ॥ १०३ ॥

• नारदजी ने कहा—हे मातलि! इन्द्र की अमरावती नगरी जैसी मनोहर है वैसी ही वासुकि नाग की राजधानी यह भोगवती पुरी है। महापराक्रमी शेषनाग तपोबल से सहस्र मस्तकों पर प्रभावशालिनी पृथ्वी को रक्खे हुए हैं। उनका शरीर श्वेत पर्वत के समान है, जीभें ज्वाला की तरह लपलपाती हैं और वे अङ्गों में दिव्य आभूषण पहने हुए हैं। सुरसा नागिन के पुत्र एक सहस्र नाग यहां रहते हैं। वे कभी दुःखित नहीं होते। उन महाबली, पराक्रमियों का भयानक स्वभाव है। उनके शरीरों में मणि, स्वस्तिक, चक्र और कमण्डलु आदि के चिह्न बने हुए हैं। इन पर्वताकार नागों में से किसी के हज़ार, किसी के सौ, किसी के दस, किसी के सात और किसी के तीन सिर हैं ॥१।७॥ इस स्थान में रहनेवाले, एक ही वंश में उत्पन्न, उन अयुत-अर्बुद-संख्यक विषधर नागों के नाम बड़े-छोटे के क्रम से कहता हूं; सुनो—

वाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवाऽऽपूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिंजरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः ।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥
करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ॥ १४ ॥
दिलीपःशङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथाऽपराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ॥ १५ ॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा ॥ १६ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः कश्यपस्याऽऽत्मजाः स्मृताः ।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित्ते रोचते वरः ॥ १७ ॥
कण्व उवाच—मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं सन्निरीक्ष्य वै ।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाऽभवत् ॥ १८ ॥
मातलिरुवाच—स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्याऽऽर्यकस्य तु ।
द्युतिमान्दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः ॥ १९ ॥
कः पिता जननी चाऽस्य कतमस्यैष भोगिनः ।
वंशस्य कस्यैष महान्केतुभूत इव स्थितः ॥ २० ॥

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनञ्जय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणि, आपूरण, खग, वामन, एलापत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोत, कैलास, पिञ्जरक, ऐरावत, सुमना, सुमुख, दधिमुख, शङ्ख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठुरक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्य-पिण्डक, दोपद्म, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक, दिलीप, शङ्खशीर्ष, ज्योतिष्क, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस और सुरस आदि अनेक कश्यप के पुत्र नाग हैं। हे मातलि! जो तुम्हें इनमें कोई वर पसन्द आवे तो देखो ॥८।१७॥

कण्व कहते हैं कि मातलि ने उन नागों में से एक को देखकर पसन्द किया और फिर प्रसन्न होकर नारद से कहा—हे भगवन्! जो तेजस्वी और दर्शनीय नाग कौरव्य आर्यक के सामने खड़ा है वह किसके कुल में उत्पन्न है? इसके माता-पिता कौन हैं? वह किस

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे ।
मनःप्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः ॥ २१ ॥
कण्व उवाच—मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात् ।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च ॥ २२ ॥
नारद उवाच—ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट् ।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च ॥ २३ ॥
एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले ।
न चिराद्वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः ॥ २४ ॥
ततोऽब्रवीत्प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः ।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः ॥ २५ ॥
क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै ।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

नागवंश का यश बढ़ानेवाला पताका-स्वरूप है ! ॥१८।२०॥ इसकी एकाग्रता, धैर्य, गम्भीरता, रूप और अवस्था देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ । मुझे वह गुणकेशी के योग्य वर जान पड़ता है ॥२१॥ कण्व कहते हैं—देवर्षि नारद ने देखा कि मातलि ने सुमुख नाग को पसन्द किया है, तब वे उससे सुमुख के गुण, जन्म और कर्म का हाल कहने लगे— ॥२२॥ यह ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न है । इसका नाम सुमुख है । इसके पिता का नाम चिकुर, पितामह का नाम आर्यक और नाना का नाम वामन है ॥२३॥ थोड़ा समय हुआ, विनता के पुत्र गरुड़ इसके पिता को मारकर खा चुके हैं ॥२४॥ मातलि ने प्रसन्नता प्रकट करके देवर्षि नारद से कहा—हे मुनिवर ! यह नाग मुझे पसन्द है । मैं इसे देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ । इसे मैं अपनी कन्या विवाह देने को तैयार हूँ । आप कृपा करके यह विवाह ठीक करा दीजिए ॥२५।२६॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०३ ॥

अथ चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

नारद उवाच—सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत् ।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान्बली ॥ १ ॥
शक्रस्याऽयं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च ।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ॥ २ ॥

एक सौ चार अध्याय ॥ १०४ ॥

नारदजी ने आर्यक नाग के पास जाकर कहा—हे आर्यक ! ये इन्द्र के प्रिय सखा और सारथी मातलि हैं । ये सुशील, गुणी, तेजस्वी, वीर्यशाली, बलवान्, पराक्रमी और इन्द्र के मन्त्री

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम् ।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ॥ ३ ॥
अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः ।
अनेन बलभित्पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ॥ ४ ॥
अस्य कन्या वरारोहा रूपेणाऽसदृशी भुवि ।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ॥ ५ ॥
तस्याऽस्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते ।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ॥ ६ ॥
यदि ते रोचते सम्यग्भुजगोत्तम मा चिरम् ।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ॥ ७ ॥
यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः ।
कुले तव तथैवाऽस्तु गुणकेशी सुमध्यमा ॥ ८ ॥
पौत्रस्याऽथ भवांस्तस्माद्गुणकेशीं प्रतीच्छतु ।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ॥ ९ ॥
पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे ।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ॥ १० ॥
सुमुखश्च गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः ।
अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ॥ ११ ॥
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि ।
कण्व उवाच—स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ॥ १२ ॥

है। हर एक युद्ध में इनका दर्जा इन्द्र से कुछ ही नीचे रहता है ॥१।२॥ ये हर एक देवासुर समाम में हजार घोड़ेवाले विजयदायक रथ को हाकते हैं। ये इस काम को इच्छामात्र से करते हैं ॥३॥ इन्द्र इनकी, घोड़ों की और अपने बाहुबल की सहायता से शत्रुओं को हराते हैं। पहले जब ये शत्रु पर चोट कर लेते हैं तब इन्द्र प्रहार करते हैं ॥४॥ इनके एक सुन्दरी सत्यवादिनी गुणवती गुणकेशी नाम की कन्या है ॥५॥ ये सब लोकों में वर की खोज में घूम आये हैं। यहां शील, शौच, दम आदि गुणों से युक्त आपके पोते सुमुख को इन्होंने पसन्द किया है और उससे अपनी कन्या का विवाह करना चाहते हैं ॥६॥ जो आपको भी यह सम्बन्ध पसन्द हो तो शीघ्र इस विवाह के लिए अनुमति दीजिए ॥७॥ जैसे लक्ष्मी का नारायण से, स्वाहा का अग्नि से और इन्द्राणी का इन्द्र से विवाह हुआ है वैसे ही गुणकेशी का सुमुख से विवाह हो ॥८॥ मेरी सम्मति है कि आप अपने पोते के लिए गुणकेशी को ग्रहण कर लीजिए ॥९॥ सुमुख के पिता नहीं है, तो भी उनके गुण देखकर और आपको और आपके पुरखा ऐरावत को माननीय समझकर हमने सुमुख को ही वर चुना है ॥१०॥ सुमुख के गुण देखकर मातलि

म्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते ।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ॥ १३ ॥

आर्यक उवाच—न मे नैतद्बहुमतं महर्षे वचनं तव, ।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्याऽयं नेप्सितो भवेत्॥ १४ ॥
कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने ।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ॥ १५ ॥
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्त्तास्तेन वै वयम् ।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता ।
मासेनाऽन्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ॥ १६ ॥
ध्रुवं तथा तद्भविता जानीमस्तस्य निश्चयम् ।
तेन हर्षः प्रनष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ॥ १७ ॥

कण्व उवाच—मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मयाऽ ।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ॥ १८ ॥
सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः ।
त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ॥ १९ ॥
शेषेणैवाऽस्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः ।
सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ॥ २० ॥
सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु ।
कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजङ्गम ॥ २१ ॥
ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः ।

स्वयं आये हैं और उनके साथ अपनी कन्या का विवाह होने के लिए प्रार्थना करते हैं। आप इनके सम्मान की रक्षा कीजिए ॥११।१२॥ कण्व कहते हैं कि आर्यक के पुत्र को गरुड खा चुके थे, पोता जीता था। इस कारण शोक और हर्ष प्रकट करते हुए आर्यक ने कहा—हे नारद जी! आपका यह प्रस्ताव ही मेरे लिए आदरणीय है, फिर देवराज के सखा मातलि से सम्बन्ध करना कौन नहीं पसन्द करेगा? किन्तु एक कारण से मैं आपका प्रस्ताव स्वीकार न करने के लिए विवश हूँ। सुमुख के पिता—मेरे पुत्र—को गरुड खा गये हैं, इससे हम लोग अत्यन्त दुःखी हैं। इसके सिवा गरुड़ जाते समय मास भर के पश्चात् सुमुख को भी खा जाने के लिए कह गये हैं। हम गरुड़ के निश्चय को जानते हैं। वे इसे भी न छोड़ेंगे। गरुड की धमकी ने ही मेरा सब आनन्द मिट्टी में मिला दिया है ॥१३।१७॥ कण्व कहते हैं कि तब मातलि ने आर्यक से कहा—हे नागराज! मैंने एक उपाय सोचा है। मैं आपके पोते को अपना दामाद बनाना स्वीकार करता हूं। नारद-सहित मैं इसे लेकर इन्द्र के पास जाऊंगा। मैं उनसे प्रार्थना करके इसकी आयु बढ़ाने का और गरुड़ के वध का यत्न करूंगा।

दद्दशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ॥ २२ ॥
सङ्गत्या तत्र भगवान्विष्णुरासीच्चतुर्भुजः ।
ततस्तत्सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः पुरन्दरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम् ।
अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ॥ २४ ॥
मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव ।
लभन्तां भवतः कामात्काममेतं यथेप्सितम् ॥ २५ ॥
पुरन्दरोऽथ सञ्चिन्त्य वैनतेयपराक्रमम् ।
विष्णुमेवाऽब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ॥ २६ ॥
विष्णुरुवाच—ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये ।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ॥ २७ ॥
प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायाऽऽयुरुत्तमम् ।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ॥ २८ ॥
लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह ।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान्प्रति ॥ २९ ॥
नारदश्चाऽऽर्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

आपका भला हो । इसे मेरे साथ इन्द्र के पास जाने की अनुमति दीजिए ॥१८।२१॥ अब नारद, मातलि और अनेक तेजस्वी नागों के साथ सुमुख, सब लोग इन्द्रलोक को गये । सबने त्रिलोकनाथ इन्द्र के पास जाकर उनके दर्शन किये ॥२२॥ दैवयोग से उस समय चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी इन्द्र की सभा में आये हुए थे । देवर्षि नारद ने विष्णु और इन्द्र के आगे मातलि और सुमुख का हाल कहा ॥२३॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह सब वृत्तान्त सुनकर विष्णु ने इन्द्र से कहा—हे देवराज ! तुम सुमुख को अमृत पिलाकर देवताओं के समान अमर कर दो । तुम्हारी ही कृपा से नारद और मातलि की इच्छा पूरी हो, और सुमुख का भला हो ॥२४।२५॥ गरुड़ के पराक्रम का स्मरण करके इन्द्र भयभीत हुए और विष्णु से कहने लगे—हे भगवन् ! आप ही इसे अमृत दीजिए ॥२६॥ विष्णु ने कहा—हे इन्द्र ! तुम चराचर जगत् के ईश्वर हो । तुम्हारा हाथ कौन पकड़ सकता है ? अथवा तुम्हारी इच्छा या कार्य का विरोध कौन कर सकता है ? ॥२७॥ हे दुर्योधन ! तब इन्द्र ने बिना अमृत दिये ही सुमुख को दीर्घजीवी बना दिया ॥२८॥ इन्द्र के वरदान से सन्तुष्ट और दीर्घायु होकर सुमुख ने मातलि की कन्या से विवाह किया और फिर उसे लेकर वह अपने लोक को चला गया ॥२९॥ कृतकार्य होने के कारण नारद और मातलि को बड़ी प्रसन्नता हुई । वे प्रसन्नतापूर्वक महातेजस्वी इन्द्र की पूजा करके गन्तव्य स्थान को चले गये ॥३०॥

उद्योगपर्व का एक सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०४ ॥

अथ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

कण्व उवाच—गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः ।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ॥ १ ॥
पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः ।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ॥ २ ॥
गरुड उवाच—भगवान्किमवज्ञानादवृत्तिः प्रतिहता मम ।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ॥ ३ ॥
निसर्गात्सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे ।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ॥ ४ ॥
वृतश्चैष मया नागः स्थापितः समयश्च मे ।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ॥ ५ ॥
एतस्मिंस्तु तथाभूते नाऽन्यं हिंसितुमुत्सहे ।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ॥ ६ ॥
सोऽहं प्राणान्विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम ।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान्भव वासव ॥ ७ ॥
एतच्चैवाऽहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन् ।
त्रैलोक्यस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ॥ ८ ॥
त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम ।
त्रैलोक्यराजराज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम् ॥ ९ ॥

एक सौ पाँच अध्याय ॥ १०५ ॥

कण्व कहते हैं—महाबली गरुड़ को जब विदित हुआ कि इन्द्र ने सुमुख नाग को पूरी आयु दे दी है, तब वे क्रोध के मारे पङ्खों की प्रबल वायु से त्रिभुवन को व्याकुल करते हुए इन्द्र की ओर दौड़े ॥१।२॥ स्वर्ग में पहुँचकर उन्होंने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र ! तुमने क्यों अनादरपूर्वक मेरी जीविका में बाधा डाली ? पहले तुमने मुझे यह वर दिया था कि मैं मनमाना काम कर सकता हूँ; अब उससे क्यों डिग गये ? ॥३॥ सब प्राणियों के ईश्वर ब्रह्माजी ने सर्पों को मेरा स्वाभाविक आहार बना दिया है । तुम उसमें क्यों विघ्न डालते हो ? ॥४॥ मैंने प्रत्येक मास में एक नाग खाने का नियम नागों से करा लिया है । उसी के अनुसार सुमुख नाग को अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए मैं ले जानेवाला था । मैं उस मास में और किसी नाग को नहीं मारता; जिसकी बारी होती है उसी को ले जाता हूं । हे इन्द्र ! तुम जो चाहते हो वही कर डालते हो । अब बिना आहार के मैं, मेरे परिवार के लोग और मेरे भृत्य, सब प्राण दे देंगे । यह देखकर तुम सुखी होओ ॥५।७॥ हे इन्द्र ! सत्य तो यह है कि जिसे दूसरे की सेवा करनी पड़ती है वह चाहे तीनों लोकों का ईश्वर हो, फिर भी दुखी रहता है। उसका मरना ही श्रेष्ठ है । हे देवराज ! तुम सदा

ममाऽपि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान्समन्ताद्वोढुमञ्जसा ॥ १० ॥
असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत्कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ॥ ११ ॥
श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान्रोचनामुखः ।
प्रसुतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ॥ १२ ॥
यत्तु ध्वजस्थानगतो यत्नात्परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवाऽनुजं ते तेन मामवमन्यसे ॥ १३ ॥
कोऽन्यो भारसहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।
मया योऽहं विशिष्टः सन्वहामीमं सबान्धवम् ॥ १४ ॥
अवज्ञाय तु यत्तेऽहं भोजनाद्व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चाऽस्माच्च वासव ॥ १५ ॥
अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ॥ १६ ॥
सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ॥ १७ ॥
कण्व उवाच—स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ॥ १८ ॥
गरुत्मन्मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।

से तीनों लोकों के राजा हो। तुम्हारे आगे मैं विष्णु को भी अपना प्रभु नहीं समझता ॥८।९॥ हे देवराज! दक्ष प्रजापति की कन्या विनता मेरी माता और कश्यप जी मेरे पिता हैं। मैं सहज ही इन सब लोकों को अपने ऊपर लाद सकता हूँ ॥१०॥ कोई प्राणी मेरे बल को नहीं सह सकता। दानवों के साथ हुए संग्राम में मैंने बड़े बड़े काम किये हैं ॥११॥ श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसुत और कालकाक्ष नाम के दानवों को मैंने मारा है ॥१२॥ मैं तुम्हारे अनुज उपेन्द्र (विष्णु) के रथ की ध्वजा पर रहता हूँ और उन्हें लादकर ले चलता हूं, इसी से शायद तुम मेरा अपमान करते हो। मैं बान्धवसहित विष्णु को लादकर ले चलता हूँ ॥१३॥ तुम्हीं बताओ, मुझसे बढ़कर भार सहनेवाला और बली कौन है? तुमने अनादर करके मेरा आहार मेरे मुख से छीन लिया। तुम दोनों भाइयों ने मेरा गौरव मिटाया है। हे वासव! अदिति के गर्भ से जो पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए हैं उन सबमें तुम श्रेष्ठ बली हो; किन्तु मैं तुमको पङ्ख के एक भाग पर बिठाकर जहां कहीं वहां पहुंचा सकता हूं। बताओ, मुझसे बढ़कर बली और कौन है? ॥१४।१७॥ कण्व कहते हैं कि गरुड़ के अभिमान से भरे वचन सुनकर भगवान् विष्णु बहुत क्रोधित हुए। वे अक्षोभ्य गरुड़ के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करते हुए तीव्र वचन कहने लगे—हे गरुड़! तुम

अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ॥ १९ ॥
त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ॥ २० ॥
इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ॥ २१ ॥
ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ॥ २२ ॥
यावान्हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद्भारममन्यत ॥ २३ ॥
न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ॥ २४ ॥
व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ॥ २५ ॥
स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः ।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद्वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
भगवँल्लोकसारस्य सदृशेन वपुष्मता ।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले ॥ २७ ॥
क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याऽल्पचेतसः ।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः ॥ २८ ॥
न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो ।
तेन मन्याम्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः ॥ २९ ॥

अत्यन्त दुर्बल होकर भी अपने को बहुत बली समझते हो । हे पक्षिराज ! हमारे सामने तुम्हें इस तरह अपनी प्रशंसा न करनी चाहिए ॥१८।१९॥ यह सम्पूर्ण त्रिभुवन मेरे शरीर के बोझ को नहीं संभाल सकता। मैं आप ही अपने को और तुमको सभाले रहता हूं। लो, तुम मेरे केवल दाहने हाथ का बोझ संभाल लो तो मैं तुम्हारी इस आत्मश्लाघा को सही समझूंगा। ॥२०।२१॥ अब नारायण ने गरुड़ के कन्धे पर अपने हाथ का बोझ रख दिया । पक्षियों के राजा उससे अत्यन्त व्याकुल और अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥२२॥ गरुड़ को विष्णु का वह हाथ पर्वतों सहित सारे पृथ्वीमण्डल से अधिक भारी जान पड़ा। ॥२३॥ विष्णु भगवान् ने पूर्ण बल से गरुड़ को पीड़ा नहीं पहुंचाई, इसी से वे जीते बच गये ॥२४॥ तब विनता के पुत्र गरुड़ विष्णु के हाथ के बोझ से पीड़ित, विह्वल, शिथिल और अचेत से होकर वमन करने लगे ॥२५॥ उन्होंने विष्णु के पाओं पर गिरकर कहा—हे भगवन् ! आपके दाहने हाथ के बोझ से मैं पिस गया ॥२६।२७॥ लघुचेता, बलदर्पहीन मुझ पक्षी का अपराध क्षमा कीजिए ॥२८॥ हे विभु !

ततश्चक्रे स भगवान्प्रसादं वै गरुत्मतः ।
मैवं भूय इति स्नेहात्तदा चैनमुवाच ह ॥ ३० ॥
पादांगुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि ।
ततः प्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते ॥ ३१ ॥
एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः ।
गरुडो बलवान्राजन्वैनतेयो महायशाः ॥ ३२ ॥
कण्व उवाच— तथा त्वमपि गान्धारे यावत्पाण्डुसुतान्रणे ।
नाऽऽसादयसि तान्वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक ॥ ३३ ॥
भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः ।
धनञ्जयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे ॥ ३४ ॥
विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाऽश्विनावुभौ ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः ॥ ३५ ॥
तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज ।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः ।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच— दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन्भ्रुकुटीमुखः ।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत्तदा ॥ ३८ ॥
कदर्थीकृत्य तद्वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः ।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

मैं आपके बल विक्रम का हाल न जानता था, इसी से अपने को सबसे बढ़कर बली समझता था ॥२९॥ गरुड की की हुई स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् नारायण ने स्नेहपूर्वक कहा—"हे पक्षिराज ! तुम फिर कभी ऐसा अभिमान न करना ।" अब विष्णु ने सुमुख नाग को पाव के अँगूठे से गरुड की छाती पर फेंक दिया । तभी से वह नाग गरुड के साथ रहता है ॥३०।३१॥ हे दुर्योधन ! महायशस्वी महाबली विनता के पुत्र गरुड का घमण्ड इस प्रकार विष्णु के बल से चूर्ण हो चुका है ॥३२॥ जब तक युद्ध में पाण्डवों का सामना नहीं होता तभी तक तुम जीवित हो ॥३३॥ सब योद्धाओं में श्रेष्ठ भीमसेन और इन्द्र के पुत्र अर्जुन युद्ध में किसे नहीं हरा सकते ? ॥३४॥ हे दुर्योधन ! वायु, इन्द्र, धर्म और अश्विनीकुमारों के अवतार पाण्डवों से और श्रीकृष्ण से युद्ध करना कैसा, तुम इनकी ओर आंख उठाकर देख तक नहीं सकते ॥३५॥ इसलिए हे राजकुमार ! विरोध मत करो । श्रीकृष्ण के कहने से सन्धि कर लो, इसी में तुम्हारे कुल की रक्षा होगी ॥३६॥ प्रत्यक्षदर्शी महातपस्वी महर्षि नारद यहां उपस्थित हैं । इनसे पूछ लो, ये श्रीकृष्ण वही शङ्ख-चक्र-गदाधारी विष्णु भगवान् हैं ॥३७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद्भावि या च मे गतिः ।
तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पंचाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

राजा जनमेजय ! अब दुर्योधन ने कर्ण को भौंह का इशारा करके ताल ठोककर हँसते हंसते कण्व से कहा—हे तपोधन ! परमेश्वर ने मुझे उत्पन्न करके जैसी बुद्धि दी है वैसा ही मैं कर रहा हूं। मेरे भाग्य में जो बदा है वह ही होगा। आप क्यों वृथा बकवास कर रहे हैं ! ॥३८।४०॥

उद्योगपर्व का एक सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०५ ॥

अथ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

जनमेजय उवाच—अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम् ।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम् ॥ १ ॥
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम् ।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम् ॥ २ ॥
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः ।
सौहृदाद्वा सुहृत्स्निग्धो भगवान्वा पितामहः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच—उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत्क्षमम् ।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनाऽपि तच्छृणु ॥ ४ ॥
नारद उवाच—दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत् ।
तिष्ठते हि सुहृद्यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते ॥ ५ ॥
श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन ।
न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः ॥ ६ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

एक सो छः अध्याय ॥ १०६ ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन् ! भगवान् व्यासदेव, पितामह भीष्म और स्नेह-परायण सुहृदों ने अनर्थ के लिए तुले हुए—पराये धन के लोभी, अनार्य-कार्य करने को उतारू, मरने के लिए निश्चय किये हुए, जाति-भाइयों को दुःख देनेवाले, बन्धुओं का शोक बढ़ानेवाले, सुहृदों को क्लेश पहुँचानेवाले, शत्रुओं के लिए हर्षजनक—कुमार्गगामी दुर्योधन को रोका क्यों नहीं ॥१।३॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भगवान् व्यासदेव और महात्मा भीष्म ने दुर्योधन को बहुत-बहुत समझाया, पर उसने एक न सुनी ॥४॥ अब महर्षि नारद ने कहा—हे दुर्योधन ! सुहृद् की बात सुननेवाले लोग जैसे दुर्लभ हैं वैसे ही हितकारी सुहृद् भी दुर्लभ होते हैं। जहां प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर उपकार करनेवाला सुहृद् रहता है वहां बन्धु भी नहीं रहते; अर्थात् सुहृद् भाइयों से भी बढ़कर है। इस कारण यत्नपूर्वक ध्यान देकर सुहृद् की बात सुननी चाहिए। किसी विषय में हठ करना ठीक

यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः ॥ ७ ॥
विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा ।
अभ्यगच्छत्स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत ।
बुभुक्षुः क्षुधितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु ॥ ९ ॥
विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम् ।
परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत् ॥ १० ॥
अन्नं तेन यदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः ।
अथ गृह्याऽन्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत् ॥ ११ ॥
भुक्तं मे तिष्ठ तावत्त्वमित्युक्त्वा भगवान्ययौ ।
विश्वामित्रस्ततो राजन्स्थित एव महाद्युतिः ॥ १२ ॥
भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः ।
स्थितः स्थाणुरिवाऽभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ॥ १३ ॥
तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद्गालवो मुनिः ।
गौरवाद्बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ॥ १४ ॥
अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत् ।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ॥ १५ ॥
स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा ।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम् ।

नहीं। हठ करना बहुत ही भयङ्कर होता है ॥५।६॥ महर्षि गालव ने हठ के कारण जो नीचा देखा है उसका इतिहास मैं कहता हूं ॥७॥ एक समय भगवान् धर्म, तपस्वी विश्वामित्र की परीक्षा लेने के लिए, महर्षि वशिष्ठ का रूप रखकर विश्वामित्र के आश्रम में गये। सप्तर्षियों में से एक, वशिष्ठ, का रूप रक्खे हुए धर्म भूखे बनकर पहुचे। विश्वामित्र ने उन्हें देखकर सावधानी से सुन्दर भोजन बनाया। किन्तु वशिष्ठ ने भोजन तैयार होने तक उनकी राह नहीं देखी॥८।१०॥ इसी अवसर में वशिष्ठरूपी धर्म अन्य मुनियों का दिया हुआ अन्न खाकर तृप्त हो गये। उधर विश्वामित्र गरमागरम भोजन लेकर उनके पास पहुचे। यह देख-धर्म विश्वामित्र से यह कहकर चले गये कि हे ऋषिवर! मैं भोजन कर चुका, तुम खड़े रहो। विश्वामित्र वह गरम भोजन का पात्र हाथ के सहारे सिर पर रक्खे खड़े रहे। वे उसी प्रकार, वृक्ष की तरह, केवल वायु भक्षण करते खड़े रहे। उस समय विश्वामित्र के शिष्य गालव गुरु के गौरव, मान और प्रिय के लिए उनकी सेवा करते रहे ॥११।१४॥ इसी तरह सौ वर्ष व्यतीत हो गये। धर्म फिर वशिष्ठ का रूप रखकर भोजन के लिए विश्वामित्र के यहा आये ॥१५॥ उन्होंने देखा कि बुद्धिमान् विश्वामित्र वैसे ही गरम भोजन

भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः ॥ १७ ॥
क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः ।
धर्मस्य वचनात्प्रीतो विश्वामित्रस्तथाऽभवत् ॥ १८ ॥
विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः ।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ॥ १९ ॥
अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव ।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ॥ २० ॥
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम् ।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ॥ २१ ॥
दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद ।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ॥ २२ ॥
स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते ।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ॥ २३ ॥
जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै ।
विश्वामित्रस्तमसकृद्गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ॥ २४ ॥
असकृद्गच्छगच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः ।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥
निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः ।
किञ्चिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

का वर्तन सिर पर रक्खे उसी जगह खड़े हैं ॥१६॥ तब उन्होंने वह गरम भोजन कर लिया। फिर 'हे ब्रह्मर्षि ! मैं बहुत प्रसन्न हूं' कहकर, मुँहमांगा आशीर्वाद देकर, विशिष्ठरूपी धर्म वहां से चल दिये॥१७॥ तब से, धर्म के कहने के अनुसार, विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये ॥१८॥ अब प्रिय शिष्य गालव की भक्ति और सेवा से सन्तुष्ट होकर विश्वामित्र ने कहा—हे पुत्र ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि तुम चाहे जहां जाओ ॥१९।२०॥ तब गालव ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! आपको गुरु दक्षिणा देने के लिए मेरी बड़ी अभिलाषा है। इसलिए आज्ञा दीजिए, मैं क्या पदार्थ आपके अर्पण करूं ॥२१॥ दक्षिणा देने से ही कार्य की सिद्धि होती है और दक्षिणा देनेवाला ऋण से छुटकारा पाकर अन्त को स्वर्गलोक में यज्ञ का फल और शान्ति पाता है। इसलिए आज्ञा दीजिए, मैं आपको गुरु दक्षिणा क्या दूं ॥२२।२३॥ गालव ने जो सेवा और भक्ति की थी उसी से विश्वामित्र सन्तुष्ट हो चुके थे, इसलिए वे बारम्बार कहने लगे-

हे पुत्र! दक्षिणा की आवश्यकता नहीं, तुम जाओ। किन्तु गालव ने उनका कहा न माना और बारम्बार 'क्या दक्षिणा दूँ?' कहकर हठ करने लगे। इससे कुछ कुपित होकर विश्वामित्र ने कहा—हे गालव! दक्षिणा देने के लिए जो तुम्हारा हठ है तो शीघ्र ही मुझे चन्द्रमा के से उजले रङ्ग के आठ सौ श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो ॥२४।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ छः अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०६ ॥

अथ सप्ताधिकशततमोऽध्यायः॥ १०७ ॥

नारद उवाच—एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता ।
नाऽऽस्ते न शेते नाऽऽहारं कुरुते गालवस्तदा ॥ १ ॥
त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः ।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना ।
गालवो दुःखितो दुःखाद्विललाप सुयोधन ॥ २ ॥
कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः सञ्चयः कुतः ।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ॥ ३ ॥
कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे ।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे ॥ ४ ॥
अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परं परात् ।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे॥ ५ ॥
अधनस्याऽकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः ।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ॥ ६ ॥
सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥ ७ ॥
प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः ।

एक सौ सात अध्याय ॥ १०७ ॥

नारदजी कहते हैं—हे दुर्योधन! विश्वामित्र की यह आज्ञा सुनकर तपोधन गालव चिन्तित हुए। उन्होंने खाना-पीना और सोना छोड़ दिया ॥१॥ उन के शरीर में केवल हड्डियां और चमड़ा ही रह गया; शोक से उनका हृदय जल रहा था ॥२॥ वे आंखों में आंसू भरकर सोचने लगे कि हाय, मेरे न मित्र हैं, न धन है। मैं श्यामकर्ण आठ सौ श्वेत घोड़े कहा पाऊंगा? ॥३॥ मुझे किसी सुख की, खाने-पीने की भी रुचि नहीं है। मुझे अब अपने जीवन की आशा नहीं ॥४॥ अब मैं समुद्र के पार या पृथ्वी के किसी दूर देश में जाकर अपनी जान दे दूंगा ॥५॥ मैं धनहीन, अकृतार्थ और जीवन के विविध फलों के भोग से वञ्चित हूँ। उसके ऊपर गुरु का ऋण भी मेरे सिर पर चढ़ा हुआ है। जो ऋणी है उसे सुख कहां! ॥६॥ मेरा जीवन व्यर्थ है। जो पुरुष उपकार करनेवाले स्नेही का प्रत्युपकार नहीं कर

मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ॥ ८ ॥
न रूपमनृतस्याऽस्ति नाऽनृतस्याऽस्ति सन्ततिः।
नाऽनृतस्याऽऽधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा॥ ९ ॥
कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नाऽस्ति निष्कृतिः॥ १० ॥
न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम् ।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन्कृतम् ॥ ११ ॥
सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चाऽनृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत्करोमि न भाषितम् ॥ १२ ॥
सोऽहं प्राणान्विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम्।
अर्थिता न मया काचित्कृतपूर्वा दिवौकसाम् ॥ १३ ॥
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ।
अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम्॥ १४ ॥
भोगा यस्मात्प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान्सुरासुरान्।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ॥ १५ ॥
एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ॥ १६ ॥
सुहृद्भवान्मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।

एकला उसके जीने से तो मरना ही श्रेष्ठ है ॥७॥ जो पुरुष अङ्गीकार के पालने से विमुख होता है उसके सब पुण्य-कर्म और इष्टापूर्त (कुआ-बावली खुदवाना और बाग लगवाना आदि) सब निष्फल हो जाते हैं ॥८॥ असत्य बोलनेवाले को रूप, सन्तान, आधिपत्य या सद्गति, कुछ नहीं प्राप्त होती ॥९॥ कृतघ्न को कहीं स्थान, यश या सुख नहीं मिलता। नेकी न माननेवाले पुरुष पर किसी को श्रद्धा नहीं होती। वह किसी तरह छुटकारा नहीं पाता ॥१०॥ निर्धन व्यक्ति का जीवन अत्यन्त निष्फल है वह पापी, जो उपकार करनेवाले का बदला नहीं चुका सकता, शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥११॥ मैं वैसा ही पापी, कृतघ्न, दीन, ऋणी और झूठा हूं। मैंने गुरु से विद्या पढ़ी है; उन्हें गुरु-दक्षिणा देना अङ्गीकार करके मैं दे नहीं सका ॥१२॥ इसलिए फांसी लगाकर या विष पीकर मर जाना ही मेरे लिए सब तरह श्रेष्ठ होगा। मैंने देवताओं से कभी भी कुछ मांगा नहीं; वे यज्ञ के समय मेरा बहुत मान करते हैं। इसलिए अब त्रिलोकीनाथ भगवान् विष्णु के पास चलूं। ॥१३।१४॥ वे सब प्राणियों की एकमात्र गति और सबको भोगवस्तु देते हैं। इस समय मेरा उन्हीं के पास जाना उचित है ॥१५॥ तपोधन गालव इस तरह कह ही रहे थे कि उनके सखा विनता के पुत्र गरुड़ जी, उनका प्रिय और सहायता करने के लिए, वहां आ गये ॥१६॥

ईप्सितेनाऽभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ॥ १७ ॥
विभवश्चाऽस्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ॥ १८ ॥
स भवानेतु गच्छात्र नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

गरुड़ ने गालव से कहा—हे मित्र ! तुम मेरे और अन्य सुहृदों के परम प्रिय मित्र हो। तुम्हारा काम कर देना और तुम्हें वैभवशाली बनाना मेरा परम कर्तव्य है ॥१७॥ मेरा सारा ऐश्वर्य भगवान् विष्णु हैं। मैंने पहले ही तुम्हारे लिए उनसे कहा था और उन्होंने मेरा अभीष्ट पूरा करना स्वीकार कर लिया है ॥१८॥ इसलिए अब तुम घोड़ों के लिए पृथ्वी के उस पार या और जहां चलना चाहो वहां तुमको ले चलने के लिए मैं तैयार हूं ॥१९॥

—o—

उद्योगपर्व का एक सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०७ ॥

अथ अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

सुपर्ण उवाच—अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालव ज्ञानयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ॥ १ ॥
पूर्वां वा दक्षिणां वाऽहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ॥ २ ॥
यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र सन्ध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ॥ ३ ॥
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्रे वै सुप्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥
हुतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतो दिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाऽध्वनः ॥ ५ ॥
अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः ।

एक सौ आठ अध्याय ॥ १०८ ॥

गरुड़ जी ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ गालव ! तुम्हें अपनी पीठ पर ले जाने के लिए मुझे ज्ञानदाता विष्णु भगवान् ने आज्ञा दे दी है। इसलिए अब बताओ, पूर्व-दक्षिण-पश्चिम या उत्तर किस दिशा में तुमको ले चलूं ? ॥१।२॥ जिस दिशा में सब भुवनों के प्रकाशक भगवान् सूर्य का उदय होता है, जिधर सन्ध्या के समय तपस्वी साध्यगण तपस्या करते हैं, जिधर सबसे पहले सर्वव्यापिनी बुद्धि प्रकट हुई थी, जिधर यज्ञ के आज्यभागरूपी धर्म के नेत्र विद्यमान् हैं और जिधर आहुति देने से वह सबको पहुंचती है, वह पूर्व दिशा दिन और स्वर्ग का द्वार है ॥३।५॥ उस दिशा में अदिति आदि दक्ष प्रजापति की कन्याओं

यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्याऽऽत्मसम्भवाः ॥ ६ ॥
अतो मूलं सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत ।
सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चाऽत्र तपश्चितम् ॥ ७ ॥
एतस्मात्कारणाद्ब्रह्मन्पूर्वेत्येषा दिगुच्यते ।
यस्मात्पूर्वतरे काले पूर्वमेवाऽऽवृता सुरैः ॥ ८ ॥
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते ।
पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ॥ ९ ॥
अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत्सावित्री ब्रह्मवादिषु ॥ १० ॥
अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम ।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ॥ ११ ॥
अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते ।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ॥ १२ ॥
अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ॥ १३ ॥
ओंकारस्याऽत्र जायन्ते सूतयो दशतीर्दश ।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ॥ १४ ॥
प्रोक्षिता यत्र बहवो वराहाद्या मृगा वने ।
शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

के गर्भ से और कश्यप के वीर्य से सब प्रजा उत्पन्न हुई और बढ़ी है; यह पूर्व दिशा देवताओं के ऐश्वर्य-लाभ की जड़ है। पूर्व दिशा में ही इन्द्र का अभिषेक हुआ है। देवताओं ने इसी दिशा में तप किया है ॥६।७॥ देवता पहले पूर्व दिशा में ही रहते थे। हे ब्रह्मन्! इसी से उसका नाम पूर्व दिशा है ॥८॥ प्राचीन लोगों का उस पर अधिकार कहा गया है। पूर्व दिशा में ही देवताओं ने सुख की इच्छा से सब काम किये हैं ॥९॥ उधर ही भूतभावन भगवान् पितामह ब्रह्मा ने सम्पूर्ण वेद गाये हैं। उधर ही सविता ने ब्रह्मवादी लोगों को सावित्री का उपदेश किया था। ॥१०॥ हे द्विजश्रेष्ठ! पूर्व में ही सूर्यदेव ने योगी याज्ञवल्क्य को यजुर्वेद दिया था। इसी दिशा में सोमरस को वर मिला है और देवताओं ने उसे अपने पीने की वस्तु माना है ॥११॥ पूर्व दिशा में ही अग्नि-देव तृप्त होकर अपनी उत्पत्ति के स्थान—सोमरस, आज्य, पय आदि रूपवाले—जल को पीते हैं। पूर्व से ही वरुणदेव ने पाताल में प्रवेश किया और श्रेष्ठ ऐश्वर्य पाया है ॥१२॥ पूर्व दिशा में ही मित्रावरुण के यज्ञ में प्राचीन वशिष्ठ ऋषि की उत्पत्ति; स्थिति और राजा निमि के शाप से मृत्यु हुई है ॥१३॥ पूर्व ओर ही ओंकार के दस हजार मार्ग प्रकट हुए हैं। पूर्व में ही धूम-पान करनेवाले मुनि आज्यधूम पीते हैं ॥१४॥ पूर्व में ही इन्द्र ने यज्ञभाग के लिए वराह

अत्राऽऽहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चाऽसुराश्च ये।
उदयंस्तान्हि सर्वान्वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः ॥ १६ ॥
एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च।
एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ॥ १७ ॥
प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्याऽस्मि वचने स्थितः।
ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाऽप्यपरां दिशम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

आदि बहुत से पशुओं को मारकर उनसे देवताओं के भागों की कल्पना की है ॥१५॥ पूर्व दिशा में ही अग्निदेव प्रज्वलित और क्रोधित होकर अनिष्टकारी कृतघ्न मनुष्यों और असुरों का संहार करते हैं ॥१६॥ पूर्व दिशा त्रिलोक का द्वार और स्वर्ग का सुख है। जो कहो तो मैं तुम्हें इस पूर्व दिशा में ले चलूं ॥१७॥ मैं जिनका आज्ञाकारी दास हूं उन विष्णु का प्रिय करना मेरा कर्तव्य है। हे गालव ! मैं और दिशाओं का हाल भी तुमसे कहता हूं। जिधर कहोगे उधर ले चलूंगा ॥१८॥

उद्योगपर्व का एक सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०८ ॥

अथ नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

सुपर्ण उवाच—इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक् ॥ १ ॥
अत्र लोकत्रयस्याऽस्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज ॥ २ ॥
अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम् ॥ ३ ॥
एतद् द्वितीयं वेदस्य द्वारमाचक्षते द्विज।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः ॥ ४ ॥
अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ५ ॥
अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चाऽत्र निगद्यते।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम् ॥ ६ ॥

एक सो नव अध्याय ॥ १०९ ॥

गरुड़ ने कहा—हे गालव ! पहले सूर्य ने यथाविधि यज्ञ करके दक्षिणा के रूप में आचार्य को यह दिशा दी थी, इसी से यह दक्षिण दिशा कहलाती है ॥१॥ मैंने सुना है कि तीनों लोकों के पितर नाम से प्रसिद्ध और गर्म अन्न खानेवाले देवता इसी दिशा में रहते हैं ॥२॥ यहां विश्वेदेवा पितरों के साथ रहते हैं और उनके साथ श्राद्ध में भाग पाते हैं ॥३॥ यह दिशा धर्म का दूसरा द्वार कही गई है। इसी दिशा से काल के सूक्ष्म अंशों—त्रुटि, लव आदि—का निर्णय होता है ॥४॥ इसी दिशा में देवर्षि, पितृगण

एषा दिवसा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते ।
वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते ॥ ७ ॥
नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः ॥ ८ ॥
अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च ।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज ॥ ९ ॥
अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः ।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः ॥ १० ॥
अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च ।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन्यां सूर्यो नाऽतिवर्तते ॥ ११ ॥
अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना ।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता ॥ १२ ॥
अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान् ।
अत्र सर्वासवः प्राणाः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ॥ १३ ॥
अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव ।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ॥ १४ ॥
अत्र गत्वा सुखस्याऽन्तं दुःखस्याऽन्तं प्रपद्यते ।
अत्र वृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ॥ १५ ॥

और राजर्षि परमसुख के साथ रहते हैं ॥५॥ इसी दिशा में सत्य, धर्म, कर्म आदि की स्थिति है ॥६॥ हे गालव ! आत्मा को वश में करनेवाले लोगों की एकमात्र गति और कर्मक्षेत्र यही दिशा है । सभी लोगों को इधर जाना पड़ता है, किन्तु अज्ञान से ढकी रहने के कारण इस दिशा में लोग सुख से नहीं जा सकते ॥७॥ इसी दिशा में भयङ्कर रूपवाले कई हज़ार राक्षस रहते हैं, जो पापियों को और अजितेन्द्रिय पुरुषों को पीड़ा पहुचाते हैं । उनकी सृष्टि इसी लिए हुई है ॥८॥ इसी दिशा में गन्धर्व लोग मन्दराचल के कुञ्जों, ऋषियों के आश्रमों और ब्राह्मणों के घरों में मनोहर गाथाएँ गाते हैं ॥९॥ इसी दिशा में रैवत मनु, सामगाथा सुनकर, स्त्री मन्त्री राज्य आदि छोड़-कर, वन को गये हैं ॥१०॥ इसी दिशा में सावर्णि मनु ने और यवक्रीत के पुत्र ने सूर्य के रथ की सीमा बाँध दी है । सूर्य कभी उसे उल्लङ्घन नहीं करते । ॥११॥ इसी दिशा में पौलस्त्य के पुत्र महात्मा राक्षसों के राजा रावण ने तप करके देवताओं के हाथ से अवध्य होने का वर पाया है ॥१२॥ इसी दिशा में वृत्रासुर अपने चरित्र के दोष से इन्द्र का वैरी हुआ और मारा गया । इसी दिशा में सबके प्राण आकर फिर पाँच रूप से शरीर में प्रवेश करते हैं ॥१३॥ इसी दिशा में दुराचारी मनुष्य आकर अपने कुकर्मों के फल भोगते हैं । इसी दिशा में नरक भोग के योग्य जीवों से भरी हुई वैतरणी नदी है ॥१४॥ इसी दिशा में आने से सुख और दुःख का अन्त हो जाता है । इसी दिशा में कर्कराशि स्थित दक्षिणायन के सूर्य वर्षा करते हैं ॥१५॥ फिर सूर्य, जब उत्तरायण

काष्ठां चाऽऽसाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः ।
अत्राऽहं गालव पुरा क्षुधार्त्तः परिचिन्तयन् ॥ १६ ॥
लब्धवान्युद्ध्यमानौ द्वौ वृहन्तौ गजकच्छपौ ।
अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ॥ १७ ॥
विदुर्यं कपिलं देवं येनाऽऽर्ताः सगरात्मजाः ।
अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अधीत्य सकलान्वेदाँल्लेभिरे मोक्षमक्षयम् ।
अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ॥ १९ ॥
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ।
अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ॥ २० ॥
अभेद्यं भास्करेणाऽपि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना ।
एष तस्याऽपि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव ।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं श्रृणु चाऽपराम्॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

में जाते हैं तब, हिम उत्पन्न करके शीतकाल प्रकट करते हैं। पहले बहुत ही भूखे और चिन्तित होकर मैंने इसी दिशा में परस्पर युद्ध कर रहे भारी कछुए और गजराज को पाया था। इसी दिशा में उनको खाकर मैं तृप्त हुआ था। सगरवंश का विनाश करनेवाले कपिल, चक्रधनु नाम के ऋषि इसी दिशा में सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। इसी दिशा में वेद के पूरे ज्ञाता शिव नाम के ब्राह्मणों ने सब वेद पढ़कर, सिद्ध होकर, अविनाशी मोक्ष की गति पाई है। इसी दिशा में वासुकि, तक्षक, ऐरावत आदि नागों की भोगवति पुरी है। इस दिशा में मरण के समय भी घोर तम (मोह) प्राप्त होता है। स्वयं अग्नि या सूर्य भी उस तम को नहीं मिटा सकते। हे गालव! तुम्हारी इच्छा हो तो इस दिशा में चलो। अब मैं पश्चिम दिशा का वर्णन करता हूँ ॥१६।२१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ नव अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०९ ॥

अथ दशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११० ॥

सुपर्ण उवाच—इयं दिग्दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चाऽऽदिरेव च ॥ १ ॥
अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम् ।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ॥ २ ॥

एक सौ दस अध्याय ॥ ११० ॥

गरुड़ कहते हैं—हे गालव! पश्चिम दिशा जलराज दिक्पाल वरुणदेव का प्रियतम और आदिम निवासस्थान है। सूर्य इस दिशा में दिन के अन्तिम भाग में अपनी किरणें डालते हैं। इसी कारण इसे

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ।
कश्यपो भगवान्देवो वरुणं स्माऽभ्यषेचयत् ॥ ३ ॥
अत्र पीत्वा समस्तान्वै वरुणस्य रसांस्तु षट् ।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्याऽऽदौ तमिस्रहा ॥ ४ ॥
अत्र पश्चात्कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ॥ ५ ॥
अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः सन्ध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ॥ ६ ॥
अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवाऽऽयुषः ॥ ७ ॥
अत्र देवीं दितिं सुप्तामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ॥ ८ ॥
अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चाऽस्याऽन्तोऽधिगम्यते ॥ ९ ॥
अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ॥ १० ॥
अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ॥ ११ ॥
सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याऽप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ॥ १२ ॥

पश्चिम कहते हैं ॥१।२॥ इस दिशा में जल की रक्षा के लिए भगवान् कश्यप ने वरुणदेव को जलचरों का राजा बनाया है ॥३॥ इस दिशा में अंधेरे को मेटनेवाले चन्द्रमा, शुक्लपक्ष के पहले के दिनों में, वरुण के छः रस पीकर फिर तरुण हो जाते हैं ॥४॥ इसी दिशा में वायु ने दैत्यों को अपने वेग से पीछे करके, पीड़ित करके, सुला दिया था, वे दैत्य लम्बी सांसें छोड़ते हुए लेट गये थे ॥५॥ इसी दिशा में अस्ताचल अपने प्रणयी सूर्य को ग्रहण करता है और उसी से पश्चिम सन्ध्या (सायङ्काल) प्रकट होती है ॥६॥ दिन समाप्त होने पर इसी दिशा से रात्रि और नींद प्रकट होती है, जो मनुष्यों की आधी आयु हर लेती है ॥७॥ इसी दिशा में इन्द्र ने दिति के उस गर्भ के कई टुकड़े किये थे, जिससे मरुद्गण उत्पन्न हुए हैं ॥८॥ इसी दिशा में हिमवान् पर्वत की जड़ समुद्र के जल में डूब गई है। हजार वर्ष तक खोज करने पर भी न हिमवान् का अन्त मिल सकता है, न सागर की थाह पाई जा सकती है ॥९॥ इसी दिशा में सुवर्णशैल के पास, सुवर्णकमलयुक्त सरोवर के किनारे, सुरभि गाय अपना दुग्ध गिराती है ॥१०॥ इसी दिशा में समुद्र के बीच सूर्यसदृश तेजस्वी राहु का कबन्ध दिखाई देता है ॥११॥ वह राहु हर

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात्॥ १३ ॥
अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ॥ १४ ॥
अतः प्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्त्तते गतिः ।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ १५ ॥
अष्टाविंशतिरात्रं च चंक्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात्सोमसंयोगयोगतः ॥ १६ ॥
अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्याऽऽपस्तिष्ठन्ति वरुणालये ॥ १७ ॥
अत्र पन्नगराजस्याऽप्यनन्तस्य निवेशनम् ।
अनादिनिधनस्याऽत्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
अत्राऽनलसखस्याऽपि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्याऽत्र मारीचस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥
एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

पर्व के समय सूर्य और चन्द्रमा को लीलने के लिए चढ़ता है। इसी दिशा में अमितपराक्रमी, अदृश्य, नित्यतरुण, सुवर्णशिरा ऋषि की वेद ध्वनि सुन पड़ती है ॥१२॥ इसी दिशा में हरिमेधा नाम के मुनि की कन्या ध्वजवती, सूर्य की आज्ञा से, आकाश में ही स्थित है ॥१३॥ इसी दिशा में वायु, अग्नि, जल और आकाश ने दिन और रात्रि के दुःखदायक स्पर्श को छोड़ रक्खा है अर्थात् इन तत्त्वों का स्पर्श सदा सुखदायक रहता है ॥१४॥ इसी दिशा से सूर्य की गति तिरछी घूमती है। इसी दिशा में सब ज्योतिर्गण सूर्यमण्डल में प्रवेश करते है ॥१५॥ फिर अट्ठाईस दिन तक सूर्य के साथ घूमकर वे, सोमसंयोग के योग से, सूर्य से निकलते हैं ॥१६॥ इसी दिशा से वे नदियां निकली हैं जो सदा सागर को परिपूर्ण रखती हैं। इसी दशा में तीनों लोकों के निर्वाह योग्य जल समुद्र में भरा रहता है ॥१७॥ इसी दिशा मे नागराज शेष और विष्णु का निवासस्थान है ॥१८॥ इसी दिशा में अग्नि, वायु और मरीचि के पुत्र महर्षि कश्यप रहते है ॥१९॥ हे गालव ! मैंने संक्षेप में यह पश्चिम दिशा का वर्णन कर दिया। अब बताओ, किधर जाना चाहते हो? ॥२०॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ दस अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

अथ एकादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ १११ ॥

सुपर्ण उवाच—यस्मादुत्तार्यते पापाद्यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ॥ १ ॥

उत्तरस्य हिरणस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ॥ २ ॥
अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नाऽसौम्यो नाऽविधेयात्मा नाऽधर्मो वसते जनः ॥ ३ ॥
अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ॥ ४ ॥
अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५ ॥
न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ॥ ६ ॥
अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ॥ ७ ॥
अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाऽभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ॥ ८ ॥
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।
अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ॥ ९ ॥
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।
अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ॥ १० ॥

एक सौ ग्यारह अध्याय ॥ १११ ॥

गरुड़ ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब उत्तर दिशा का हाल सुनो। यह दिशा लोगों को पाप के पार उतारकर मोक्ष-सुख देती है, अर्थात् उत्तरायण सूर्य में मरकर उत्तर-मार्ग से जाने से मुक्ति मिलती है, इसी से इसको उत्तर दिशा कहते हैं ॥१॥ इसी दिशा में सुवर्ण की खानें हैं। इसका मार्ग पूर्व और पश्चिम के मध्य का है ॥२॥ इस श्रेष्ठ उत्तर दिशा में कोई उग्ररूप, अजितेन्द्रिय और धर्महीन पुरुष नहीं रहता ॥३॥ नारायण कृष्ण, नरोत्तम जिष्णु और सनातन-देव ब्रह्मा इसी दिशा के बदरिकाश्रम में विराजमान हैं ॥४॥ इसी दिशा में प्रलयकाल के अग्नि के समान तेजस्वी महेश्वर, पार्वती के साथ, हिमालय के पिछले भाग में सदा रहते हैं ॥५॥ नर और नारायण के सिवा इन्द्र आदि देवता, मुनि, यक्ष, सिद्ध आदि भी उनके दर्शन नहीं पाते ॥६॥ इसी दिशा में अकेले सनातन विष्णु सहस्रनयन, सहस्रचरण और सहस्रमस्तक होकर इस मायारचित जगत् को देखते हैं ॥७॥ इसी दिशा में अमृतकिरण सोम ब्राह्मणों के राजा बनाये गये हैं। इसी दिशा में भगवान् शूलपाणि शङ्कर ने आकाश से गिरी हुई गङ्गा के वेग को सिर पर रोका और पतितपावनी भागीरथी को पृथ्वीमण्डल पर पहुँचाया है ॥८॥ इसी दिशा में भगवती पार्वती ने सदाशिव को पाने के लिए तप किया है ॥९॥ इसी दिशा में काम, क्रोध, शैल और पार्वती का उद्भव हुआ है। इसी दिशा में कैलास

आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः ।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ॥ ११ ॥
अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ॥ १२ ॥
शाद्वलं कदलीस्कन्धमत्र सन्तानका नगाः ।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ॥ १३ ॥
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव ।
अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चाऽरुन्धती तथा ॥ १४ ॥
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्राऽस्या उदयः स्मृतः ।
अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ॥ १५ ॥
ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः ।
अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ॥ १६ ॥
धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः ।
न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाऽऽकृतिर्न तपश्चितम् ॥ १७ ॥
परिवर्तः सहस्राणि कामभोज्यानि गालव ।
यथा यथा प्रविशति तस्मात्परतरं नरः ॥ १८ ॥
तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव ।
नैतत्केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ॥ १९ ॥
ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम् ।
अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ॥ २० ॥

पर्वत पर दिक्पाल कुबेर राक्षसों, यक्षों और गन्धर्वों के राजा बनाये गये हैं ॥१०॥ इधर ही चैत्ररथ बाग, वैखानस ऋषियों का आश्रम, मन्दाकिनी और कल्पवृक्ष हैं । इसी दिशा में राक्षसगण सौगन्धिक वन की रक्षा करते हैं॥११।१२॥ इसी दिशा में हरी-हरी सुन्दर घास के मैदान, केले के पेड़ और कल्पवृक्ष हैं । इसी दिशा में वशिष्ठ आदि सप्तऋषि और अरुन्धती देवी हैं। इसी दिशा में संयमी और कामचारी सिद्धों के काम-भोगपूर्ण विमान हैं ॥१३।१४॥ इसी दिशा में स्वाती नक्षत्र प्रकाशमान है । इसी दिशा में भगवान् पितामह ब्रह्मा यज्ञ करते हुए स्थित हैं ॥१५॥ इसी दिशा में चन्द्र, सूर्य और सब ज्योतिर्मण्डल भ्रमण करता है । इसी दिशा में महानुभव, सत्यपरायण महर्षिगण सावधानी से गङ्गा के द्वार की रक्षा करते हैं ॥१६॥ उन महर्षियों की मूर्ति, आकार, तप, जाना-आना आदि नहीं जाना जाता । वे चार हज़ार युग तक रहकर काम भोग करते हैं । इधर हिमालय से आगे बढ़ने पर मनुष्य का विनाश हो जाता है ॥१७।१८॥ अव्यय जिष्णु नर भगवान् या नारायण के सिवा और कोई आज तक इस दिशा के अन्त तक नहीं जा सका ॥१९॥ इसी दिशा में यक्षपति कुबेर के रहने का स्थान कैलास है ॥२०॥ इसी दिशा में

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश ।
अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ॥ २१ ॥
त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम् ।
अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः ।
जीमूतस्याऽत्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ॥ २३ ॥
साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः ।
ब्राह्मणेषु च यत्कृत्स्नं स्वं तं कृत्वा धनं महत् ॥ २४ ॥
वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद्धनं ततः ।
अत्र नित्यं दिशां पालाः सायंप्रातर्द्विजर्षभ ॥ २५ ॥
कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव ।
एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ॥ २६ ॥
उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा ।
एता विस्तरशस्तात तव सङ्कीर्तिता दिशः ॥ २७ ॥
चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि ।
उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः ।
पृथिवीं चाऽखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

विद्युत्प्रभा नाम की दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई हैं। इसी दिशा में भगवान् विष्णु ने, त्रिभुवन में भ्रमण करते समय, आकाशमण्डल में अपना पाँव फैलाया है; इसी से आकाश को विष्णुपद कहते हैं। इसी दिशा में राजा मरुत्त ने महायज्ञ किया था। इधर ही उशीरबीज नाम के स्थान में जाम्बूनद सरोवर है। इसी दिशा में महात्मा जीमूत ने परम पवित्र हिमालय की सुवर्ण की खान का आविष्कार किया है। इन्होंने ब्राह्मणों से वर माँगा था कि यहाँ का सब सुवर्ण मेरे नाम से प्रसिद्ध हो। इसी दिशा में प्रात काल और सन्ध्या के समय सब लोकपाल अपने-अपने कार्य का निश्चय करते हैं ॥२१।२५॥ हे ब्रह्मन्! यह दिशा ऐसे ही अनेक गुणों के कारण उत्तर—बहुत बढ़िया—मानी गई है। मैंने तुमसे चारों दिशाओं का समाचार कह दिया। अब बताओ, किधर चलना चाहते हो? मैं तुम्हें, सब दिशाओं सहित, सारा भूमण्डल दिखाने को तैयार हूँ। कहो, किधर जाना चाहते हो, मेरी पीठ पर सवार हो जाओ ॥२६।२८॥

उद्योगपर्व का एक सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ ॥ १११ ॥

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

गालव उवाच—गरुत्मन्भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज ।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ॥ १ ॥

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता ।
देवतानां हि सान्निध्यमत्र कीर्तितवानसि ॥ २ ॥
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक्प्रकीर्तितः ।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्दैवतैरहम् ।
भूयश्च तान्सुरान्द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ॥ ३ ॥
नारद उवाच—तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम् ।
आरुरोहाऽथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ॥ ४ ॥
गालव उवाच—क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन ।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ५ ॥
पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम् ।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ॥ ६ ॥
ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम् ।
आकर्षन्निव चाऽऽभासि पक्षवातेन खेचर ॥ ७ ॥
समीननागनक्रं च खमिवाऽऽरोप्यते जलम् ।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चाऽऽनिशम् ॥ ८ ॥
तुल्यरूपाननान्मत्स्यांस्तथा तिमितिमिङ्गिलान् ।
नागाश्वनरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ॥ ९ ॥
महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते ।
न शृणोमि न पश्यामि नाऽऽत्मनो वेद्मि कारणम्॥ १० ॥

एक सौ बारह अध्याय ॥ ११२ ॥

गालव ने कहा—हे पक्षिराज ! तुम पहले जिस पूर्व दिशा का वर्णन कर चुके हो, जहाँ धर्म के दोनों नेत्र विद्यमान हैं, जिधर सब देवता रहते हैं और जिधर सत्य और धर्म का निरन्तर निवास है, उसी दिशा में मुझे ले चलो। वहां देवताओं से मिलने और उन्हें देखने की मुझे बड़ी अभिलाषा है ॥१।३॥तब गरुड़ ने उनसे अपनी पीठ पर चढ़ने के लिए कहा। गालव ने गरुड़ की इच्छा से उनकी पीठ पर बैठकर कहा—हे पक्षिराज ! चलते समय तुम मध्याह्नकाल के सूर्य के समान जान पड़ते हो; तुम्हारे पंखों के पवन से टूटे हुए वृक्ष मानों तुम्हारे पीछे चले आ रहे हैं।४।६। तुम अपने पंखों की वायु से मानों पर्वत, समुद्र और वन सहित पृथ्वीमण्डल को खींचे लिए जा रहे हो ॥७॥ तुम्हारे पंखों की वायु के वेग से मछलियों और सर्पों सहित समुद्र का जल मानों आकाशमार्ग में उठा जा रहा है ॥८॥ तिमि, तिमिङ्गिल, उनके समान रूपवाले अन्य जलचर और नाग, घोड़े तथा मनुष्य के मुखवाले अनेकों जलचर जीव व्याकुल और उन्मथित से देख पड़ते हैं ॥९॥ हे पक्षिराज ! महा समुद्र के गम्भीर नाद से मेरे कान मानों बहरे हुए जा रहे हैं। मुझे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा देख पड़ता है। मुझमें मानों देखने और सुनने की शक्ति नहीं

शनैः स तु भवान्यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन् ।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ॥ ११ ॥
तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये ।
मणी व जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ॥ १२ ॥
शरीरं तु न पश्यामि तव चैवाऽऽत्मनश्च ह ।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ॥ १३ ॥
स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्यते पुनः ।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ॥ १४ ॥
न मे प्रयोजनं किञ्चिद्गमने पन्नगाशन ।
सन्निवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ॥ १५ ॥
गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १६ ॥
तेषां चैवाऽपवर्गाय मार्गं पश्यामि नाऽण्डज ।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः ॥ १७ ॥
नैव मेऽस्ति धनं किञ्चिन्न धनेनाऽन्वितः सुहृत् ।
न चाऽर्थेनाऽपि महता शक्यमेतद्व्यपोहितुम् ॥ १८ ॥
नारद उवाच—एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा ।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन्विनतात्मजः ॥ १९ ॥
नाऽतिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्यक्तुमिच्छसि ।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ २० ॥
किमहं पूर्वमेवेह भवता नाऽभिचोदितः ।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

रही ।१०। मुझे तुम्हारा और अपना शरीर भी नहीं देख पड़ता । केवल समुज्ज्वल मणि के समान चमकीली तुम्हारी आँखें देख पड़ती हैं । पग-पग पर तुम्हारे शरीर से अग्नि की चिनगारियां सी निकल रही हैं । इन चिनगारियों को बुझाओ और नेत्रों की कराल ज्योति को शान्त करो । मैं नहीं जाना चाहता । तुम ठहरकर मुझे उतार दो । मैं तुम्हारे वेग को संभाल नहीं सकता ।११।१५।हे गरुड़ ! मैंने गुरु को दक्षिणा में श्वेत रङ्ग के श्यामकर्ण आठ सौ घोड़े देने की प्रतिज्ञा की है; किन्तु घोड़े मिलने का कोई उपाय मुझे नहीं देख पड़ता । इसलिए मैंने अपने प्राण देदेने का निश्चय कर लिया है ॥१६।१७॥ मेरे पास न तो धन है, न मेरा कोई धनी मित्र है । और, धन होने पर भी मैं उससे ऐसे-ऐसे दिव्य घोड़े प्राप्त कर सकूँगा, इसी की क्या आशा ? ।१८। गालव के विलाप को सुनकर पक्षिराज गरुड़ चलते-चलते हँसते हुए कहने लगे-हे ब्रह्मन् ! तुम अत्यन्त अनभिज्ञ पुरुष की तरह मरने का निश्चय कर रहे हो । काल को

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके ।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

कोई अपनी इच्छा के अनुसार नहीं बुला सकता। काल स्वयं ईश्वर है।१९।२०। तुमने पहले क्यों नहीं श्यामकर्ण घोड़ों के लिए मुझसे कहा? वैसे ही श्रेष्ठ घोड़े प्राप्त होने का स्थान और उपाय मुझे विदित है। चलो, समुद्र के समीप इस ऋषभ पर्वत पर विश्राम और भोजन करें। फिर लौटकर घोड़े मिलने की जगह चलेंगे ॥२१।२२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११२ ॥

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

नारद उवाच—ऋषभस्य ततः शृङ्गे निपत्य द्विजपक्षिणौ ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोन्विताम् ॥ १ ॥
अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाऽभिपूज्य ताम् ।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे सन्निषीदतुः ॥ २ ॥
सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम् ।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ॥ ३ ॥
मुहूर्त्तात्प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया ।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ॥ ४ ॥
मांसपिण्डोपमोऽभूत्स मुखपादान्वितः खगः ।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ॥ ५ ॥
किमिदं भवता प्राप्तमिहाऽऽगमनजं फलम् ।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ॥ ६ ॥
किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम् ।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ॥ ७ ॥

एक सौ तेरह अध्याय ॥ ११३ ॥

नारदजी कहते हैं—इसके पश्चात् गालव के साथ गरुड़ ऋषभ पर्वत की चोटी पर उतरे। वहां उन्हें तपस्या में लगी हुई शाण्डिली नाम की ब्राह्मणी देख पड़ी॥१॥ गरुड़ और गालव ने उस ब्राह्मणी से यथोचित सम्भाषण कर उसका पूजन किया। ब्राह्मणी ने स्वागत और कुशल-प्रश्न करके उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। जब दोनों जने बैठ गये तब ब्राह्मणी ने उन्हें भोजन के लिए बलि-मन्त्र से पवित्र अन्न दिया। उस अन्न से तृप्त और अचेत से होकर गालव और गरुड़ दोनों सो रहे।२।३। जागकर चलते समय गरुड़ ने देखा कि उनके पङ्ख झड़ गये हैं और वे मुखचरण-युक्त मांस के लोंदे के समान हो गये हैं। गरुड़ की यह दशा देखकर महर्षि गालव बहुत ही खिन्न हुए। उन्होंने पूछा—

सुपर्णोऽथाऽब्रवीद्विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज ।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥ ८ ॥
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः ।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥ ९ ॥
सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया ।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥ १० ॥
तदेवं बहुमानात्ते मयेहाऽनीप्सितं कृतम् ।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात्क्षन्तुमर्हसि ॥ ११ ॥
सा तौ तदाऽब्रवीत्तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ॥ १२ ॥
निन्दिताऽस्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद्यो मां निन्देत पापकृत् ॥ १३ ॥
हीनयाऽलक्षणैः सर्वैस्तथाऽनिन्दितया मया ।
आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ॥ १४ ॥
आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५ ॥
तदायुष्मन्खगपते यथेष्टं गम्यतामितः ।
न च ते गर्हणीयाऽहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ॥ १६ ॥

हे पक्षिराज गरुड़ ! यहां आने से तुम्हारी यह कैसी दशा हो गई ? हम यहां, इसी दशा में, कब तक रहेंगे ? ॥४।६॥ तुमने कोई अशुभ अधर्म सोचा होगा, और वह तुम्हारा पाप थोड़ा नहीं होगा, जिसका यह परिणाम तुम्हें मिला है।७। गरुड ने कहा–हे विप्र ! मैंने सिद्धावस्था को पहुंची हुई इन ब्राह्मणी को यहां से प्रजापति के पास ले जाने की इच्छा की थी। मैंने सोचा था कि ये भगवान् शङ्कर, सनातन विष्णु, धर्म और यज्ञ के पास रहें। अब इन देवी को प्रणाम और प्रार्थना से सन्तुष्ट करना मेरा कर्तव्य है। फिर गरुड़ ने ब्राह्मणी से कहा—हे देवी ! मैंने मोहवश आपकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना चाहा था, यह मेरा बड़ा भारी अपराध है। आप अपने माहात्म्य का विचार करके मुझे क्षमा कर दें ॥८।११॥ गरुड के अनुनय विनय के वचनों से सन्तुष्ट होकर शाण्डिली ने कहा—हे गरुड़ ! तुम भयभीत होओ नहीं। तुम्हें पहले से भी अच्छे पङ्ख मिलेंगे ॥१२॥ हे वत्स ! मैं निन्दा नहीं सह सकती। तुमने मेरी निन्दा की थी, उसी का यह परिणाम तुम्हें भोगना पड़ा है। जो पापी मेरी निन्दा करता है वह पुण्यलोक से भ्रष्ट हो जाता है ॥१३॥ मैंने सब अशुभ लक्षणों को छोड़कर और सदाचार में लगी रहकर यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ॥१४॥ सदाचार से धर्म, धन और ऐश्वर्य मिलता है और सब प्रकार के अशुभ नष्ट होते हैं। अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार जाओ। स्त्रियां जो निन्दा के योग्य हों तो भी उनकी निन्दा न

भवितासि यथा पूर्वं बलवीर्यसमन्वितः ।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥ १७ ॥
अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चाऽऽसादयामास यथारूपांस्तुरङ्गमान् ॥ १८ ॥
विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाऽध्वनि स्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य सन्निधौ ॥ १९ ॥
यस्त्वया स्वयमेवाऽर्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ॥ २० ॥
प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिद्ध्यते विप्र समार्गस्तु निशम्यताम् ॥ २१ ॥
सुपर्णोऽथाऽब्रवीद्दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं स्वल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ॥ २२ ॥
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नाऽदत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११३ ॥

करनी चाहिए ॥१५।१६॥ तुम्हें फिर पहले का बलवीर्य मिल जायगा। शाण्डिली के यों कहते ही गरुड का रूप और बल पहले का सा हो गया। अब वे शाण्डिली से बिदा होकर फिर श्यामकर्ण घोडों की खोज में घूमने लगे किन्तु उन्हें कहीं सफलता नहीं प्राप्त हुई।१७।१८। इसी बीच में, राह में, गालव और गरुड को महर्षि विश्वामित्र मिल गये। वे गरुड के सामने ही गालव से कहने लगे—हे शिष्य ! तुमने अपने आप मुझे जो गुरु दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की थी उसके देने का समय आ गया है ॥१९।२०॥ उस प्रतिज्ञा से अब तक जितना समय व्यतीत हुआ है उतना ही अवसर मैं तुम को और देता हू। तुम उतने घोडे लाने का यत्न करो। पक्षिराज ने बहुत ही दीन और दुःखित होकर कहा—हे ब्राह्मण ! विश्वामित्र ने जो कहा सो मैंने भी सुना। अब वह यत्न सोचना चाहिए जिसमें शीघ्रता से घोडे मिल जाय। गुरु को देने के लिए स्वीकृत पदार्थ।देये बिना निश्चिन्त रहना उचित नहीं ॥२१।२३॥

उद्योगपर्व का एक सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११३ ॥

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११४ ॥

नारद उवाच—अथाऽऽह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ॥ १ ॥

एक सो चौदह अध्याय ॥ ११४ ॥

गरुड ने कहा—हे तपोधन ! भूगर्भ के कण अग्नि से शुद्ध और वायु से परिवर्द्धित होते हैं। वे ही सुवर्ण हैं। हितकारी और रमणीय होने के कारण वह हिरण्य कहलाता है। इस जगत् में

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात्कारणाद्धनम् ।
तदेतत्त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ २ ॥
नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ॥ ३ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलभ्यं द्विजर्षभ ।
ऋते च धनमश्वानां नाऽवाप्तिर्विद्यते तव ॥ ४ ॥
स त्वं याचाऽत्र राजानं कञ्चिद्राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान्हि यो नौ कुर्यात्कृतार्थिनौ ॥ ५ ॥
अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा ।
अभिगच्छावहे तं वै तस्याऽस्ति विभवो भुवि ॥ ६ ॥
ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः ।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चाऽर्थितः स्वयम् ॥ ७ ॥
विभवश्चाऽस्य सुमहानासीद्धनपतेरिव ।
एवं गुरुधनं विद्वान्दानेनैव विशोधय ॥ ८ ॥
तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत्क्षमम् ।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ॥ ९ ॥
प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम् ।
पृष्टश्चाऽऽगमने हेतुमुवाच विनतासुतः ॥ १० ॥

हिरण्य ही प्रधान है, इसी से जगत् को हिरण्य कहते हैं। उस हिरण्य से सबका निर्वाह होता है, इसी से उसका नाम धन है। वह धन त्रिभुवन में, पूर्वा-भाद्रपद और उत्तरा-भाद्रपद नक्षत्रों में शुक्रवार का योग होने पर मिल सकता है। सुवर्ण अग्नि में और कुबेर के पास है। हिरण्यरेता अग्नि अपने सङ्कल्प से सिद्ध धन मनुष्यों को देते हैं। अजैकपात, अहिर्बुध्न्य और कुबेर उस धन की रक्षा किया करते हैं। इसलिए हे द्विजश्रेष्ठ! धन प्राप्त करना किसी के लिए सहज नहीं है। धन के बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़े मिलने की भी सम्भावना नहीं है ॥१-५॥ प्रजा को पीड़ित किये बिना जो राजा हमें धन दे सकता हो उसी के पास चलकर धन माँगना चाहिए। चन्द्रवंशी नहुष राजा के पुत्र ययाति मेरे प्रिय सखा हैं। राजा ययाति पृथ्वी पर धनपति कुबेर के समान ही ऐश्वर्यशाली हैं। चलो, हम उनके पास चलें। मैं स्वयं उनसे तुम्हारे लिए धन माँगूँगा। वे अवश्य हमारी आशा पूर्ण कर सकेंगे। उनसे धन पाकर तुम गुरु-दक्षिणा दे देना। यों सम्मति करके गरुड़ और गालव राजा ययाति के पास गये। महात्मा ययाति ने पाद्य, अर्घ्य आदि से यथोचित सत्कार करके उनसे आने का कारण पूछा ॥६-१०॥ गरुड़ ने कहा—हे राजेन्द्र! ये तपस्वी गालव मेरे प्रिय सखा हैं। इन्होंने सहस्रों वर्ष तक महर्षि विश्वामित्र

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः ।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद्वर्षाण्ययुतशो नृप ॥ ११ ॥
सोऽयं तेनाऽभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः ।
तमाह भगवान्काले ददानि गुरुदक्षिणाम् ॥ १२ ॥
असकृत्तेन चोक्तेन किञ्चिदागतमन्युना ।
अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ॥ १३ ॥
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १४ ॥
गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे ।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १५ ॥
सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः ।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद्भवन्तं शरणं गतः ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः ।
कृत्वाऽपवर्गं गुरवे चरिष्यति महत्तपः ॥ १७ ॥
तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते ।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ॥ १८ ॥
यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर ।
तावन्तो वाजिनो लोकान्प्राप्नुवन्ति महीपते ॥ १९ ॥
पात्रं प्रतिग्रहस्याऽयं दातुं पात्रं तथा भवान् ।
शङ्खे क्षीरमिवाऽऽसक्तं भवत्वेतत्तथोपमम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

से विद्या पढ़ी है। इन्होंने अब इनसे घर जाने के लिए कहा तब इन्होंने उन्हें गुरु दक्षिणा देने का आग्रह किया। विश्वामित्र ने कई बार कहा कि गुरु-दक्षिणा की कोई आवश्यकता नहीं, तुम जाओ, किन्तु इन्होंने नहीं माना ॥११।१४॥ इनके बहुत हठ करने पर विश्वामित्र कुपित हो उठे। उन्होंने ऐश्वर्यहीन निर्धन जानकर भी इनसे गुरु-दक्षिणा में श्वेत रङ्ग के, काले कानवाले, आठ सौ घोड़े मांगे। इनकी आज्ञा का पालन करने में असमर्थ होकर ये दुःख के मारे मेरी शरण में आये हैं। अब ये आप से भिक्षा लेकर गुरु दक्षिणा देने की आशा से यहां आये हैं। हे राजर्षि! आप इनको अभीष्ट भिक्षा देंगे तो ये भी अपने तप का कुछ अंश देकर आपके तप को बढ़ावेंगे। घोड़े के शरीर में जितने रोए होते हैं उतने ही पुण्यलोक घोड़ा दान करनेवाले को मिलते हैं। ये ब्राह्मण लेने के योग्य पात्र हैं और आप भी देने के योग्य पात्र हैं। इसलिए इन्हें अभीष्ट धन देकर आप अपने योग्य कार्य कीजिए ॥१५।२०॥

उद्योगपर्व का एक सौ चौदह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११४ ॥

अथ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११५ ॥

नारद उवाच—एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
विमृश्याऽवहितो राजा निश्चित्य च पुनः पुनः ॥ १ ॥
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः ।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम् ।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम् ॥ ३ ॥
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाऽद्य मे कुलम् ।
अद्याऽयं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयाऽनघ ॥ ५ ॥
वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा ।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे ॥ ६ ॥
न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग ।
न चाऽऽशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे ॥ ७ ॥
तत्तु दास्यामि यत्कार्यमिदं सम्पादयिष्यति ।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम् ॥ ८ ॥
नाऽतः परं वैनतेय किञ्चित्पापिष्ठमुच्यते ।
यथाऽऽशानाशनाल्लोके देहि नाऽस्तीति वा वचः ॥ ९ ॥
हताशो ह्यकृतार्थः सन्हतः सम्भावितो नरः ।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाऽकुर्वतो हितम् ॥ १० ॥

एक सौ पन्द्रह अध्याय ॥ ११५ ॥

नारदजी ने कहा—हे राजेन्द्र ! हजार यज्ञ करनेवाले सर्वकाशीश महाराज ययाति ने गरुड के युक्तियुक्त वचन सुनकर सोचा कि प्रिय सखा गरुड और ब्राह्मणश्रेष्ठ गालव आकर मुझसे याचना कर रहे हैं, यह बडे ही सौभाग्य की बात है। भिक्षा देना यों भी बडी बात है। ये लोग सूर्यवंशी राजाओं को छोड़कर मेरे पास आये हैं ॥१-४॥ अब ययाति ने गरुड़ से कहा—हे पक्षिराज ! आपके द्वारा इस समय मेरा जन्म सफल और देश तथा कुल पवित्र हो गया है। हे निष्पाप ! इस समय यद्यपि मेरे पास पहले की सी सम्पत्ति नहीं रही है तो भी मैं आपकी आशा को व्यर्थ नहीं कर सकता। मैं आपको ऐसी कोई वस्तु दूंगा, जिससे आपकी इच्छा पूरी होगी। भिक्षा मांगनेवाला भिक्षा मांग करके जिसके यहां से विमुख चला जाता है उसका सारा कुल भस्म हो जाता है। प्रार्थी को निराश करने में बढ़कर कोई पातक नहीं है। प्रार्थी हताश होकर लौट जाता है तो निराश करनेवाले के पुत्र-

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम ।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी ॥ ११ ॥
सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव ।
कांक्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥
अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम् ।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते ॥ १३ ॥
स भवान्प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम् ।
अहं दौहित्रवान्स्यां वै वर एष मम प्रभो ॥ १४ ॥
प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा ।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ॥ १५ ॥
उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाऽण्डजः ।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ॥ १६ ॥
गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया ।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत् ॥ १७ ॥
सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम् ।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ १८ ॥
कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम् ।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ॥ १९ ॥
तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत् ।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ॥ २० ॥

पौत्र आदि मर जाते हैं ॥५।१०॥ इसलिए आप धर्म में रुचि रखनेवाली मेरी इस कन्या को अवश्य ग्रहण करें। देव, दानव, मनुष्य आदि इसके रूप पर मुग्ध होकर इसे पाने की प्रार्थना करते हैं। इस देवकन्या जैसी कन्या का नाम माधवी है। इससे चार वंश चलेंगे। जो राजा लोग इसे पावें तो श्यामकर्ण आठ सौ घोड़ों की कौन कहे, अपना सारा राज्य तक दे देने को तैयार हो जायं। इसलिए आप इस कन्या को ले जायं। इसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र मेरा दौहित्र होगा। इसके सिवा मुझे दूसरी इच्छा नहीं है। ॥११।१४॥ तब तपस्वी गालव माधवी को लेकर और गरुड़ से 'मैं फिर तुमसे मिलूँगा' कहकर वहां से चल दिये। गरुड़ भी गालव के घोड़े पाने का उपाय करके अपने भवन को चले गये। उनके चले जाने पर गालव उस कन्या को लेकर सोचने लगे कि यह कन्या किसे दूँ जिससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो। अन्त को उन्होंने निश्चय किया कि अयोध्या के राजा, इक्ष्वाकुवंशी हर्यश्व बड़े बली, धर्मात्मा, पराक्रमी, चतुरङ्गिणी सेना रखनेवाले, ऐश्वर्यशाली, प्रजावत्सल, पुरवासियों और ब्राह्मणों को प्रिय हैं। पुत्र पाने के लिए वे श्रेष्ठ तप भी कर रहे हैं। उन के यहां जाने से मेरा मनोरथ पूरा हो जायगा। यह

इयं शुल्केन भार्यार्थं हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम्॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पंचदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११५ ॥

निश्चय करके तपस्वी गालव राजा हर्यश्व के पास गये। वहां जाकर उन्होंने राजा से कहा—हे राजेन्द्र ! मेरी यह कन्या आपका वंश बढ़ावेगी। आप शुल्क (मूल्य) देकर इसको स्त्री-रूप से ग्रहण कीजिएगा। इसे ग्रहण करने से जो शुल्क देना पड़ेगा वह मैं कहता हूं—सुनिए ॥१५।२१॥

उद्योगपर्व का एक सौ पन्द्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११५ ॥

अथ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

नारद उवाच—हर्यश्वस्त्वब्रवीद्राजा विचिन्त्य बहुधा ततः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ॥ १ ॥
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु सप्तसु ।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ॥ २ ॥
बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना ।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ॥ ३ ॥
समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम् ।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम ॥ ४ ॥
गालव उवाच—एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे ।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम् ॥ ५ ॥
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा ।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना ॥ ६ ॥
नारद उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः ।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम् ॥ ७ ॥

एक सौ सोलह अध्याय ॥ ११६ ॥

नारदजी कहते हैं कि कोई सन्तान न होने के कारण राजा हर्यश्व को बड़ी चिन्ता थी। वे कुछ देर सोचकर, लम्बी-लम्बी सांसें लेकर, गालव से कहने लगे—हे द्विजश्रेष्ठ ! देवता, गन्धर्व आदि भी इस परम सुन्दरी कन्या को अपनी भार्या बनाने के लिए लालायित होंगे। इस लोकसुन्दरी रमणी के हाथों और पांवों की पीठ, स्तन, नितम्ब, कपोल और नेत्र ऊंचे हैं। कमर, केश, दांत, हाथों और पांवो की उंगलियां पतली हैं। स्वर, नाभि और स्वभाव गम्भीर है। हथेली, नेत्रों के कोए, तालु, जीभ और ओठ लाल हैं। इन सब सुलक्षणों से सूचित होता है कि इसके गर्भ से उत्पन्न बालक चक्रवर्ती राजा होगा। इस लिए आप मेरी सम्पत्ति का खयाल करके इसका शुल्क बताइए॥१।४॥ गालव ने कहा—हे महाराज ! चन्द्रमा के समान श्वेत रङ्ग के, सर्वाङ्गसुन्दर और एक कान के काले आठ सौ घोड़े इस कन्या का शुल्क हैं। जैसे वन

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव ।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः ॥ ८ ॥
सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव ।
अस्यामेतं भवान्कामं सम्पादयतु मे वरम् ॥ ९ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत्।
मम दत्तो वरः कश्चित्केनचिद्ब्रह्मवादिना ॥ १० ॥
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्येव त्वं भविष्यसि ।
स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान् ॥ ११ ॥
नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे ।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च ॥ १२ ॥
क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थो द्विजसत्तम ।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज ॥ १३ ॥
एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा ।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥
इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम् ॥ १५ ॥
प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च ।
समये देशकाले च लब्धवान्सुतमीप्सितम् ॥ १६ ॥
ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः ।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः ॥ १७ ॥

से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही इसके गर्भ से आपके बहुत पुत्र उत्पन्न होंगे ॥५।६॥ नारद जी कहते हैं-अब काम-मोहित राजा हर्यश्व ने गालव के वचन सुनकर नम्रता के साथ कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! आपकी इच्छा के दो सौ श्यामकर्ण घोड़े मेरे यहां हैं । उनके सिवा और तरह के सहस्रों घोड़े हैं मैं वे दो सौ घोड़े देकर इस रमणी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न करना चाहता हूं । आप मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कीजिए ॥७।९॥ उस सुन्दरी कन्या ने गालव [illegible] कहा—हे भगवन् ! एक ब्रह्मचारी मुझे यह वर दे गये हैं कि 'तुम प्रसव के पश्चात् फिर कन्या हो जाओगे'। इसलिए आप ये दो सौ घोड़े लेकर मुझे राजा को दे दीजिए'॥१०।११॥ इस तरह आप चार राजाओं से आठ सौ घोड़े पा जायेंगे और मेरे भी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥१२॥ यह सुनकर महर्षि गालव ने कहा—हे राजेन्द्र ! इस कन्या को लेकर शुल्क का चतुर्थांश मुझे दीजिए और इस सुन्दरी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न कर लीजिए ॥१३।१५॥ राजा हर्यश्व ने गालव ऋषि का अभिनन्दन किया। घोड़े देकर यथासमय उन्होंने माधवी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१६॥ उस पुत्र का नाम वसुमना हुआ । कुछ दिनों के पश्चात् वही वसुप्रद वसुमना

अथ काले पुनर्धीमान्गालवः प्रत्युपस्थितः ।
उपसङ्गम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम् ॥ १८ ॥
जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसन्निभः ।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम् ॥ १९ ॥
हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे ।
दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ॥ २० ॥
माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम् ।
कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ २१ ॥
त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान्द्विजः ।
प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

अयोध्या के सिंहासन पर बैठे ॥१७॥ इसके पश्चात् गालव मुनि ने फिर हर्यश्व के पास जाकर कहा—हे राजेन्द्र ! आप सूर्यतुल्य तेजस्वी एक पुत्र प्राप्त कर चुके । अब मैं भी और घोड़ों के लिए यह कन्या लेकर अन्य राजाओं के पास जाना चाहता हूं । इसलिए माधवी को मेरे साथ कर दीजिए ॥१८।१९॥ पौरुषशाली राजा हर्यश्व ने सत्य का पालन करके मुनि को माधवी लौटा दी; क्योंकि वैसे घोड़े और मिल नहीं सकते थे ॥२०॥ माधवी अपनी इच्छा से उत्तम राज्यलक्ष्मी छोड़कर, कुमारीभाव धारण करके, गालव के साथ चलीं । गालव मुनि धरोहर के तौर पर अपने दो सौ घोड़े राजा हर्यश्व के पास ही छोड़कर महाराज दिवोदास के यहां गये ॥२१।२२॥

उद्योगपर्व का एक सौ सोलह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११६ ॥

अथ सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

गालव उवाच—महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः ।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ १ ॥
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः ।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ॥ २ ॥
नारद उवाच—तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः ।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ॥ ३ ॥

एक सौ सत्रह अध्याय ॥ ११७ ॥

महर्षि गालव ने माधवी से कहा—हे भद्रे ! महावीर भीमसेन के पुत्र दिवोदास काशी के राजा हैं । मैं तुमको अब उन्हीं के पास लिये चलता हूं । तुम कुछ शोक न करो, धीरे-धीरे मेरे साथ चली आओ । वे राजा बड़े ही धर्मात्मा, संयमी और सत्यवादी हैं ॥१।२॥ नारद जी कहते हैं कि अब महर्षि गालव राजा दिवोदास के पास पहुंचे । राजा ने उनका यथोचित सत्कार किया । तब गालव ने उनसे, पुत्र

दिवोदास उवाच—श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज ।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ॥ ४ ॥
एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान् ।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ॥ ५ ॥
स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव ।
अहमप्येकमेवाऽस्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ॥ ६ ॥
तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात्कन्यां महीपतेः ।
विधिपूर्वं च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ॥ ७ ॥
रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः ।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ॥ ८ ॥
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः ।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्ध्यां धनेश्वरः ॥ ९ ॥
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः ।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ॥ १० ॥
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाऽक्षमालया ।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः सन्ध्यया यथा ॥ ११ ॥
अगस्त्यश्चाऽपि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान्यथा ।
यथा भृगुः पुलोमायामादित्यां कश्यपो यथा ॥ १२ ॥
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः ।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ॥ १३ ॥
यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः ।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः ॥ १४ ॥

उत्पन्न करने के लिए, माधवी को ग्रहण करने का अनुरोध किया ॥३॥ दिवोदास ने कहा—हे द्विजवर ! आपको अधिक कुछ न कहना पड़ेगा, मुझे पहले से ही सब हाल मालूम है; मैं तो इस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हूं । आप अन्य राजाओं को छोड़कर मेरे पास आये हैं, यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात है । इसे भावी ही कहना चाहिए । किन्तु, मेरे पास भी आपकी इच्छा के केवल दो सौ घोड़े हैं। मैं वे घोड़े देकर इस सुन्दरी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न करूंगा । गालव ने राजा का कहा मान करके माधवी उन्हें दे दी । महाराज दिवोदास ने विधि-पूर्वक माधवी को ग्रहण किया ॥४।७॥ जैसे प्रभावती को सूर्य, स्वाहा को अग्नि, इन्द्राणी को इन्द्र, रोहिणी को चन्द्र, उर्मिला को यमराज, गौरी को वरुण, ऋद्धि को कुबेर, लक्ष्मी को नारायण, गङ्गा को सागर, रुद्राणी को रुद्र, सरस्वती को ब्रह्मा, अदृश्यन्ती को वशिष्ठ के पुत्र, अक्षमाला को वशिष्ठ, सुकन्या को च्यवन, सन्ध्या को पुलस्त्य, वैदर्भी

शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः ।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः ॥ १५ ॥
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया ।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया ॥ १६ ॥
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनञ्जयः ।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः ॥ १७ ॥
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः ।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम् ॥ १८ ॥
अथाऽऽजगाम भगवान्दिवोदासं स गालवः ।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥
निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः ।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते ॥ २० ॥
दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम् ।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

को अगस्त्य, सावित्री को सत्यवान्, पुलोमा को भृगु, अदिति को कश्यप, रेणुका को यमदग्नि, हैमवती को कौशिक, तारा को बृहस्पति, शतपर्वा को शुक्र, भूमि को भूमिपति, उर्वशी को पुरूरवा, सत्यवती को ऋचीक, सरस्वती को मनु, शकुन्तला को दुष्यन्त, धृति को धर्म, दमयन्ती को नल, सत्यवती को नारद, जरत्कारु को जरत्कारु, प्रतीची को पुलस्त्य, मेनका को ऊर्णायु, रम्भा को तुम्बुरु, शतशीर्षा को वासुकि, कुमारी को धनञ्जय, जानकी को राम और रुक्मणी को कृष्णचन्द्र प्रिय हैं वैसे ही माधवी को दिवोदास प्रिय थे ॥८।१८॥ कुछ समय के पश्चात् माधवी के गर्भ से दिवोदास के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम प्रतर्दन हुआ। अब महर्षि गालव ने राजा दिवोदास के पास आकर कहा—हे राजेन्द्र ! मेरी कन्या मुझे लौटा दीजिए। आपके दिये हुए मेरे घोड़े अभी आपके ही पास रहेंगे। मुझे अभी और घोड़ों के लिए अन्य राजाओं के पास जाना है। सत्यपरायण धर्मशील राजा ने समय देखकर गालव मुनि को वह कन्या फेर दी॥१९।२१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ सत्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११७ ॥

अथ अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

नारद उवाच—तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी ।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात्सत्यसङ्गरा ॥ १ ॥
गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः ।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम् ॥ २ ॥

तमुवाचाऽथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम् ।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ ॥ ३ ॥
अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च ।
सोमार्कप्रतिसङ्काशौ जनयित्वा सुतौ नृप ॥ ४ ॥
शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम् ॥ ५ ॥
गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे ।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ॥ ६ ॥
अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव ।
पितॄन्पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ॥ ७ ॥
न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः ।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥ ८ ॥
एतच्चाऽन्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम् ।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ॥ ९ ॥
श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव ।
विधिस्तु बलवान्ब्रह्मन्प्रवणं हि मनो मम ॥ १० ॥
शते द्वे तु ममाऽश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम ।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ॥ ११ ॥

एक सौ अठारह अध्याय ॥ ११८ ॥

नारदजी कहते हैं—सत्यवादिनी यशस्विनी माधवी फिर कन्या होकर, वह राज्यलक्ष्मी छोड़कर, गालव के साथ चली । अपना कार्य सिद्ध करने के लिए चिन्तित गालव ऋषि भोज नगर में उशीनर राजा के पास गये ॥१।२॥ वहां पहुँचकर उन्होंने सत्यपरायण राजा उशीनर से कहा—हे राजेन्द्र ! मेरी इस कन्या के गर्भ से आपके चन्द्र-सूर्य के समान तेजस्वी दो पुत्र उत्पन्न होंगे । वे आपको इस लोक और परलोक में कृतार्थ करेंगे । ॥३।४॥ इस कन्या का शुल्क आपको चार सौ श्यामकर्ण श्वेत घोड़े देने पड़ेंगे । हे महाराज ! मैं गुरु-दक्षिणा देने के लिए यह यत्न कर रहा हूं; नहीं तो घोड़ों की मुझे कोई आवश्यकता न थी । जो आप चार सौ श्यामकर्ण घोड़े मुझे दे सकते हों तो शीघ्र इस कन्या को ले लीजिए ॥५।६॥ आप के कोई पुत्र कन्या नहीं है । इसके गर्भ से उत्पन्न दोनों पुत्र आपके पितरों को और आपको तार देंगे ॥७॥ हे राजर्षि ! जिसके पुत्र हैं वह कभी स्वर्ग से भ्रष्ट नहीं होता । उसे पुत्र-हीन पुरुष की तरह कभी नरक नहीं भोगना पड़ता ॥८॥ गालव के वचन सुनकर राजा उशीनर ने कहा—हे गालव ! आपकी बातें मैंने सुनी । इस सुन्दरी को पाने के लिए मैं भी बहुत उत्कण्ठित हो रहा हूँ ॥९।१०॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आपकी इच्छा के केवल दो सौ घोड़े मेरे घर में हैं ।

अहमप्येकमेवाऽस्यां जनयिष्यामि गालव ।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ॥ १२ ॥
मूल्येनाऽपि समं कुर्यां तवाऽहं द्विजसत्तम ।
पौरजानपदार्थं तु ममाऽर्थो नाऽऽत्मभोगतः ॥ १३ ॥
कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति ।
न स धर्मेण धर्मात्मन्युज्यते यशसा न च ॥ १४ ॥
सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान्मम ।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ॥ १५ ॥
तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम् ।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥
उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम् ।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ॥ १७ ॥
कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ॥ १८ ॥
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च ।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ॥ १९ ॥
ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः ।
शिबिर्नाम्नाऽभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ॥ २० ॥
उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन्दृष्टवान्विनतात्मजम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११८ ॥

में इस रमणी के गर्भ से केवल एक पुत्र उत्पन्न करके सज्जनों की राह पर चलूंगा ॥११।१२॥ आप भी इसका उचित शुल्क मुझसे ले लीजिए । हे ब्रह्मन्! मेरे पास जो धन सम्पत्ति है वह अपने भोग के लिए नहीं, पुरवासी और जनपदवासी लोगों के लिए ही सञ्चित है ॥१३॥ जो राजा प्रजा के धन को लेकर अपनी इच्छा के अनुसार व्यय करता है, वह कभी धर्म और यश पाने का अधिकारी नहीं हो सकता ॥१४॥ इससे आप मुझे केवल एक पुत्र उत्पन्न करने के लिए यह देवकन्या सी सुन्दरी दे दीजिए ॥१५॥ राजा के वचनों से सन्तुष्ट होकर गालव ने वह कन्या राजा को दे दी ॥१६॥ फिर वे वन को चले गये। जैसे पुण्यात्मा लोग श्रेष्ठ ऐश्वर्य पाकर बड़े सुख से समय व्यतीत करते हैं वैसे ही राजा उशीनर ययाति की कन्या माधवी को लेकर कभी पर्वत-कन्दराओं में, कभी नदियों के झरनों में, कभी विमानों में, कभी अन्तःपुर में, कभी विचित्र उद्यानों में, कभी वन में, कभी उपवन में, कभी महलों में, कभी महलों की छतों पर और कभी झरोखों तथा तहखानों में विचरते हुए सुख भोगने लगे ॥१७।१९॥ यथासमय राजा

उशीनर के, माधवी के गर्भ से, एक सूर्य-सदृश तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। वही कुमार प्रसिद्ध शरणागत-रक्षक महाराज शिबि हुए ॥२०॥ समय पर महर्षि गालव फिर राजा उशीनर के पास आये और उनसे माधवी को लेकर गरुड़ से मिले ॥२१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ अठारह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११८ ॥

अथ एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

नारद उवाच—गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज ॥ १ ॥
गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ॥ २ ॥
सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ॥ ३ ॥
पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत्कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ॥ ४ ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन्दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ॥ ५ ॥
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्याऽऽलयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान्पार्थिवाय वै ॥ ६ ॥
इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा ॥ ७ ॥
अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।

एक सौ उन्नीस अध्याय ॥ ११९ ॥

नारदजी कहते हैं कि तब गरुड़ ने हँसकर गालव मुनि से कहा—हे गालव! बड़े ही सौभाग्य की बात है कि आज मैं तुमको कृतकार्य देख रहा हूँ ॥१॥ गालव मुनि ने कहा—हे मित्र! अभी तक पूरे आठ सौ घोड़े नहीं मिले। दो सौ की अभी कमी है। बताओ, उनके लिए क्या करना चाहिए? ॥२॥ तब गरुड़ ने कहा—हे गालव! अब शेष दो सौ घोड़े प्राप्त करने के लिए यत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं। और घोड़े अब मिल भी नहीं सकते। ॥३॥ पूर्व-समय में ऋचीक ऋषि ने कान्यकुब्ज देश के राजा से उनकी 'सत्यवती' कन्या को अपनी स्त्री बनाने के लिए मांगा था। राजा ने कन्या का शुल्क ऐसे ही श्यामकर्ण हज़ार घोड़े उनसे मांगे थे। ऋचीक तथास्तु कहकर वरुण के भवन में गये और वहां के अश्वतीर्थ से वैसे हज़ार घोड़े लेकर राजा गाधि के पास आये। उन्होंने वे हज़ार घोड़े राजा को दे दिये ॥४।६॥ गाधि राजा ने पुण्डरीकाक्ष यज्ञ का अनुष्ठान करके वे घोड़े ब्राह्मणों को दक्षिणा में दे दिये। आप तीन राजाओं से जो छः सौ घोड़े लाये हैं, वे घोड़े दो-दो सौ करके उन्होंने उन्हीं

नीयमानानि सन्तारे हृतान्यासन्वितस्तया ॥ ८ ॥
एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ॥ ९ ॥
विश्वामित्राय धर्मात्मन्षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ॥ १० ॥
गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाऽश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत् ॥ ११ ॥
अश्वानां कांक्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥
अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः ।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ॥ १३ ॥
पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते ।
भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ॥ १४ ॥
विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा ।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद्वचः ॥ १५ ॥
किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव ।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै ।
अश्वाश्चाऽऽश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ॥ १७ ॥
स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः ।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ॥ १८ ॥

ब्राह्मणों से मोल लिये थे ॥७॥ शेष चार सौ घोड़े वितस्ता नदी पार होते समय जल में डूब गये थे ॥८॥ आपको अब किसी तरह वे घोड़े नहीं मिल सकते। इसलिए महर्षि विश्वामित्र को शेष दो सौ घोड़ों के बदले यही कन्या दे दीजिए। तब आपकी सब चिन्ता दूर हो जायगी और आप कृतकार्य हो जायंगे ॥९।१०॥ गरुड़ के वचन सुनकर महर्षि गालव-वह कन्या लेकर उनके साथ, विश्वामित्र के आश्रम में गये ॥११॥ छः सौ श्यामकर्ण घोड़े और वह कन्या देकर गालव मुनि ने विश्वामित्र से कहा—हे गुरुजी! आप ये छः सौ घोड़े और, दो सौ घोड़ों के बदले में, यह कन्या ले लीजिए ॥१२॥ तीन राजर्षि इस कन्या से तीन परम धार्मिक पुत्र उत्पन्न कर चुके हैं। अब आप इसके गर्भ से एक श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिए ॥१३॥ गालव, गरुड और माधवी को देखकर विश्वामित्र ने कहा—हे गालव! तुमने पहले ही यह कन्या मुझको क्यों नहीं दे दी? कुल को पवित्र करनेवाले चार पुत्र इससे पाकर मैं अपने को कृतार्थ करता ॥१४।१६॥ अच्छा, मैं इस समय एक पुत्र पाने के लिए इसे ग्रहण करता हूँ। ये सब घोड़े छोड़ दो, मेरे आश्रम में

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः ।
संयोज्याऽर्थैस्तथा धर्मैरस्त्रैस्तैः समयोजयत् ॥ १९ ॥
अथाऽष्टकः पुरं प्रायात्तदा सोमपुरप्रभम् ।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ॥ २० ॥
गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम् ।
मनसाऽतिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ॥ २१ ॥
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथाऽपरः ।
सत्यधर्मरतश्चाऽन्यो यज्वा चापि तथाऽपरः ॥ २२ ॥
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः ।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाऽहं सुमध्यमे ॥ २३ ॥
गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम् ।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥११९॥

चारों ओर विचरें ॥१७॥ महातेजस्वी विश्वामित्र ने इस तरह माधवी को ग्रहण किया । यथासमय माधवी के गर्भ से उनके, अष्टक नाम से प्रसिद्ध, एक महायशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१८॥ विश्वामित्र मुनि ने उत्पन्न होते ही उस बालक को धर्म-अर्थ की शिक्षा देकर वे घोड़े दे दिये । फिर वे माधवी को गालव के पास छोड़कर वन को चले गये । महाप्रतापी अष्टक चन्द्रलोक के समान शोभाशाली अपने पुर में जाकर प्रजा का पालन करने लगे ॥१९।२०॥ ऋषिश्रेष्ठ गालव, गरुड़ की सहायता से, इस तरह गुरु-दक्षिणा देकर बहुत प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने माधवी से कहा—हे सुन्दरी ! तुम्हारे गर्भ से एक दाता, एक शूर, एक सत्यवादी और एक याज्ञिक, चार पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥२१।२२॥ तुमने उन पुत्रों से अपने पिता की, चार पतियों की और मेरी रक्षा की । अब तुम अपने पिता के पास जाओ । अब वह कन्या राजा ययाति को सौंपकर और गरुड़ से विदा होकर महामुनि गालव वन को चल दिये ॥२३।२४॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ उन्नीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११९ ॥

अथ विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

नारद उवाच—स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम् ।
उपगम्याऽऽश्रमपदं गङ्गायमुनसङ्गमे ॥ १ ॥
गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम् ।

एक सौ बीस अध्याय ॥ १२० ॥

नारदजी कहते हैं—राजा ययाति अपनी कन्या का स्वयंवर करने के लिए उसे सुन्दर माला-वस्त्र-आभूषण आदि से सजा करके अति सुन्दर रथ में बिठाकर गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर स्थित आश्रम

हम नहीं जानते ॥२१॥ सबका ज्ञान कुण्ठित हो गया। कोई भी राजा ययाति को नहीं जान सका। कुछ देर में राजा ययाति का तेज फीका पड़ गया ॥२२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२० ॥

अथ एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

नारद उवाच—अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः ।
कम्पितेनेव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ॥ १ ॥
म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः ।
विघूर्णन्स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ॥ २ ॥
अदृश्यमानस्तान्पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः ।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन्महीतलम् ॥ ३ ॥
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम् ।
येनाऽहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥
ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाऽप्सरसस्तथा ।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ॥ ५ ॥
अथैत्य पुरुषः कश्चित्क्षीणपुण्यनिपातकः ।
ययातिमब्रवीद्राजन्देवराजस्य शासनात् ॥ ६ ॥
अतीव मदमत्तस्त्वं न कश्चिन्नाऽवमन्यसे ।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नाऽर्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥
न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत् ।
पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ॥ ८ ॥

एक सौ इक्कीस अध्याय ॥ १२१ ॥

नारदजी कहते हैं—स्वर्गवासी लोगों के द्वारा न पहचाने जाने पर राजा ययाति उसी समय शोक-विह्वल होकर अपने स्थान से भ्रष्ट हो गये। उनका हृदय धड़कने लगा। उनको ज्ञान न रहा। उनके गले की दिव्य माला सूख गई। वस्त्र और मुकुट, अङ्गद आदि सब आभूषण शरीर से गिर पड़े ॥१।२॥ देवगण कभी तो उनको देख पड़ते थे, और कभी नहीं देख पड़ते थे। वे अदृश्य होकर उदासी से पृथ्वी की ओर देखकर सोचने लगे कि मैंने अपने मन से कौन ऐसा अधर्म सोचा है, जिसके कारण मुझे स्वर्ग से भ्रष्ट होना पड़ा। उसी समय स्वर्ग-निवासी राजा, अप्सरा और सिद्ध आदि ने देखा कि राजा ययाति स्वर्ग से भ्रष्ट हो रहे हैं ॥३।५॥ पुण्य क्षीण होने पर लोगों को पृथ्वी पर गिराने के लिए जो देवदूत नियुक्त हैं, उनमें से एक ने इन्द्र की आज्ञा के अनुसार ययाति से कहा—हे राजेन्द्र! तुम अत्यन्त घमण्डी हो। तुमने सबका अनादर किया, इसी से तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया और स्वर्गभोग भी समाप्त हो गया है। तुम स्वर्ग में रहने योग्य नहीं हो ॥६।७॥ यहां तुम्हें कोई पहचानता

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः ।
एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ॥ ९ ॥
चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह ।
प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ॥ १० ॥
वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम् ।
तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ययातिरुपजिघ्रन्वै निपपात महीं प्रति ।
भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव ।
गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ॥ १२ ॥
श्रीमत्स्ववभृताग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु ।
मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ॥ १३ ॥
चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु ।
पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ॥ १४ ॥
तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया ।
को भवान्कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ॥ १५ ॥
यक्षो वाऽप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा ।
नहि मानुषरूपोऽसि को वाऽर्थः कांक्ष्यते त्वया ॥ १६ ॥
ययातिरुवाच—ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः ।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन्भवत्सु पतितस्ततः ॥ १७ ॥

भी नहीं। इसलिए इसी समय पृथ्वी पर जाओ। गिरते समय ययाति ने तीन बार पुकारकर कहा—"मैं सज्जनों की मण्डली के बीच में गिरूँ।" अब अपनी गति के बारे में सोचते हुए राजा ययाति ने नैमिषारण्य में यज्ञ कर रहे अपने दौहित्र प्रसिद्ध राजा प्रतर्दन, वसुमना, उशीनर के पुत्र शिबि और विश्वामित्र के पुत्र अष्टक को देखा ॥८।१०॥ ये लोकपाल-सदृश राजा, इन्द्र की प्रसन्नता के लिए, वाजपेय यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ-कुण्ड से उठा हुआ धुआं स्वर्ग के द्वार तक पहुँचकर धुएं की नदी या स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरनेवाली मन्दाकिनी की धारा के समान जान पड़ता था। महाराज नहुष के पुत्र ययाति वह परम पवित्र यज्ञ का धुआं सूंघकर, उसी के सहारे, उक्त चारों राजाओं के बीच में गिरे ॥११।१३॥ प्रतर्दन आदि नरपतियों ने अपने नाना ययाति को देखकर पूछा—हे महात्मा! आप कौन हैं? किसके भाई या पुत्र हैं? किस देश या नगर से यहा आये हैं? ॥१४।१५॥ हमें आप मनुष्य नहीं प्रतीत होते। देवता, गन्धर्व, यक्ष अथवा राक्षस कोई होंगे। बताइए, आप किस लिए हमारे पास आये हैं ॥१६॥ ययाति ने कहा—हे महात्माओ! मैं ययाति नाम से प्रसिद्ध राजा हूं। पुण्य क्षीण हो जाने के कारण स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पृथ्वी पर आया हूं। मैंने गिरते समय प्रार्थना की थी कि मैं सज्जन

राजान ऊचु —सत्यमेतद्भवतु ते कांक्षितं पुरुषर्षभ ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ १८ ॥
ययातिरुवाच—नाऽहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम् ।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ॥ १९ ॥
नारद उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम् ।
माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ॥ २० ॥
किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव ।
आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ॥ २१ ॥
तेषां तद्भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा ।
पितरं समुपागच्छद्ययातिं सा ववन्द च ॥ २२ ॥
स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान्पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत् ।
दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ॥ २३ ॥
इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत्पुरातने ।
अहं ते दुहिता राजन्माधवी मृगचारिणी ॥ २४ ॥
मयाऽप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम् ।
यस्माद्राजन्नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ॥ २५ ॥
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान्यथा त्वं वसुधाधिप ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ॥ २६ ॥

पुरुषों के बीच में गिरू । इसी से यहां गिरा हू ॥१७॥ राजाओं ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपकी इच्छा सत्य हो । हम आपको अपने यज्ञों का फल और धर्म का फल देते हैं, आप लीजिए ॥१८॥ ययाति ने कहा—हे महाशयो ! मैं अर्थ ग्रहण करनेवाला अर्थात् धन आदि का दान लेनेवाला ब्राह्मण नहीं हू । मैं तो क्षत्रिय हू । विशेषकर पराया पुण्य क्षीण करना मुझे पसन्द नहीं—उधर मेरी प्रवृत्ति ही नहीं है ॥१९॥ नारदजी कहते हैं—इसी समय ययाति की कन्या माधवी मृगों की तरह, मृगों के साथ विचरती हुई, वहां पर पहुची । प्रतर्दन आदि राजाओं ने माता को देखकर प्रणाम किया और कहा—हे माता ! हम सब आप के पुत्र उपस्थित हैं । आज्ञा दीजिए, आपकी क्या सेवा करें । यह सुनकर माधवी बहुत प्रसन्न हुई । उसने पास जाकर पिता ययाति को प्रणाम किया ॥२०।२२॥ फिर पुत्रों के मस्तक सूघकर कहने लगी—हे पिताजी ! ये मेरे चार पुत्र और आपके दौहित्र हैं । ये आपका उद्धार करेंगे । हे राजेन्द्र ! मैं मृगों की तरह वन में फिरनेवाली आपकी बेटी माधवी हू । मैंने भी धर्मसञ्चय किया है । मैं उसका आधा फल आपको देती हू । मनुष्यों को पुत्रों के किये धर्म का फल मिलता है, और इसी से लोग इच्छा करते हैं कि हमारे दौहित्र, पुत्र आदि हों ॥२३।२५॥ अब प्रतर्दन आदि राजाओं ने माता और मातामह (नाना) को प्रणाम किया । फिर वे ऊचे और गम्भीर स्वर से

अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाऽब्रुवन् ।
उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ॥ २७ ॥
मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम् ।
अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम् ।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः

पृथ्वीमण्डल को प्रतिध्वनित करते हुए स्वर्ग-भ्रष्ट नाना को अपने पुण्य-फल से तारने की इच्छा प्रकट करने लगे। इसी समय महर्षि गालव भी वहाँ आ गये और राजा ययाति से कहने लगे—हे महाराज! आप मेरी तपस्या के आठवें भाग को ले लीजिए और उसके बल से स्वर्ग को लौट जाइए ॥२६।२८॥

उद्योगपर्व का एक सौ इक्कीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२१ ॥

अथ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

नारद उवाच—प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः ।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन्वसुधातलम् ॥
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ॥ १ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत्पदा ॥ २ ॥
ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन्वचः ।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ॥ ३ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया ।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ४ ॥
यत्फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत्फलम् ।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ५ ॥
ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः ।

एक सौ बाईस अध्याय ॥ १२२ ॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार सब महात्माओं के तप के बल से, दिव्य माला और दिव्य वस्त्र-आभूषण पहने हुए, ययाति राजा फिर स्वर्ग को चले। दिव्य स्थिति में स्थित राजा ययाति का खेद जाता रहा। वे बहुत ही प्रसन्न हुए। स्वर्ग से भ्रष्ट होने पर भी दिव्यरूपधारी राजा ययाति ने अभी तक पृथ्वी पर पाव नहीं रक्खे थे। दिव्य गुणों से युक्त ययाति के शरीर से दिव्य गन्ध निकल रही थी ॥१।२॥ संसार में सुप्रसिद्ध दानी और यशस्वी वसुमना ने सबसे पहले, ऊँचे स्वर से, ययाति से कहा—हे महात्मा! मैंने किसी वर्ण की निन्दा नहीं की और किसी वर्ण का पुरुष मेरी निन्दा नहीं करता। उसका फल और दान, क्षमा, अग्निहोत्र का फल मैंने आपको दिया; आप उसे ले लीजिए

यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ॥ ६ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः ।
वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ७ ॥
शिबिरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम् ।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ॥ ८ ॥
सङ्गरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ॥ ९ ॥
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन्कामसुखानि च ।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ॥ १० ॥
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः ।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ॥ ११ ॥
अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः ।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ॥ १२ ॥
शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो ।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ॥ १३ ॥
न मे रत्नानि न धनं न तथाऽन्ये परिच्छदाः ।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ॥ १४ ॥
यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम् ।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ॥ १५ ॥
एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा ।
ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ॥ १६ ॥

॥३।५॥ अब क्षत्रियश्रेष्ठ प्रतर्दन ने राजा ययाति से कहा—हे महाराज ! मैंने धर्म पर अनुराग, युद्ध की प्रवृत्ति और वीर-पद की प्राप्ति से जो क्षत्रियोचित यश पाया है वह मैं आपको देता हूं। आप मेरे धर्मपालन और सत्यनिष्ठा के बल से स्वर्ग को चले जाइए ॥६।७॥ फिर उशीनर राजा के पुत्र बुद्धिमान् शिबि ने मधुर वाणी से ययाति से कहा—हे महाराज ! मैं बालक, स्त्री, सम्बन्धी, साले आदि से बातचीत करते समय, युद्धस्थल में, किसी सङ्कट के समय अथवा द्यूत क्रीड़ा आदि व्यसनों के समय भी असत्य नहीं बोला हूं। मेरे उसी सत्य के प्रभाव से आप स्वर्ग को जाइए ॥८।९॥ मैं राज्य, प्राण, काम सुख आदि को सहज ही छोड़ सकता हूं, केवल सत्य को नहीं छोड़ सकता। मेरे उसी सत्य के प्रभाव से आप स्वर्ग को जाइए ॥१०॥ मेरे सत्य से धर्म, अग्नि और इन्द्र सन्तुष्ट हुए हैं। उसी सत्य के प्रभाव से आप स्वर्ग को जाइए ॥११॥ शिबि के पश्चात् माधवी के पुत्र धार्मिकश्रेष्ठ और कई सौ यज्ञ करनेवाले अष्टक ने कहा—हे राजेन्द्र ! मैंने सैंकड़ों पुण्डरीक, गोमेध और वाजपेय यज्ञ किये हैं।

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै ।
चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः ।
मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ॥ १७ ॥
राजान ऊचुः—राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः ।
दौहित्रास्ते वयं राजन्दिवमारोह पार्थिव ॥ १८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणिभगवद्यानपर्वणिचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१२२॥

आप उन सब यज्ञों का फल भोगिए ॥१२।१३॥ रत्न, धन और अन्य सब सामग्री मैंने यज्ञों में लगा दी है। उसके फल से आप स्वर्ग-लोक को चले जाइए ॥१४॥ अपने दौहित्रों के कहने के अनुसार महाराज ययाति पृथ्वी छोड़कर स्वर्ग-लोक को चले गये। इस तरह चार राजवंशों में उत्पन्न उन राजाओं ने स्वर्ग से भ्रष्ट नाना को अपने पुण्य के बल से फिर स्वर्ग पहुंचा दिया ॥१५।१८॥

उद्योगपर्व का एक सौ बाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२२ ॥

अथ त्रयोविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

नारद उवाच—सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः ।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान्ययातिर्दिवमास्थितः ॥ १ ॥
अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना ।
परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥
अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम् ।
कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ॥ ३ ॥
उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४ ॥
अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः ।
अर्चितश्चोत्तमार्घेण दैवतैरभिनन्दितः ॥ ५ ॥
प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः ।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ॥ ६ ॥

एक सौ तेईस अध्याय ॥ १२३ ॥

नारदजी कहते हैं—सरल स्वभाववाले यज्ञकर्ता अपने दौहित्रों के पुण्य-बल से महामति ययाति फिर स्वर्ग को गये ॥१॥ उस समय उनके शरीर में परम पवित्र सुगन्धित वायु लगने लगी और उनके मस्तक पर फूलों की वर्षा होने लगी। ॥२॥ दौहित्रों के पुण्य-फल से प्राप्त अचल अक्षय स्थान में स्थित होकर वे उज्ज्वल श्रेष्ठ कान्ति से शोभित हुए ॥३॥ गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड के झुण्ड उनके आगे नाचने-गाने लगे। चारों ओर देवताओं के नगाड़े बजने लगे ॥४॥ देवर्षि, राजर्षि और चारण उनकी स्तुति और पूजा करने लगे। देवताओं ने उनका अभिनन्दन किया ॥५॥ महाराज ययाति को स्वर्ग में पहुंचकर जब शान्ति मिल गई तब लोक-पितामह भगवान् ब्रह्मा उन्हें समझाते हुए कहने

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा ।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाऽक्षया दिवि ॥ ७ ॥
पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम् ।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ॥ ८ ॥
येन त्वां नाऽभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः।
प्रीत्यैव चाऽसि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहाऽऽगतः ॥ ९ ॥
स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम् ।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ॥ १० ॥
ययातिरुवाच—भगवन्संशयो मेऽस्ति कश्चित्तं छेत्तुमर्हसि ।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ॥ ११ ॥
बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत्फलम् ॥ १२ ॥
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनाऽस्मि पातितः ।
भगवन्वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान्मम निर्मितान् ।
कथं नु मम तत्सर्वं विप्रनष्टं महाद्युते ॥ १३ ॥
पितामहउवाच—बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत्त्वयोपार्जितं फलम् ॥ १४ ॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनाऽसि पातितः ।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ॥ १५ ॥

हो—हे राजेन्द्र ! तुमने अपने अलौकिक कर्मों के सम्पूर्ण धर्म का उपार्जन करके इस लोक मे सबसे श्रेष्ठता और विजय प्राप्त की थी । स्वर्ग में भी तुम्हें अक्षय यश प्राप्त हुआ था, किन्तु तुम्हारे ही कर्म के दोष से वह सब नष्ट हो गया । स्वर्गवासियों का ज्ञान तमोगुण से ढका होने के कारण वे तुम्हें पहचान नहीं सके। इसी कारण तुम्हें स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पृथ्वी पर जाना पड़ा । अब तुम फिर अपने दौहित्रों की प्रसन्नता और पुण्य के फल से परम पवित्र अनादि अविनाशी स्थान में आ गये हो । यह स्थान तुम अपने कर्मों से ही जीत चुके थे ॥८।१०॥ ययाति ने कहा—हे भगवन् ! मुझे एक बड़ा भारी संशय है, कृपा करके उसे दूर कर दीजिए । आपके सिवा और किसी से वह बात पूछने को मेरा जी नहीं चाहता । हे पितामह ! मैंने कई हजार वर्ष तक प्रजापालन, यज्ञ, दान आदि करके जो महापुण्य प्राप्त किया था उसका फल इतने थोड़े समय में कैसे समाप्त हो गया ? जो वह पुण्य क्षीण न होता तो मुझे स्वर्ग से क्यों नीचे गिरना पड़ता ? हे ब्रह्मन् ! आपसे छिपा नहीं है कि मैंने धर्म करके अक्षय सनातन लोक प्राप्त किये थे । वे लोक छोड़कर मुझको पृथ्वी पर क्यों जाना पड़ा ? ॥११।१३॥ ब्रह्माजी ने कहा—हे ययाति ! तुमने कई हजार वर्ष तक प्रजा पालन, यज्ञ और दान करके जो पुण्य प्राप्त किया था, वह

नाऽयं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया ।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ॥ १६ ॥
नाऽवमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।
नहि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ॥ १७ ॥
पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ॥ १८ ॥
नारद उवाच—एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बन्धताऽतिमात्रं च गालवेन महीपते ॥ १९ ॥
श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः ॥ २० ॥
तस्मात्त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
सन्धत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ॥ २१ ॥
ददाति यत्पार्थिव यत्करोति यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चाऽपकर्षो नाऽन्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ॥ २२ ॥
इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२३॥

तुम्हारे अभिमान के कारण नष्ट हो गया। इसी कारण तुम्हें स्वर्ग से भ्रष्ट होना पड़ा। जो पुरुष अभिमान, बल, हिंसा का भाव, शठता या कपट प्रकट करता है वह इस अनादि लोक में नहीं ठहर सकता। अपने से उत्तम, समान या निकृष्ट, किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। अभिमान की अग्नि में जले हुए लोग कभी शान्ति नहीं पा सकते। हे ययाति! जो कोई तुम्हारे इस स्वर्ग से पतन और फिर स्वर्गारोहण का वृत्तान्त सुनेगा, वह महासङ्कट में पड़कर भी उससे सहज ही छुटकारा पा जायगा ॥१४।१८॥ नारदजी कहते हैं—पहले महाराज ययाति अभिमान के कारण और गालव ऋषि हठ के कारण इस तरह महाविपत्ति में पड़ चुके हैं। इसलिए हे दुर्योधन! तुम्हें अपने हित चाहनेवाले इष्ट-मित्रों की बातों पर ध्यान देना चाहिए। यही तुम्हारा कर्तव्य है। किसी बात के लिए अत्यन्त हठ करना सर्वथा अनुचित है ॥१९।२०॥ मनुष्य दान, तप या होम आदि जो पुण्य-कार्य करता है उनका क्षय या सम्पूर्ण विनाश नहीं हो जाता। जो व्यक्ति धर्म करता है वही उसका परिणाम भोगता है। जो पुरुष यह बहुत से शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न; रागरोष-रहित सज्जनों के शास्त्र-निश्चय से युक्त, उपाख्यान सुनता है और युक्ति के साथ धर्म-अर्थ-काम के कार्य करता है, वह सहज ही सारी पृथ्वी का राज्य पा सकता है ॥२१।२३॥

उद्योगपर्व का एक सौ तेईस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—भगवन्नेवमेवैतद्यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाऽहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव ॥ २ ॥
न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ॥ ३ ॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।
न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥ ४ ॥
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः ।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ॥ ५ ॥
स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम् ।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ॥ ६ ॥
सुहृत्कार्यं तु सुमहत्कृतं ते स्याज्जनार्दन ।
ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ।
दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥ ८ ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ।
महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत्कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

एक सौ चौबीस अध्याय ॥ १२४ ॥

[नारदजी के यों कह चुकने पर] धृतराष्ट्र ने कहा—हे देवर्षिश्रेष्ठ । आपका कहना बहुत ठीक ही है । मेरी भी यही इच्छा है; किन्तु इच्छा रहने पर भी उसके अनुसार कार्य करना मेरी शक्ति के बाहर है ॥१॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण से कहा—हे केशव ! तुम्हारे ये वचन लोकहितकारी, स्वर्गदायक, धर्मसङ्गत और न्यायपूर्ण हैं; किन्तु हे तात ! मैं स्वाधीन नहीं हूँ । दुर्बुद्धि दुर्योधन मेरा कहा नहीं मानता, मेरा प्रिय नहीं करता । इसलिए तुम्हीं इसको समझाओ । महामति विदुर, गान्धारी, भीष्म पितामह या अन्य शुभचिन्तकों के प्रिय वचन यह पापी नहीं सुनता ॥२।५॥ इसलिए हे जनार्दन ! तुम्हीं इस पापबुद्धि अज्ञानी दुर्योधन का शासन करो । जो तुम इसे राह पर लगा सकोगे तो बन्धुओं के योग्य बड़ा भारी कार्य करोगे ॥६।७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब धर्म-अर्थ के तत्त्वों को जाननेवाले श्रीकृष्ण क्रोधी दुर्योधन की ओर फिरकर मृदु मधुर स्वर से कहने लगे—हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम युद्ध के लिए हठ कर रहे हो, यह श्रेष्ठ नहीं है । मैं तुम्हारे हित और शान्ति के लिए जो कुछ कहता हूँ उसे मन लगाकर सुनो । हे भारतश्रेष्ठ ! तुम बड़े श्रेष्ठ वंश में उत्पन्न हुए हो

श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ।
दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥ १० ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ।
धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन्प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥ ११ ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ ।
विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥ १२ ॥
अधर्मश्चाऽनुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान् ।
अनिष्टश्चाऽनिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥ १३ ॥
तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि ।
भ्रातॄणामथ भृत्यानां मित्राणां च परन्तप ॥ १४ ॥
अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे ।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥ १५ ॥
सन्धत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः ।
कृपस्य सोमदत्तस्य वाह्लीकस्य च धीमतः ॥ १७ ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य सञ्जयस्य विविंशतेः ।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्टं मित्राणां च परन्तप ॥ १८ ॥

जिसमें बुद्धिमान् पुरुष ही होते आये हैं ॥८।९॥ स्वयं तुम भी शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न, सदाचारी और ऐश्वर्य आदि गुणों से भूपित हो। इसलिए मेरा कहना मानकर पाण्डवों से अच्छा व्यवहार करो। हे भाई! तुम जिसको कर्तव्य समझ रहे हो उसका अनुमोदन सिवा नीच कुल में उत्पन्न, दुरात्मा, नराधम, निर्लज्ज लोगों के और कोई नहीं करेगा ॥१०॥ यह युद्ध का हठ ऐसे ही लोगों के योग्य कार्य है। इस संसार में सज्जनों की प्रवृत्ति धर्म और अर्थ के कामों में ही पाई जाती है ॥११॥ इसके विपरीत दुर्जनों का चरित्र प्रायः अधर्म और अनर्थ से परिपूर्ण होता है। इस समय तुम्हारी बुद्धि में भी वही विपरीत भाव देख पड़ता है ॥१२॥ किन्तु ऐसी बुरी प्रवृत्ति अत्यन्त भय का कारण, अधर्म-सङ्गत और बड़ा अनिष्ट उत्पन्न करनेवाली है। ऐसे कामों या विचारों से मनुष्य के प्राण तक चले जाते हैं। तुम्हारी ऐसी अनर्थमयी प्रवृत्ति का कोई विशेष कारण भी नहीं देख पड़ता ॥१३॥ विशेषकर युद्ध में विजय ही प्राप्त कर लेना तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। हे महाबाहु! जो यह अनर्थ का विचार छोड़ दोगे तो तुम अपना ही कल्याण करोगे। साथ ही अपने भाइयों, भृत्यों और मित्रों का भी कल्याण करोगे ॥१४॥ इसलिए अधर्म और अयश के कारणरूप इस विचार को छोड़ दो। पाण्डवों में असीम शूरता, उत्साह, बुद्धि, ज्ञान और धैर्य है ॥१५॥ इसलिए उनसे संधि करलो। संधि करने से राज्य-वृद्धि आदि तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी ॥१६॥ बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, वाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण

शमे शर्म भवेत्तात सर्वस्य जगतस्तथा ।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥
एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत ।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥ २० ॥
रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह सङ्गमः ।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥ २१ ॥
श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते ।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥ २२ ॥
यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते ।
स दीर्घसूत्री हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ २३ ॥
यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक्तदेवाऽभिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥ २४ ॥
योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ २५ ॥
सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते ।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो न चिरादिव ॥ २६ ॥

सञ्जय, विविंशति आदि जातिवालों, भाइयों और मित्रों का हित और प्रिय होगा ॥१७।१८॥ तुम कौरवों और पाण्डवों में सन्धि हो जाने से सारे जगत् को कल्याण और शान्ति प्राप्त होगी। हे भरतश्रेष्ठ! तुम श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, श्रीमान्, शास्त्र-ज्ञानसम्पन्न और दयालु हो। इसलिए माता और पिता की आज्ञा मानो ॥१९॥ सपूत का यही लक्षण है कि वह पिता की आज्ञा को अपने लिए परम कल्याण का कारण समझता है। यदि न मानोगे तो आपत्ति के समय तुम्हें पिता के कहे हुए वाक्य स्मरण आवेंगे ॥२०॥ तुम्हारे पिता यही चाहते हैं कि इस समय पाण्डवों से सन्धि कर ली जाय। इसलिए मन्त्रियों सहित तुमको भी यही बात मान लेनी चाहिए ॥२१॥ जो मनुष्य हितचिन्तक सुहृदों की बात नहीं मानता वह अपने कर्म का फल उपस्थित होने पर अन्त को बहुत कष्ट पाता है। वह उसका हठ, खाये हुए महाकाल के फल की तरह, उस समय उसके हृदय को जलाता है ॥२२॥ जो व्यक्ति मोहवश होकर प्रियजन के वचनों को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखता वह दीर्घसूत्री अर्थात् काम में बहुत देर लगानेवाला अर्थ से हीन होकर, कार्य सिद्ध न होने पर, पश्चात्ताप करता है ॥२३॥ जो बुद्धिमान् पुरुष अपने मत को छोड़कर हितचिन्तकों के हितकारी वचनों को मानता और उनके अनुसार कार्य करता है, वह इस लोक में परम ऐश्वर्य भोगकर सुखी होता है ॥२४॥ जो पुरुष अपने प्रतिकूल समझकर मित्रों की बात का अनादर करता है, और दुष्टों के वचनों पर—जो कि उसके प्रतिकूल और अनर्थ की जड़ होते हैं—श्रद्धा दिखाता है, वह अपने शत्रुओं के हाथ में पड़कर घोर कष्ट पाता है ॥२५॥ तात्पर्य यह है कि

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य यो निहीनान्निषेवते ।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥ २७ ॥
योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् ।
परान्वृणीते स्वान्द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ २८ ॥
स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि ।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥ २९ ॥
को हि शक्रसमाञ्ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान् ।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत्त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ ३० ॥
जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥
मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः ।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥ ३२ ॥
त्वयाऽपि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ॥ ३३ ॥
त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ॥ ३४ ॥

अभागा मनुष्य सच्चरित्र मित्रों के पवित्र उपदेश को न मानकर दुर्जनों के मत पर चलता है और अन्त को विपत्ति में पड़कर अपने मित्रों को शोक से व्याकुल बनाता है ॥२६॥ वैसे ही जो बुद्धिहीन मूढ़ राजा श्रेष्ठ गुणी मन्त्रियों को छोड़कर दुष्ट शठ मन्त्रियों का आदर करता है वह अवश्य विपत्ति के समुद्र में गिरता है और कभी उससे उबर नहीं सकता ॥२७॥ हे दुर्योधन ! जो राजा कपटी और पर-सन्ताप या ईर्ष्या के भाव से कलुषित होता है, तथा जो अच्छे स्वभाववाले मित्रों और आत्मीयों के हितकारी वचन न मानकर सच्चे हितैषी आत्मीय स्वजनों से द्रोह और औरों का सम्मान करता है उसे सज्जनों के वश में रहनेवाली पृथ्वी त्याग देती है ॥२८॥ हे भरतश्रेष्ठ ! तुम उन सिंह-सदृश वीर पुरुष पाण्डवों से विरोध करके अशिष्ट, असमर्थ, मूढ़ पुरुषों को अपनाते और उनका आश्रय लेते हो ॥२९॥ इस जगत् में तुम्हारे सिवा और कौन ऐसा होगा जो इन्द्रतुल्य महारथी भाइयों से वैर रखकर औरों का आश्रय ढूँढ़ेगा या औरों से अपनी रक्षा का भरोसा करेगा ? ॥३०॥ तुम जन्म से ही पाण्डवों को क्लेश देते आ रहे हो; किन्तु धर्मात्मा पाण्डवों ने इतने पर भी कभी तुम पर क्रोध नहीं किया ॥३१॥ इसलिए हे महाबाहु ! जन्म से तुम्हारे किये हुए कपट के व्यवहार का खयाल न करके श्रेष्ठ यशस्वी और तुम्हारे आत्मीय पाण्डव जैसे तुमसे अच्छा व्यवहार करते आ रहे हैं, वैसे ही तुम भी क्रोध छोड़कर इस समय उनके साथ अच्छा व्यवहार करो ॥३२।३३॥ हे कुरुकुल-तिलक ! प्राज्ञ और बुद्धिमान् पुरुष प्रायः धर्म, अर्थ और काम से युक्त कार्य ही किया करते हैं। एक साथ इन तीनों का सम्पादन असम्भव होने पर वे

पृथक्च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुद्ध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवाऽनुरुद्ध्यते ॥ ३५ ॥
इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद्धर्मं विप्रजहाति यः ।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ॥ ३६ ॥
कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवाऽऽदितश्चरेत् ।
नहि धर्मादपैत्यर्थः कामो वाऽपि कदाचन ॥ ३७ ॥
उपायं धर्ममेवाऽऽहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते ।
लिप्समानो हि तेनाऽऽशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥ ३८ ॥
स त्वं ताताऽनुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ ।
आधिराज्यं महद्दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ ३९ ॥
आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन्प्रवर्तते ।
न तस्य हि मतिं छिन्द्याद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ ४० ॥
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः ।
आत्मवान्नाऽवमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ४१ ॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित्किमु तान्पाण्डवर्षभान् ।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुद्ध्यते जनः ॥ ४२ ॥

केवल धर्म और अर्थ का ही अनुसरण किया करते हैं ॥३४॥ धर्म, अर्थ और काम में से एक-एक को अलग-अलग प्राप्त करना हो तो उत्तम स्वभाववाले बुद्धिमान् लोग धर्म का ही पालन करते हैं। मध्यम प्रकृति के लोग कलह की जड़ जो अर्थ है उसी को प्रधान समझते और उसी को पाने का ही यत्न किया करते हैं ॥३५॥ नीच प्रकृति के अधम मूढ पुरुष केवल काम की ही आराधना करते है जो इन्द्रियों के अधीन मूढ पुरुष लोभ के वश होकर, धर्म को छोड़कर, निन्दित उपाय से अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता है, वह विनष्ट हो जाता है ॥३६॥ अर्थ और काम कभी धर्म के विरोधी नहीं हो सकते, अर्थात् धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो उसे पहले धर्म करना चाहिए ॥३७॥ पण्डितों ने धर्म को ही त्रिवर्ग की प्राप्ति का उपाय कहा है। बुद्धिमान् पुरुष धर्म का आश्रय लेकर त्रिवर्ग प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और वे सूखी घास के ढेर में लगी अग्नि की तरह दिन-दिन बढ़ते जाते हैं ॥३८॥ हे भाई! तुम केवल दुष्ट उपायों से सब राजाओं में सुप्रसिद्ध, असीम समृद्धि से सम्पन्न, विशाल साम्राज्य प्राप्त करने की इच्छा करते हो ॥३९॥ हे राजेन्द्र! जो मनुष्य सदाचारी सरल पुरुषों से कपट का व्यवहार करता है, वह अपने पाँव में आप ही कुल्हाडी मारता है और कुल्हाडी से जैसे जङ्गल कट जाता है वैसे ही उसके काम से उसकी जड कट जाती है ॥४०॥ जिसकी हानि न चाहे उसे बुरी सम्मति न दे। जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह कभी कल्याण-कारी काम में प्रवृत्त नहीं होता ॥४१॥ हे दुर्योधन!

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ।
श्रेयस्ते दुर्जनात्तात पाण्डवैः सह सङ्गतम् ॥ ४३ ॥
तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान्कामानवाप्स्यसि ।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ॥ ४४ ॥
पाण्डवान्पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः ।
दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ॥ ४५ ॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।
न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ॥ ४६ ॥
विक्रमे चाऽप्यपर्याप्ताः पाण्डवान्प्रति भारत ।
न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥ ४७ ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।
इदं सन्निहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥ ४८ ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चाऽयं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥ ४९ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनञ्जयम् ।
अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ५० ॥
दृश्यतां वा पुमान्कश्चित्समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद्गृहान् ॥ ५१ ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय और अपना कल्याण चाहनेवाला है वह—वीर पाण्डवों की कौन कहे—अत्यन्त साधारण मनुष्यों का भी अनादर नहीं करता ॥४२॥ क्रोध के वश होनेवाले पुरुष को हित अहित के विवेक का ज्ञान नहीं रह जाता । लोक और वेद के प्रसिद्ध प्रमाण भी उसे तुच्छ से जान पड़ते हैं ॥४३॥ हे भाई ! इस समय असत् पुरुषों का साथ छोड़कर पाण्डवों से सन्धि कर लेना ही तुम्हारे लिए सर्वथा कल्याण की बात है । पाण्डव जो तुम्हारा प्रिय करने के लिए तैयार हो जायँगे तो तुम अपनी सब आकांक्षाओं को सहज ही पूर्ण कर लोगे । ॥४४॥ हे नृपश्रेष्ठ ! सोचकर देखो, तुम जिन पाण्डवों के बाहु-बल से जीते हुए साम्राज्य का भोग कर रहे हो उन्हीं को वञ्चित करके अन्य पुरुषों से अपनी रक्षा की आशा कर रहे हो । दुष्टमति दुःशासन, कर्ण और शकुनि आदि कुमन्त्रियों को साम्राज्य का भार सौंपकर कल्याण प्राप्त करना चाहते हो, यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है ॥४५।४६॥ ये तुम्हारे मन्त्री ज्ञान, धर्म, अर्थ, पराक्रम आदि किसी बात में पाण्डवों के समान नहीं हैं । अधिक क्या कहें, तुम्हारी ओर से युद्ध करने के लिए एकत्र हुए ये राजा लोग युद्ध के समय क्रोधित भीमसेन के भयानक मुख की ओर देख तक भी नहीं सकते हैं । यह सत्य है कि ये सेनासहित राजा और भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जितं जितं तत्स्यात्पुमानेकः स दृश्यताम् ॥ ५२ ॥
यः सदेवान्सगन्धर्वान्सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत्खाण्डवप्रस्थे कस्तं युद्ध्येत मानवः ॥ ५३ ॥
तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥
युद्धे येन महादेवः साक्षात्सन्तोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥ ५५ ॥
मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात्पुरन्दरः ॥ ५६ ॥
बाहुभ्यामुद्वहेद्भूमिं दहेत्क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत्त्रिदिवाद्देवान्योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ५७ ॥
पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन्सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ ५८ ॥

आदि प्रधान-प्रधान वीर योद्धा तुम्हारे सहायक हैं; किन्तु इनमें से कोई भी युद्ध में अर्जुन का सामना नहीं कर सकेगा। ये ही क्यों, सब देवता, दानव, गन्धर्व आदि त्रिभुवन के निवासी भी अर्जुन को परास्त नहीं कर सकते। इसलिए हे भाई! तुम संग्राम के लिए हठ न करो ॥४७।५०॥ विचार करके देखो, इन एकत्र हुए योद्धाओं में कौन मनुष्य युद्ध-भूमि में अर्जुन के सामने पड़कर सकुशल जीता-जागता अपने घर को लौट सकता है? इसलिए पहले उस वीर पुरुष को देखकर ठीक कर लो, जिसके विजय प्राप्त करने से तुम विजयी हो सकते हो। व्यर्थ मनुष्यों का विनाश करने से क्या लाभ है? ॥५१।५२॥ खाण्डव वन को जलाते समय यक्ष, गन्धर्व, असुर, नाग आदि सहित सब देवताओं को हरानेवाले, असाधारण वीर और पराक्रमी अर्जुन से तुम्हारे पक्ष का कौन वीर युद्ध कर सकता है? ॥५३॥ विराट नगरी में जो अद्भुत युद्ध-घटना हुई थी, उसी से तुम यह निश्चय कर लो कि अकेले अर्जुन असंख्य मनुष्यों से युद्ध करके उन्हें परास्त कर सकते हैं या नहीं ॥५४॥ और मनुष्यों की बात जाने दो, स्वयं त्रिपुर-दहन महादेव भी अर्जुन के युद्ध-कौशल और पराक्रम से सन्तुष्ट हो चुके हैं। तुम उन्हीं अलौकिक योद्धा, शूरश्रेष्ठ, अजेय, दुर्धर्ष अर्जुन को जीतने की आशा करते हो यह तुम्हारी निरी दुराशा है ॥५५॥ जब मेरे साथ अर्जुन शत्रुओं से युद्ध करने को खड़े होंगे, तब कौन वीर उन्हें युद्ध के लिए ललकारने का साहस करेगा! तब मनुष्यों की कौन कहे, साक्षात् इन्द्र भी तो उनसे युद्ध नहीं कर सकेंगे ॥५६॥ जो मनुष्य युद्ध में अर्जुन को हरा सकता है वह, समझ लो कि, दोनों हाथों से पृथ्वीमण्डल को ऊपर उठा सकता है, क्रोधित होकर त्रिलोकी की प्रजा को भस्म कर सकता है, अथवा सब देवताओं को भी स्वर्ग से नीचे गिरा सकता है ॥५७॥ इसलिए हे भाई! अपने पुत्र, भाई, जातिवाले और अन्य सम्बन्धी स्वजन आदि को

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ ५९ ॥
त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ६० ॥
मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ६१ ॥
पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

और देखो। ये तुम्हारे कारण चौपट न हों, यही तुम्हारा कर्तव्य है। तुम वही करो जिसमें यह प्रतिष्ठित और विस्तृत कुरुवंश बिल्कुल परास्त और निःशेष न हो जाय और लोग कीर्तिहीन तथा कुल-घातक कहकर तुम्हारी निन्दा न करें। सन्धि हो जाने पर पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर तुम्हीं को युवराज बनावेंगे और धृतराष्ट्र महाराज बने रहेंगे। इस कारण गले लगने आ रही राजलक्ष्मी को विमुख मत करो। पाण्डवों को आधा राज्य देकर आप भी विशाल ऐश्वर्य प्राप्त करो। मेरी अन्तिम बात यही है कि हितैषियों की बात मानकर पाण्डवों से सन्धि कर लेने में ही तुम्हारे आत्मीय प्रसन्न होंगे और तुम्हारा कल्याण स्थिर होगा ॥५८।६२॥

उद्योगपर्व का एक सौ चौबीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२४ ॥

अथ पंचविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम् ।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥ १ ॥
कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता ।
अन्वपद्यस्व तत्तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २ ॥
अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः ।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

एक सौ पचीस अध्याय ॥ १२५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! वासुदेव के शांत होने पर पितामह भीष्म ने असहनशील दुर्योधन से कहा—हे बेटा! बन्धुओं के कल्याण की इच्छा से महात्मा श्रीकृष्ण ने जो आज्ञा दी है उसे मान लो। क्रोध के वश न होओ ॥१।२॥ महात्मा वासुदेव के इस श्रेष्ठ उपदेश को न मानने पर किसी तरह तुम्हारा निस्तार नहीं है। न मानोगे तो किसी तरह सच्चा सुख और कल्याण नहीं मिलेगा। श्रीकृष्ण ने जो कहा है वह धर्म और अर्थ के अनुकूल और यथार्थ अभीष्ट को सिद्ध करनेवाला है। इसलिए व्यर्थ प्रजा का नाश न करके हृदय से सन्धि का प्रस्ताव मान लो। महामनस्वी वासुदेव, प्रज्ञा-चक्षु धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर के सत्य और अर्थयुक्त वाक्यों का अनादर करने से बड़ा ही अनिष्ट

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः ।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन्नीनशः प्रजाः ॥ ४ ॥
ज्वलितां त्वामिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु ।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद्भ्रंशयिष्यसि ॥ ५ ॥
आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम् ।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद्भ्रंशयिष्यसि ॥ ६ ॥
अतिक्रामन्केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत् ।
पितुश्च भारतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः ।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ८ ॥
अथ द्रोणोऽब्रवीत्तत्र दुर्योधनमिदं वचः ।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ॥ ९ ॥
धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः ।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ॥ १० ॥
प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ११ ॥
अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः ।
माधवं बुद्धिमोहेन माऽवमंस्थाः परन्तप ॥ १२ ॥
ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित् ।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ॥ १३ ॥
मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान्भ्रातृंस्तथैव च ।

होगा। पिता के सामने ही तुम अपनी करतूत से इस असीम समृद्धिशालिनी भरतकुल की राजलक्ष्मी को नष्ट कर दोगे, और अभिमान से बावले होकर पुत्र, भाई, बन्धु, मित्र आदि का और अपना भी जीवन सङ्कट में डाल दोगे। इसलिए मैं बारम्बार मना करता हूं कि तुम कुलघाती, कायर, कुमति और कुपथगामी होकर माता-पिता को शोकसागर में मत डालो ॥३।८॥ भीष्म इतना कहकर शांत हो रहे। दुर्योधन क्रोध के मारे लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगा। तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा—भीष्म और वासुदेव, दोनों ही महाप्राज्ञ, मेधावी, दम-सम्पन्न और शास्त्र का बहुत ज्ञान प्राप्त किये हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनके वचन धर्म-अर्थ से सङ्गत होने के सिवा तुम्हारे लिए हितकारी हैं ॥९।११॥ तुम अनन्य भक्ति के साथ उन वचनों को ग्रहण करो। श्रीकृष्ण और भीष्म ने जो कहा है उसे निःसंदेह स्वीकार कर लो; बुद्धिभ्रम में पड़कर वासुदेव का अनादर मत करना ॥१२॥ कर्ण आदि जो दुर्बुद्धि पुरुष तुम्हें युद्ध के लिए उत्तेजित कर रहे हैं, वे कभी तुमको विजय नहीं दिला सकेंगे। युद्ध छि

वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्धयजेयानलं हि तान् ॥ १४ ॥
एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः ।
यदि नाऽऽदास्यसे तात पश्चात्तप्स्यसि भारत ॥ १५ ॥
यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः ।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः ॥ १६ ॥
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु ।
नहि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्ताऽपि विदुरोऽब्रवीत्।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ १८ ॥
दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ १९ ॥
यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा ।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाऽण्डजौ ॥ २० ॥
भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम् ।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ॥ २१ ॥
अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ २२ ॥

जाने पर वे औरों के ऊपर युद्ध का बोझ डालकर आप निश्चिन्त हो जायँगे ॥१३॥ इसलिए पुत्र, भाई आदि आत्मीयों और प्रजा का अनर्थक विनाश मत कराओ। तुम यह निश्चय जानो कि जिस सेना के रक्षक वासुदेव और अर्जुन हों उसे कभी कोई हरा नहीं सकता ॥१४॥ इस समय जो प्रधान हित-चिन्तक श्रीकृष्ण और भीष्म के वचनों को नहीं मानोगे तो तुम्हें पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥१५॥ महात्मा परशुरामजी ने अर्जुन के बारे में जो कहा है, अर्जुन उससे भी हज़ार गुणा श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है। देवता भी उनके प्रताप की आंच नहीं सह सकते ॥१६॥ अब और तुमसे प्रिय या हित की बात का प्रस्ताव करना सब निष्फल है। बन्धुओं को जैसा कहना चाहिए था वैसा कहा जा चुका। अब जैसी रुची हो, वैसा ही करो। मैं तुमसे अधिक कुछ कहना नहीं चाहता ॥१७॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब महामति विदुर ने क्रोधी दुर्योधन की ओर देख-कर कहा—हे भरतश्रेष्ठ! मैं तुम्हारे लिए कुछ शोक नहीं करता। मैं तो तुम्हारे इन बूढ़े पिता और माता के लिए शोक से विह्वल हो रहा हूँ। हाय! ये तुम्हारे ऐसे कुलाङ्गार, पापी, कुपुत्र को उत्पन्न करने के कारण, अन्त को हतमित्र, हतभाग्य और अनाथ होकर, भिक्षावृत्ति स्वीकार करके, कटे पङ्खवाले पक्षी की तरह, शोक से विह्वल होकर इधर-उधर भटकेंगे ॥१८।२१॥ इसके पश्चात् धृतराष्ट्र ने कहा—हे बेटा! महात्मा श्रीकृष्ण ने जो योगक्षेम-सम्पादक शुभ वचन कहे हैं उन्हें तुम सुनो और स्वीकार कर

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना ।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेममवद्व्ययम् ॥ २३ ॥
अनेन हि सहायेन कृष्णेनाऽक्लिष्टकर्मणा ।
इष्टान्सर्वानभिप्रायान्प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ २४ ॥
सुसंहृतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम् ।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ॥ २५ ॥
वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशयम् ।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनाऽतिगाः ॥ २६ ॥
शमं चेद्याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम् ।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवाऽस्त्यपराभवः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पंचविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२५॥

लो। ऐसा करोगे तो इन अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण की सहायता से हमारी सब कामनाएं पूर्ण होंगी; सब राजा तुम्हारे अधीन होकर तुम्हारा सम्मान करेंगे। इस समय तुम श्रीकृष्ण के साथ युधिष्ठिर के पास जाओ। भरतकुल के कल्याण के लिए पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित करो। हे बेटा! मेरी समझ में सन्धि करने का यही ठीक समय है। इस कारण इस समय को हाथ से जाने न दो। दयालु श्रीकृष्ण ने तुम्हारे कल्याण की इच्छा से शान्ति की प्रार्थना करते हुए ये बातें कही हैं। जो तुम न मानोगे तो युद्ध में अवश्य तुम्हारी हार होगी ॥२२।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ पच्चीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२५ ॥

अथ षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥
यावत्कृष्णावसन्नद्धौ यावत्तिष्ठति गाण्डिवम् ।
यावद्धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम् ॥ २ ॥
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः ।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ३ ॥

एक सौ छब्बीस अध्याय ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्र के कह चुकने पर समान रूप से व्यथित भीष्म और द्रोणाचार्य दुर्योधन से कहने लगे—हे दुर्योधन! अभी वासुदेव और अर्जुन ने युद्ध की तैयारी नहीं की है। अभी गाण्डीव धनुष पर डोरी नहीं चढ़ी है। अभी पुरोहित धौम्य ने शत्रु-सेना के विनाश के लिए हवन नहीं किया है ॥१।२॥ जब तक क्रोधित होकर युधिष्ठिर तुम्हारी सेना को नहीं देखते हैं उससे पहले-ही वैर को शान्त कर लो ॥३॥ अभी प्रचण्ड धनुषवाले गदा-पाणि भीमसेन

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः ।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ४ ॥
यावन्न चरते मार्गान्पृतनामभिधर्षयन् ।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत्संशाम्य पाण्डवैः ॥ ५ ॥
यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम् ।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः ॥ ६ ॥
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ७ ॥
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः ।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम् ॥ ८ ॥
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।
यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम् ।
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ९ ॥
चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च ।
नोरःसु यावद्योधानां महेष्वासैर्महेषवः ॥ १० ॥
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः ।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ११ ॥
अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः ।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः ।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ ॥ १३ ॥

तुम्हारे पक्ष के योद्धाओं के सामने नहीं आये हैं ॥४॥ अभी वे भीमसेन दण्ड-पाणि यमराज की तरह गदा हाथ में लिये तुम्हारी सेना के समुद्र को मथते हुए इधर-उधर नहीं विचरे हैं ॥५॥ अभी हाथियों पर चढ़कर युद्ध करनेवाले वीरों के मस्तक, पके हुए फलों के समान, भीमसेन की गदा की चोट से समरभूमि में नहीं गिरे हैं ॥६॥ अभी नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी, धृष्टकेतु आदि अस्त्रज्ञ वीर—महासागर में मगर की तरह—तुम्हारी सेना के भीतर नहीं घुसे हैं ॥७।८॥ अभी राजाओं के सुकुमार शरीर तीक्ष्ण बाणों से घायल नहीं हुए हैं ॥९॥ अभी फुरतीले महायोद्धा अस्त्रज्ञ वीरों ने चन्दन-चर्चित अगुरु-सुगन्धित हार-पदक आदि आभूषणों से अलंकृत वक्षस्थलों में लोहे के तीक्ष्ण हथियार नहीं मारे हैं ॥१०॥ आगे होनेवाला भयानक हत्या-काण्ड इसी समय रोक दो । तुम सिर झुकाकर राजाधिराज युधिष्ठिर को प्रणाम करो और वे दोनों हाथों से तुमको गले से लगा लें वे शान्ति के लिए ध्वजा-अंकुश-पताका आदि के चिह्नों से युक्त और रत्नौषधियुक्त तथा जड़ाऊ अंगूठियों से

रत्नौषधिसमेतेन रत्नाङ्गुलितलेन च ।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु ॥ १४ ॥
शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः ।
साम्नाऽभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ ॥ १५ ॥
अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः ।
मूर्ध्नि तान्समुपाघ्राय प्रेम्णाऽभिवद पार्थिव ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह सङ्गतम् ।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ॥ १७ ॥
घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम् ।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१२६॥

शोभित अपना दाहना हाथ तुम्हारे कन्धे पर रक्खें और पीठ पर फेरें ॥११।१४॥ साखू-सदृश कन्धोंवाले महाबाहु भीमसेन शान्ति के साथ तुमसे कुशल-प्रश्न करें और अर्जुन, नकुल, सहदेव तुमको प्रणाम करें। तुम स्नेह के साथ उनका मस्तक सूंघो और उनसे प्रेम से बोलो। ये सब राजा तुम्हें पाण्डवों से मिलते देखकर आनन्द [illegible] आंसू बहावें। सब राजधानी में कुशल-समाचार की घोषणा हो और तुम सन्ताप-रहित होकर भ्रातृस्नेह के साथ इस साम्राज्य के सुख भोगो ॥१५।१८॥

उद्योगपर्व का एक सौ छब्बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२६ ॥

अथ सप्तविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥
प्रसमीक्ष्य भवानेतद्वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥
भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन ।
भवान्गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ॥ ३ ॥
भवान्क्षत्ता [illegible] राजा वाऽप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नाऽन्यं कञ्चन पार्थिवम् ॥ ४ ॥

एक सौ सत्ताईस अध्याय ॥ १२७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कौरव-सभा के बीच अप्रिय वचन सुनकर राजा दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा—हे केशव! कुछ सोच-विचार कर तुमको ऐसी बातें कहनी चाहिए थीं। तुम पाण्डवों का पक्ष लेकर निरर्थक मेरी निन्दा करते हो ॥१।२॥ किन्तु मैं पूछता हूं कि तुम क्या बलाबल का विचार करके मेरी निन्दा कर रहे हो? न केवल तुम्हीं प्रत्युत विदुर, महाराज, आचार्य और पितामह भी मेरी

न चाऽहं लक्षये कञ्चिद्व्यभिचारमिहाऽऽत्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ५ ॥
न चाऽहं कञ्चिदत्यर्थमपराधमरिन्दम ।
विचिन्तयन्प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥ ६ ॥
प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥ ७ ॥
यत्पुनर्द्रविणं किञ्चित्तत्राऽजीयन्त पाण्डवाः ।
तेभ्य एवाऽभ्यनुज्ञातं तत्तदा मधुसूदन ॥ ८ ॥
अपराधो न चाऽस्माकं यत्ते ह्यक्षैः पराजिताः ।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ॥ ९ ॥
केन वाऽप्यपवादेन विरुध्यन्त्यरिभिः सह ।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ॥ १० ॥
किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन्वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्राञ्जिघांसन्ति पाण्डवाः सृञ्जयैः सह ॥ ११ ॥
न चाऽपि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा ।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ॥ १२ ॥
न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम् ।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हणम् ॥ १३ ॥
नहि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन ।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥ १४ ॥
स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे ।

निन्दा किया करते हैं ॥३।४॥ परन्तु मैं बहुत सोचकर भी अपना किञ्चित् भर अपराध नहीं देखता। तो भी तुम सब लोग मुझे भला-बुरा कहते हो ॥५॥ युधिष्ठिर में जूआ खेलने का व्यसन था। शकुनि ने उनको खेल में जीत लिया तो उसमें मेरा क्या दोष? बल्कि मैंने उस समय उनकी जीती हुई सब सम्पत्ति फेर देने की आज्ञा दी थी। हे मधुसूदन! पाण्डव फिर जुए में सब हारकर वन जाने के लिए बाध्य हुए, तो उसमें ही मेरा क्या दोष है? वे किस कारण हमें शत्रु समझकर स्वयं अत्यन्त असमर्थ होकर भी हमसे वैर ठानते हैं और युद्ध करने को उद्यत हैं? ॥६।१०॥ हमने उन लोगों का क्या अपराध किया है? वे हमारे किस अपराध से पाञ्चालों के साथ मिलकर हमारे अनिष्ट की चेष्टा कर रहे हैं? हम लोग युद्ध या धमकी से भयभीत होकर इन्द्र के आगे भी नहीं झुक सकते ॥११।१२॥ हे कृष्णचन्द्र! युद्ध में हमको हराने की शक्ति रखनेवाला कोई क्षत्रिय पृथ्वी पर नहीं देख पड़ता। पाण्डवों की कौन कहे, देवता भी युद्ध में भीष्म, द्रोण और कर्ण को मार नहीं सकते ॥१३।१४॥ हे केशव! अपना धर्म पालते

अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ॥ १५ ॥
मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन ।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥ १६ ॥
ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे ।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ॥ १७ ॥
कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन् ।
भयाद्वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥ १८ ॥
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥ १९ ॥
इति मातङ्गवचनं परीप्स्यन्ति हितेप्सवः ।
धर्माय चैव प्रणमेद्‍ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥ २० ॥
अचिन्तयन्कञ्चिदन्यं यावज्जीवं तथाऽऽचरेत् ।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥ २१ ॥
राज्यांशश्चाऽभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराऽभवत् ।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥ २२ ॥
यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन ।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाऽप्युपजीवाम माधव ।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ॥ २३ ॥
अज्ञानाद्वा भयाद्वापि मयि बाले जनार्दन ।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ॥ २४ ॥

हुए यथासमय युद्ध में मरने से भी हमें स्वर्ग प्राप्त होगा ॥१५॥ युद्ध-भूमि में शर-शय्या पर सोना ही क्षत्रियों का प्रधान धर्म है। हम शत्रुओं के सामने न झुककर यदि युद्ध के मैदान में शरशय्या पर सदा के लिए सो रहेंगे तो भी हमें कुछ चिन्ता नहीं ॥१६।१७॥ वीर वंश में उत्पन्न क्षत्रिय जाति का कौन पुरुष, भय के मारे, शत्रु के आगे सिर झुका सकता है? ॥१८॥ मातङ्ग मुनि का मत है कि उद्यम को ही पौरुष कहते हैं। इसलिए सदा उद्यम का सहारा लेना चाहिए, दबना अनुचित है ॥१९॥ बीच से टूट जाना अच्छा झुकना उचित नहीं। हित और मान चाहनेवाले लोग मातङ्ग मुनि के इस उपदेश पर ही चलते हैं। मुझ सरीखे लोग भक्तिवश केवल ब्राह्मणों के ही आगे सिर झुकाते हैं और अन्य सारी चिन्ताएं छोड़कर ऐसा ही व्यवहार करते हैं। यही क्षत्रिय का धर्म है। मुझे यही पसन्द है ॥२०।२१॥ मेरे पिता ने पहले जो पाण्डवों को राज्य का अंश देने की अनुमति दी थी, वह मेरे जीते जी पूरी नहीं होगी ॥२२॥ हे जनार्दन! धृतराष्ट्र जब तक जीते हैं तब तक हम लोग या पाण्डव कोई राजा नहीं हो सकता; इनके पीछे निबट लेंगे ॥२३॥ हे केशव! मैं जब बालक और पराधीन था, तब चाहे अज्ञान से हो चाहे भय

म्रियमाणे महाबाहो मयि सम्प्रति केशव ।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्ध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

से, मेरा अदेय राज्य पाण्डवों को दे दिया गया था ॥२४॥ इस समय मेरे जीते जी पाण्डव उसको नहीं पा सकते। यहां तक कि सुई की नोक भर भी पृथ्वी मैं, युद्ध के बिना, पाण्डवों को नहीं दे सकूंगा ॥२५॥

उद्योगपर्व का एक सौ सत्ताईस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२७ ॥

अथ अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः प्रहस्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत्कुरुसंसदि ॥ १ ॥
लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि ।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान् ॥ २ ॥
यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद्व्यतिक्रमः ।
पाण्डवेष्विति तत्सर्वं निबोधत नराधिपाः ॥ ३ ॥
श्रिया सन्तप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम् ।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत ॥ ४ ॥
कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः ।
अथाऽन्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाऽजिह्मचारिणः ॥ ५ ॥
अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम् ।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च ॥ ६ ॥
तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम् ।

एक सौ अट्ठाईस अध्याय ॥ १२८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुर्योधन के यों कह चुकने पर महात्मा श्रीकृष्ण ने क्रोध से नेत्र लाल करके मुसकुराकर कहा—हे दुर्योधन ! धैर्य धरो, बहुत शीघ्र घोर संग्राम होगा। तुम भाइयों और मन्त्रियों के साथ युद्ध-भूमि में वीर-शय्या पर सोओगे ॥१।२॥ हे मूढ़ ! तुम समझते हो कि पाण्डवों से तुमने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया। अच्छा, इस बारे में सभा के लोग ही विचार करके देखें। ॥३॥ यह कौन नहीं जानता कि तुम वीर पाण्डवों के असीम ऐश्वर्य को देखकर जल उठे और फिर शकुनि के साथ षड्यन्त्र करके कपट-द्यूत रचकर तुम्हीं ने पाण्डवों को खेलने के लिए बुलाया ? ॥४॥ सरलस्वभाव तुम्हारे श्रेष्ठ सजातीय और आत्मीय भी तुम्हारे अन्यायपूर्ण कपट-व्यवहार को देखते रहे ॥५॥ शास्त्र में लिखा है कि पांसों के खेल में मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, भेदभाव बढ़ता है और उससे दुष्टों को विपत्ति का सामना करना पड़ता है ॥६॥ तुमने यह सब जानकर भी दुष्टों की सम्मति से कपट

असमीक्ष्य सदाचारैः सार्धं पापानुबन्धनैः ॥ ७ ॥
कश्चाऽन्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथाऽर्हति ।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया ॥ ८ ॥
कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया ॥ ९ ॥
जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि ।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परन्तपाः ॥ १० ॥
सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु ।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम् ॥ ११ ॥
नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम् ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम् ॥ १२ ॥
सह मात्रा प्रदग्धुं तान्बालकान्वारणावते ।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत्तव ॥ १३ ॥
ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ १४ ॥
विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया ।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत्तव ॥ १५ ॥
एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नाऽपराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १६ ॥

के पांसों का खेल रचकर यह घोर अनर्थ खड़ा कर दिया है। कुल और शील में श्रेष्ठ, पाण्डवों को प्राण से भी प्यारी, रानी द्रौपदी को तुमने भरी सभा में बुलवाकर कटु, असह्य वचन कहकर उनका जैसा अपमान किया है वैसा अपनी भाभी का अपमान और कौन करेगा? पाण्डवों के वन जाते समय दुःशासन ने जो बातें कही थीं उन्हें किस कुरुवंशी ने नहीं सुना? ॥७।१०॥ तुमने पाण्डवों के साथ जैसा अनुचित व्यवहार किया है वैसा व्यवहार अपने भाइयों के साथ और कौन करेगा? ॥११॥ हे दुर्योधन! तुमने, कर्ण और दुःशासन ने नृशंस अनार्य पुरुषों की तरह बारम्बार पाण्डवों के लिए, उनके सामने, कटु वचन कहे हैं ॥१२॥ देखो, तुमने बालकपन में पाण्डवों को उनकी माता कुन्ती के साथ जला डालने का यत्न किया था; परन्तु पाण्डवों के सौभाग्य से तुम्हारा मनोरथ सफल नहीं हुआ ॥१३॥ पाण्डव उस विपत्ति से छुटकारा पाकर अपनी माता के साथ एकचक्रा नगरी में बहुत दिनों तक ब्राह्मण के घर छद्मवेष से रहे ॥१४॥ तुमने विष, सर्प आदि अनेक उपायों से पाण्डवों को मार डालने की चेष्टा की, किन्तु कृतकार्य नहीं हो सके ॥१५॥ तुमने इस तरह बारम्बार पाण्डवों के अनिष्ट की चेष्टा की है। फिर तुम्हारा यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि तुमने पाण्डवों का कोई अपराध नहीं किया? ॥१६॥ पाण्डवों के प्रार्थना

यच्चेभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तत्र पाप प्रदाताऽसि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १७ ॥
कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥ १८ ॥
मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १९ ॥
शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन्किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ २० ॥
न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत्कुरुसंसदि ॥ २२ ॥
न चेत्सन्धास्यसे राजन्स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥ २३ ॥
वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान्मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥ २४ ॥
भ्रातुरेतद्वचः श्रुत्वा धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥ २५ ॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम् ।

करने पर भी तुम उन्हें उनका पैतृक अंश, आधा राज्य, नहीं देते हो। किन्तु तुम्हें शीघ्र ही ऐश्वर्यहीन और जीवनरहित होकर सारा राज्य उन्हें दे देना पड़ेगा ॥१७॥ कैसे आश्चर्य की बात है कि सदा नराधम और नीच की तरह, तरह-तरह से, पाण्डवों के अनिष्ट की चेष्टा करके भी तुम इस समय अपने को निर्दोष सिद्ध कर रहे हो। तुम्हारे पिता, माता भीष्म, द्रोण और विदुर तुमसे बारम्बार शान्ति के लिए कह रहे हैं, पर तुम नहीं मानते ॥१८।१९॥ हे दुर्योधन! इस समय सन्धि होने से दोनों पक्षों का लाभ है। किन्तु तुम उस पर भी प्रसन्न नहीं होते इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है! ॥२०॥ तुम हितैषियों के वाक्य न मानकर धर्म और यश को मिटानेवाला कार्य करना चाहते हो। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि तुम्हारा कल्याण न होगा॥२१॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण के यों कहने पर दुःशासन ने असहनशील दुर्योधन से कहा—हे राजेन्द्र! जो आप प्रसन्नता-पूर्वक पाण्डवों के साथ सन्धि नहीं करेंगे तो कुरुवंश के लोग आपको बांधकर पाण्डवों को सौंप देंगे। पिता, पितामह और आचार्य कर्ण को, आपको और मुझे बांधकर पाण्डवों के पास भेज देंगे ॥२२।२४॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मर्यादा का उल्लङ्घन करनेवाला, निर्लज्ज, दुर्मति दुर्योधन

कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ॥ २६ ॥
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः ।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ॥ २७ ॥
तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २८ ॥
सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥
धर्मार्थावभिसन्त्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो न चिरादिव ॥ ३० ॥
दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्त्तराष्ट्रोऽनुपायकृत् ।
मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ॥ ३१ ॥
कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात्पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ॥ ३२ ॥
भीष्मस्याऽथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः ।
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ३३ ॥
सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः ।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ॥ ३४ ॥
तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिन्दमाः ।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत्सर्वं शृणुताऽनघाः ॥ ३५ ॥
प्रत्यक्षमेतद्भवतां यद्वक्ष्यामि हितं वचः ।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः ॥ ३६ ॥

भाई की इन बातों से और भी उत्तेजित और क्रोधित होकर अजगर की तरह साँसें लेने लगा । फिर असभ्य पुरुष की तरह श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और सोमदत्त आदि माननीय पुरुषों का अनादर करके वह सभा से उठकर चल दिया । उसके पीछे और भाई भी चले गये ॥२५।२८॥ दुर्योधन को क्रोध के मारे भाइयों के साथ उठकर जाते देखकर पितामह भीष्म ने वासुदेव से कहा—हे जनार्दन ! जो पुरुष धर्म-अर्थ का ध्यान छोड़कर क्रोध के अधीन हो जाता है उसके शत्रु उसे शीघ्र ही सङ्कट में पड़ा हुआ देखकर हँसते हैं ॥२९।३०॥ यह दुरात्मा राजपुत्र दुर्योधन उपाय से अनभिज्ञ, वृथा राज्याभिमानी और क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के हाथ का खिलौना है । इसके अनुगामी राजा भी काल से पके हुए फल की तरह [मृत्यु के मुँह में] गिरनेवाले हैं ॥३१।३२॥ ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने भीष्म, द्रोण आदि महात्मा वृद्ध पुरुषों को सम्बोधन करके कहा—हे महात्माओ ! आप लोग इस ऐश्वर्य-मदोन्मत्त दुर्योधन का दमन नहीं करते, यह बड़ा अन्याय हो रहा है ॥३३।३४॥ जो उपाय करने से

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान् ।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः ॥ ३७ ॥
उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः ।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥ ३८ ॥
आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः ।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः ॥ ३९ ॥
कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः ।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः ॥ ४० ॥
अपि चाप्यवदद्राजन्परमेष्ठी प्रजापतिः ।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च ॥ ४१ ॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत ।
अब्रवीत्सृष्टिमान्देवो भगवाँल्लोकभावनः ॥ ४२ ॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह ।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः ॥ ४३ ॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
अस्मिन्युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम् ॥ ४४ ॥
इति मत्वाऽब्रवीद्धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः ।
वरुणाय प्रयच्छैतान्बध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४५ ॥
एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात्परमेष्ठिनः ।
वरुणाय ददौ सर्वान्बध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४६ ॥

कुल का कल्याण हो सकता है वह, इस समय के योग्य कर्तव्य मैंने सोच लिया है। हे भरतवंशियो! जो आप-लोगों को रुचे तो मैं आपके सामने अनुकूल और हितकारी वचन कहता हूँ, सुनिए ॥३५। ३६॥ बूढ़े भोजराज उग्रसेन का पुत्र दुरात्मा कंस पिता की आयु में ही उनका अधिकार और ऐश्वर्य छीनकर आप राजा बन बैठा था ॥३७॥ मृत्यु के वशीभूत और बन्धु-बान्धवों के द्वारा त्यागे गये कंस को मैंने, सबके कल्याण के लिए, युद्ध में मार डाला ॥३८॥ फिर जातिवालों के साथ सत्कारपूर्वक महात्मा आहुक के पुत्र उग्रसेन को उनका राज्य मैंने अर्पण कर दिया ॥३९॥ सब यादव, अन्धक और वृष्णि-गण, कुल की रक्षा के लिए, एक कंस को छोड़कर परस्पर मिलकर सुख-समृद्धि भोग रहे हैं ॥४०॥ देवासुर-संग्राम के समय हथियारों के उठने और लोकों का विनाश होने से पहले प्रजापति ब्रह्मा ने कहा था कि इस युद्ध में दैत्य, दानव, असुर हारेंगे, और आदित्य, वसु, रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षस क्रुद्ध होकर परस्पर एक दूसरे का विनाश करेंगे। ब्रह्मा ने यों सोचकर धर्म से कहा—तुम दैत्यों और दानवों को बांधकर वरुण के हाथ में सौंप दो। ब्रह्मा की

तान्बध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः ।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान् ॥ ४७ ॥
तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चाऽपि सौबलम् ।
बध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छत ॥ ४८ ॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्याऽर्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ४९ ॥
राजन्दुर्योधनं बध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः ।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८॥

आज्ञा पाकर धर्म ने दैत्यों और दानवों को बांधकर वरुण के हाथ में सौंप दिया ॥४१।४६॥ जलेश्वर वरुण ने उन्हे अपने पाश और धर्म के पाश से बांधकर यत्न-पूर्वक समुद्र के भीतर रख दिया ॥४७॥ हे महात्माओ ! आप लोग भी कर्ण, शकुनि, दुःशासन और दुर्योधन को बांधकर पाण्डवों को सौंप दीजिए ॥४८॥ कुल की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को, गांव की रक्षा के लिए कुल भर को, जनपद की रक्षा के लिए सारे गांव को और आत्म रक्षा के लिए सारी पृथ्वी को त्याग देना चाहिए ॥४९॥ इसलिए हे महाराज धृतराष्ट्र ! आप दुर्योधन को बांधकर पाण्डवों के पास भेज दीजिए और उन्हें अपनाइए । हे क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! दुर्योधन के कारण सब क्षत्रियो का संहार न होने पावे ॥५०॥

उद्योगपर्व का एक सौ अट्ठाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२८ ॥

अथ ऊनत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

वैशम्पायन उवाच—कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम् ।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ २ ॥
यदि साऽपि दुरात्मानं शमयेद्दुष्टचेतसम् ।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥ ३ ॥
अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत् ।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ॥ ४ ॥

एक सौ उनतीस अध्याय ॥ १२९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! प्रजा-पालक राजा धृतराष्ट्र श्रीकृष्ण के वचन सुनकर शीघ्रता से सब धर्मों के ज्ञाता विदुर से बोले—हे तात ! तुम दूरदर्शिनी गान्धारी के पास जाकर उन्हें यहां ले आओ । मैं और वह दोनों मिलकर दुर्योधन को समझावेंगे ॥१।२॥ जो गान्धारी दुर्बुद्धि, दुष्टों की सङ्गति में भूले हुए, दुरात्मा दुर्योधन को शान्त करके सुमार्ग पर ला सकीं तो हम अपने परम हितैषी

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत् ।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ॥ ५ ॥
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम् ।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः ।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥
अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान् ।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी ।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

गान्धार्युवाच— आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम् ।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा ।
त्वं ह्येवाऽत्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन्पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे ।
स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन्विनिवर्तयितुं बलात् ।
राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥
दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम् ।

वासुदेव की आज्ञा का पालन कर सकेंगे। गान्धारी यदि दुर्योधन की बुलाई हुई इस घोर विपत्ति को टाल सकेगी तो हम लोग सदा सुख से रहकर जीवन व्यतीत कर सकेंगे ॥३।५॥ हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्रजी की आज्ञा पाते ही विदुर दूरदर्शिनी गान्धारी को वहां ले आये ॥६॥ धृतराष्ट्रजी ने कहा—देखो गान्धारी! तुम्हारा उद्दण्ड पुत्र ऐश्वर्य के लोभ से मतवाला होकर ऐश्वर्य और जीवन तक गँवाने को उद्यत है ॥७॥ मर्यादा का उल्लङ्घन करनेवाला मूढमति दुर्योधन हितैषियों के श्रद्धेय वचनों का अनादर करके, अत्यन्त अशिष्टता के साथ, पापी और दुराचारी सहायकों को साथ लेकर सभा से उठ गया है ॥८॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! स्वामी के वचन सुनकर यशस्विनी गान्धारी कल्याण की इच्छा से कहने लगीं—हे महाराज! राज्य की इच्छा रखनेवाले मरने के लिए उद्यत, उसे अपने बेटे को शीघ्र बुलाइए। धर्म-अर्थ को मिटानेवाला, शान्ति-शून्य, असन्तुष्ट पुरुष कभी राज्य नहीं प्राप्त कर सकता; तथापि विनय-विहीन दुर्योधन को राज्य प्राप्त हो गया है ॥९।१०॥ आप उसके बुरे चरित्र को जानकर भी पुत्रस्नेह के कारण उसका साथ देते जाते हैं। इस कारण इस बारे में आप ही निन्दा के पात्र हैं ॥११।१२॥ हे महाराज! पापी दुर्योधन पूर्ण रूप से काम, क्रोध, मोह के वश

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः ।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ १४ ॥
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः ।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—शासनाद्धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम् ।
मातुश्च वचनात्क्षत्ता सभां प्रावेशयत्पुनः ॥ १६ ॥
स मातुर्वचनाकांक्षी प्रविवेश पुनः सभाम् ।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १७ ॥
तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम् ।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥
दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक ।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ॥ १९ ॥
दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम ।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद्वचः ॥ २० ॥
भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चाऽपचितिः कृता ।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥ २१ ॥
नहि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते ।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

में है। इस समय बलपूर्वक उसे मना करना आपकी शक्ति के बाहर है ॥१३॥ आपने जैसे मूढ़बुद्धि, बुरे मन्त्री और सहायकों को साथ रखनेवाले, दुरात्मा और लोभी को राज्य का अधिकार दिया है वैसे ही उसका फल आप भोग रहे हैं ॥१४॥ मैं कह ही नहीं सकती कि आप किस कारण इस घर की फूट को लापरवाही से देख रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि स्वजन आपको त्याग देंगे, और शत्रु आपका उपहास करेंगे ॥१५॥ देखिए, आत्मीय लोगों के साथ साम और दान का व्यवहार करने से यदि आई हुई विपत्ति टल सकती हो और सब काम बनता हो, तो फिर कौन बुद्धिमान् पुरुष दण्डनीति का प्रयोग करने को उद्यत होगा ! ॥१६॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! वृद्ध राजा-रानी की आज्ञा से विदुर फिर दुर्योधन को सभा-भवन में बुला लाये। दुर्योधन के नेत्र लाल हो रहे थे। वह क्रोध के मारे सर्प की तरह फुफकारता हुआ लम्बी-लम्बी साँसें ले रहा था। माता के वचन सुनने के लिए दुर्योधन फिर सभा में आया ॥१७।१८॥ तब पतिव्रता गान्धारी शान्ति की इच्छा से उस, सुमार्ग से हटकर कुपथगामी हो रहे, पुत्र की निन्दा करके कहने लगी—हे बेटा ! मेरी बातों को मन लगाकर सुनो। सुनोगे और मानोगे तो अन्त को भाई-बन्धुओं के साथ सुख से सब भोग भोगोगे। हे बेटा ! तुम्हारे पिता महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुर आदि अन्य आत्मीय लोगों ने तुमसे जो कहा है उसे मान लो

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद्दीर्घमन्तरम् ।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥ २३ ॥
कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः ।
तौ तु शत्रून्विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥ २४ ॥
लोकेश्वरप्रभुत्वं हि महदेतद्दुरात्मभिः ।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम् ॥ २५ ॥
इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥ २६ ॥
अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवाऽदान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ २७ ॥
अविजित्य य आत्मानममात्यान्विजिगीषते ।
अमित्रान्वाऽजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २८ ॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ २९ ॥
वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ ३० ॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः ॥ ३१ ॥

॥१९।२०॥ सन्धि कर लोगे तो भीष्म पितामह, महाराज धृतराष्ट्र, मैं और द्रोण आदि सब तुमसे सन्तुष्ट रहेंगे—सब की बात रह जायगी ॥२१॥ हे बेटा ! केवल इच्छा करने पर ही राज्य का लाभ, राज्य की रक्षा और राज्यसुख का उपभोग निर्भर नहीं है ॥२२॥ जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष ही राज्य-भोग के योग्य होता है ॥२३॥ काम और क्रोध मनुष्य के कार्य को बिगाड़ देते हैं—अर्थ का नाश कर देते हैं। जो भाग्यशाली राजा इन दोनों शत्रुओं को जीत लेता है वही पृथ्वी के राज्य का सच्चा अधिकारी होता है ॥२४॥ प्रभुता करना टेढ़ी खीर है। दुरात्मा लोग सहज ही राज्य पा जाते हैं, किन्तु वे उसे अपने पास रखने में समर्थ नहीं होते ॥२५॥ उच्च पद की इच्छा रखनेवाले को चाहिए कि पहले अपनी सब इन्द्रियों को वश में करके धर्म और अर्थ के कामों में लगावे। इन्द्रियों का निग्रह हो जाने पर, ईंधन से बढ़ी अग्नि की तरह, मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है ॥२६॥ अशिक्षित और दुष्ट घोड़ा जैसे अनाड़ी सवार को गिराकर मार डालता है वैसे ही वश में न रहने वाली इन्द्रिया मूढ़ पुरुष के प्राणनाश का कारण होती हैं ॥२७॥ जो मनुष्य मन को जीते बिना मन्त्रियों को वश में रखना चाहता है, अथवा मन्त्रियों को अपने वश में किये बिना शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह विवश होकर ऐश्वर्य से भ्रष्ट होता है ॥२८॥ अपना हित चाहनवाले को चाहिए कि पहले मन को ही शत्रु समझकर उस पर आक्रमण करे और फिर मन्त्रियों तथा शत्रुओं को वश करने की चेष्टा में लगे ॥२९॥ जो मनुष्य जितेन्द्रिय है, धीर है, मन्त्रियों

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम् ।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ॥ ३२ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः ।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥ ३३ ॥
सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः ।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ॥ ३४ ॥
कामाभिभूतः क्रोधाद्वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चाऽन्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ ३५ ॥
एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः ।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ॥ ३६ ॥
यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः ।
आहतुस्तात तत्सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३७ ॥
प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥ ३८ ॥
सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ३९ ॥

के वश में किये हुए है, और जो देखभाल तथा सोच-समझकर कार्य करता है और अपने विरोधियों को यथायोग्य दण्ड देता है, उसी के पास राजलक्ष्मी दृढ़ता के साथ रहना चाहती है ॥३०॥ जैसे छोटे-छोटे छेदोंवाले जाल को बड़ी मछलियाँ छिन्न-भिन्न कर देती हैं, वैसे ही शरीर में ही रहनेवाले काम और क्रोध मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं ॥३१॥ रागद्वेष-शून्य होने के कारण मनुष्य स्वर्ग को आवेंगे, इसी भय के मारे देवताओं ने काम और क्रोध से स्वर्ग का द्वार बन्द कर दिया है। इसी से मनुष्य के हृदय में स्वभाव से ही काम और क्रोध की अधिकता होती है ॥३२॥ जो बुद्धिमान् राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्प को अच्छी तरह जीतना जानता है वही पृथ्वी का शासन करता है ॥३३॥ जो राजा धर्म और अर्थ प्राप्त करने की इच्छा रखता हो और शत्रुओं को हराना चाहता हो उसे सदा इन्द्रियों के दबाने में लगे रहना चाहिए ॥३४॥ जो पुरुष काम और क्रोध के वशीभूत होकर आत्मीय स्वजनों और अन्य लोगों से कपट का व्यवहार करता है उसे कभी सहायक नहीं मिलते ॥३५॥ हे बेटा! पाण्डव महाबुद्धिमान्, शत्रुनाश की शक्ति रखनेवाले और असाधारण पराक्रमी शूर हैं। उनसे सन्धि करके ही तुम सुख से पृथ्वी का राज्य भोग सकोगे ॥३६॥ हे बेटा दुर्योधन! पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण ने ठीक ही कहा है; अर्जुन और वासुदेव को कोई नहीं जीत सकता ॥३७॥ इसलिए तुम श्रीकृष्ण की शरण में जाओ। ये महाबाहु सहज ही बड़े से बड़ा कार्य कर सकते हैं। इनको प्रसन्न रखने से निःसन्देह दोनों पक्ष सुखी होंगे ॥३८॥ दुर्बुद्धि पुरुष का लक्षण यही है कि वह प्राज्ञ, हित चाहनेवाले, विद्वान् बन्धुओं और स्वजनों का कहा न मानकर ऐसे कार्य करता है जिनसे शत्रुओं का आनन्द बढ़े ॥३९॥ हे बेटा!

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ४० ॥
भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च ।
दत्तोऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद्भीतैररिन्दम ॥ ४१ ॥
तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्याऽनुपश्यसि ।
यद्भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम् ॥ ४२ ॥
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिन्दम ।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥ ४३ ॥
अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
सुहृदां वचने तिष्ठन्यशः प्राप्स्यसि भारत ॥ ४४ ॥
श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ॥ ४५ ॥
निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम् ।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः ।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥ ४७ ॥
न चैव शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि ।

युद्ध में कुछ भी कल्याण की या धर्म-अर्थ के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं है। फिर उससे किस तरह सुख प्राप्त हो सकता है? विशेषकर युद्ध में इसका कुछ भी निश्चय नहीं कि कौन पक्ष जीतेगा। इसलिए ऐसे अनर्थ के काम में मन न लगाओ ॥४०॥ हे शत्रुदमन! तुम्हारे पिता महाराज, भीष्म और बाह्लीक आदि ने इसी भेदभाव के भय से पाण्डवों को न्याय से प्राप्य उनका भाग दे दिया था ॥४१॥ तुम जो इस समय शूर पाण्डवों के बल से शत्रुहीन हो गई पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य कर रहे हो सो उसी व्यवहार का फल है ॥४२॥ इसलिए यदि तुम मन्त्रियों और भाइयों के साथ सुख से राज्यसुख भोगना चाहते हो तो पाण्डवों को आधा राज्य दे दो। आधा राज्य पाण्डवों का प्राप्य अंश है ॥४३॥ हे बेटा! पृथ्वी का आधा राज्य तुम्हारे लिए बहुत है। उससे तुम आनन्द से भाई, मन्त्री, भृत्य आदि के साथ अपनी जीविका चला सकते हो। इस प्रकार हितैषियों का कहा मानने से संसार में तुम्हारी कीर्ति फैल जायगी ॥४४॥ श्रीमान्, बुद्धिमान्, वीर, जितेन्द्रिय पाण्डवों से विरोध और युद्ध करोगे तो तुम्हें अवश्य इस महाराज्य के सुख और जीवन से हाथ धोने पड़ेंगे ॥४५॥ मेरा कहा मानो, पाण्डवों को उनका भाग दे दो, मित्रों और भाइयों के कोध को शान्त करो और यथोचित रूप से प्रजा-पालन में लग रहो ॥४६॥ राज्य से भ्रष्ट होकर पाण्डव तेरह वर्ष तक वन में रहे हैं। तुम यह उनका बड़ा भारी अपकार कर चुके हो। उस अपकार के कारण पाण्डवों के हृदय में जो क्रोध की अग्नि भड़क रही है उसे इस समय शान्त कर दो। यही बुद्धिमानी का कार्य होगा ॥४७॥ तुम पाण्डवों का राज्य ले लेना चाहते हो, पर

सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ॥ ४८ ॥
भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनञ्जये ।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम् ॥ ४९ ॥
अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः ।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत्त्वत्कृते वधम् ॥ ५० ॥
यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः ।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१ ॥
समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम् ।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥
राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम् ।
नहि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥ ५३ ॥
न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते ।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१२९॥

यह कदापि भी नहीं हो सकता। क्रोधी कर्ण या तुम्हारा भाई दुःशासन, ये तुम्हारी इच्छा कदापि पूर्ण नहीं कर सकेंगे ॥४८॥ भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, भीमसेन, अर्जुन, और धृष्टद्युम्न आदि वीर योद्धा यदि क्रुद्ध होकर एक दूसरे से युद्ध करने खड़े होंगे तो यह निश्चय है कि घोर लोकक्षय होगा ॥४९॥ इस कारण क्रोध के वश होकर व्यर्थ कुरुवंश का नाश मत कराओ। तुम्हारे कारण संसार नष्ट न होने पावे ॥५०॥ हे मूढ़ ! तुम समझते हो कि भीष्म, द्रोण आदि योद्धा तुम्हारे लिए पूर्ण शक्ति लगाकर पाण्डवों से युद्ध करेंगे; किन्तु तुम्हारा यह समझना सब व्यर्थ ही है ॥५१॥ ये महात्मा समझते हैं कि इस राज्य पर तुम्हारा और पाण्डवों का समान स्वत्व है। इसके सिवा भीष्म, द्रोण आदि योद्धा कौरवों और पाण्डवों पर समान प्रीति रखते हैं। पाण्डवों में इतनी विशेषता है कि वे तुमसे बढ़कर धर्मात्मा और विनीत हैं ॥५२॥ ये महात्मा वीर लोग तुम्हारे राज्य से वृत्ति प्राप्त करते हैं, इसलिए तुम्हारी ओर से लड़कर युद्ध में प्राण भले ही दे दें किन्तु युधिष्ठिर पर क्रोध नहीं करेंगे ! मेरा कहना इतना ही है कि कोई मनुष्य लोभ से पराई सम्पत्ति नहीं ले सकता। यदि लेता भी है तो उसे भोग नहीं सकता। इसलिए लोभ छोड़कर सन्धि कर लो ॥५३।५४॥

उद्योगपर्व का एक सौ उनतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२९ ॥

अथ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

वैशम्पायन उवाच—तत्तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात्सकाशमकृतात्मनाम् ॥ १ ॥
ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।

सौवलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौवलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद्विचेष्टितम् ॥ ३ ॥
पुराऽयमस्मान्गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ४ ॥
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम वलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ॥ ५ ॥
श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हृतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ६ ॥
अयं ह्येषां महावाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन्गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।
तस्माद्वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य वद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।
तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ॥ ९ ॥
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्ववुद्ध्यत सात्यकिः ।
तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहाऽऽस्थितः ॥ १० ॥
अब्रवीत्कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।

एक सौ तीस अध्याय ॥ १३० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुर्योधन ने माता के अर्थयुक्त मधुर उपदेश को भी अनादर की दृष्टि से देखा। क्रोध से विह्वल दुर्योधन फिर सभा से उठकर अपने साथी नराधमों के पास चल दिया ॥ १॥ वहां वह द्यूतप्रिय धूर्त शकुनि के साथ सम्मति करने लगा ॥ २॥ दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्ण ने आपस में सम्मति करके यह निश्चय किया कि राजा धृतराष्ट्र और भीष्म पितामह से मिलकर चतुर श्रीकृष्ण हमें पकड़ने की इच्छा कर रहे हैं ॥३।४॥ इसलिए हम उससे पहले ही, इन्द्र ने जैसे बलि राजा को पकड़ लिया था वैसे, बलपूर्वक पुरुषसिंह कृष्ण को कैद कर लें ॥५॥ कृष्ण के पकड़े जाने की सूचना पाकर पाण्डव लोग, जिसके दांत तोड़ दिये गये हों उस सर्प की तरह, बिलकुल उत्साह-हीन और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायंगे ॥६॥ क्योंकि ये वासुदेव ही उनके रक्षक और सब कल्याणों की प्राप्ति के सहायक हैं। ऐसा होने पर सोमक भी कुछ उद्योग न करेंगे ॥७॥ महाराज धृतराष्ट्र के हाय-हाय करते रहने पर भी हम चतुर और अकेले कृष्ण को बलपूर्वक पहले पकड़कर फिर शत्रुओं से युद्ध करेंगे ॥८॥ महाबुद्धिमान् और इशारे के जानने में प्रवीण सात्यकि ने उन लोगों का यह दुष्ट विचार जान लिया ॥९॥ वे उसी समय सभा-भवन के बाहर निकल गये और कृतवर्मा से सम्मति करके कहने

व्यूढानीकः सभाद्वारमुपातिष्ठस्व दंशितः ॥ ११ ॥
यावदाख्याम्यहं चैतत्कृष्णायाऽक्लिष्टकारिणे ।
स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ॥ १२ ॥
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चाऽन्वभाषत ॥ १३ ॥
तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ॥ १४ ॥
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चाऽवाप्यं कथञ्चन ।
पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १५ ॥
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।
इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥ १६ ॥
पटेनाऽग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।
सात्यकेस्तद्वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत्कुरुसंसदि ।
राजन्परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परन्तप ॥ १८ ॥
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ।
इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ॥ १९ ॥
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम् ।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २० ॥

लगे कि मैं महाबाहु श्रीकृष्ण को यह सूचना देने जाता हूं ॥१०॥ तब तक तुम कवच पहनकर, यादव सेना को युद्ध के लिए सुसज्जित करके, व्यूह-रचना के साथ शीघ्र सभा के द्वार पर आ जाओ ॥११॥ अब पर्वत-कन्दरा में प्रवेश कर रहे सिंह की तरह सात्यकि सभा-भवन के भीतर गये। वहां जाकर उन्होंने पहले महात्मा श्रीकृष्ण से और फिर राजा धृतराष्ट्र और विदुर से दुर्योधन के इस दुष्ट विचार का हाल कहा ॥१२।१३॥ सात्यकि ने हंसकर कहा - ये दुरात्मा लोग धर्म-अर्थ-काम से हीन ओर सज्जनों के द्वारा निन्दित, दूत के पकड़ने का, नीच कर्म करना चाहते हैं। परन्तु उनकी यह इच्छा सफल नहीं हो सकती ॥१४।१५॥ काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत इन दुष्टों का अवश्य, अपने इस बुरे विचार के कारण, विनाश होगा ॥१६॥ बालक या जड़मति उन्मत्त पुरुष जैसे जलती हुई अग्नि को वस्त्र से बांधना चाहे वैसे ही ये लोग भी अपनी कुबुद्धि के कारण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को कैद किया चाहते हैं ॥१७॥ दूरदर्शी महाप्राज्ञ विदुर सात्यकि के ये वचन सुनकर-सब सभासदों के सामने राजा धृतराष्ट्र से कहने लगे—हे महाराज। आपके पुत्रों के सिर पर काल मंडरा रहा है ॥१८॥ देखिए, वे इन्द्र के छोटे भाई नारायण के अवतार श्रीकृष्ण को कैद करने की सम्मति करके अत्यन्त अयश देनेवाला अनुचित

आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।
अयमिच्छन्हि तान्सर्वान्युध्यमानाञ्जनार्दनः ॥ २१ ॥
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद्यमसादनम् ।
न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात्पापं कथञ्चन ॥ २२ ॥
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः ।
विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥ २४ ॥
एते वा मामहं चैनाननुजानीहि पार्थिव ।
एतान्हि सर्वान्संरब्धान्नियन्तुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथञ्चन ।
पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान्हास्यन्ति ते सुताः ॥२६॥
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।
अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥ २७ ॥
निगृह्य राजन्पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।
इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥ २८ ॥
सन्निधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।
एष दुर्योधनो राजन्यथेच्छति तथाऽस्तु तत् ॥ २९ ॥

कार्य करने को उद्यत हैं ॥१९।२०॥ किन्तु वे मूढ़, प्रज्वलित अग्नि में गिरनेवाले पतङ्ग की तरह, श्रीकृष्ण के सामने आकर क्षण भर भी जीते नहीं रह सकते। प्रभावशाली वासुदेव इच्छामात्र से, हाथियों को मारने के लिए उद्यत क्रोधान्ध सिंह की तरह, दम भर में उन दुष्टों को मार सकते हैं। किन्तु धर्मात्मा वासुदेव कभी ऐसा लोकनिन्दित कार्य न करेंगे ॥२१।२२॥ अब महात्मा श्रीकृष्ण ने मित्रों के सामने ही धृतराष्ट्र की ओर देखकर कहा—हे महाराज! या तो दुर्योधन आदि मेरा निग्रह करें, अथवा मैं उन लोगों का दमन करूँ, आप दोनों बातों के लिए अनुमति दे दीजिए। मैं अकेला ही इन दुष्टों को दण्ड दे सकता हूँ, किन्तु ऐसा निन्दित कार्य मैं न करूँगा। पाण्डवों की सम्पत्ति लेने का उद्योग करके आपके पुत्र अपना राज्य भी खो देंगे ॥२३।२६॥ कौरव जो युद्ध करना चाहते हैं तो युधिष्ठिर का कार्य सिद्ध हुआ समझना चाहिए। अनुचर, मन्त्री, सहायक आदि समेत आपके पुत्रों को पकड़कर मैं अभी पाण्डवों के हाथ में सौंप सकता [illegible]। यह मेरे लिए असाध्य नहीं है और ऐसे दुष्टों के साथ ऐसा व्यवहार करना बुरा भी नहीं किन्तु हे भरतश्रेष्ठ! क्रोध और पापबुद्धि से उत्पन्न होने के कारण यह कार्य मेरे लिए निन्दित है। इसलिए आपके आगे मैं ऐसा नहीं करूँगा ॥२७।२८॥ दुर्योधन की जो इच्छा है वही हो। उसमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं; बल्कि मैं वैसा करने के लिए आपके

अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।
एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥ ३० ॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥ ३१ ॥
ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत्सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ३२ ॥
अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥ ३३ ॥
नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥
अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत्कुलपांसनः ॥ ३५ ॥
त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ ३६ ॥
यो न शक्यो बलात्कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥ ३७ ॥
देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।
न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुध्यसि केशवम् ॥ ३८ ॥
दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुस्पर्शः पाणिना शशी ।

पुत्रों को अनुमति देता हूं । श्रीकृष्ण के ये वाक्य सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! राज्यलोभी दुर्योधन को उसके मन्त्री, मित्र, भाई, अनुचर आदि के साथ शीघ्र यहां ले आओ। देखूं, न जाने फिर कुछ चेष्टा करके उसे सुमार्ग पर ला सकूं ॥२९।३१॥ वृद्ध राजा की आज्ञा पाकर विदुर फिर दुर्योधन को, उसकी इच्छा न रहने पर भी, सभा-भवन में बुला लाये ॥३२॥ कर्ण, दुःशासन और अन्य दुष्ट राजाओं के साथ रहनेवाले दुर्योधन से धृतराष्ट्र ने कहा—हे पापी ! हे क्रूर ! तुम नीच कर्म करने में तत्पर पापी-सहायकों के साथ मिलकर दारुण पाप करना चाहते हो ! ॥३३।३४॥ मैंने सुना है कि इन पापी नराधमों की सहायता से तुम दुर्धर्ष श्रीकृष्ण को पकड़ने के लिए उद्यत हो। तुम ऐसे मूढ़ कुलाङ्गार के सिवा और कौन ऐसे सज्जनों द्वारा निन्दित, अकीर्त्ति के कारणरूप और असाध्य कार्य को करने का दुराग्रह कर सकता है ! हाय ! इन्द्र सहित देवता भी जिसको बलपूर्वक पकड़ नहीं सकते उन्हीं केशव को तुम, चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा करनेवाले बालक की तरह, पकड़ लेने की इच्छा करते हो ! ॥३५।३७॥ तुम क्या नहीं जानते हो कि देव, गन्धर्व, असुर, मनुष्य, नाग आदि कोई भी प्राणी संग्राम में वासु-

दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ ३९ ॥
इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्ताऽपि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ ४० ॥

विदुर उवाच—दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम् ।
सौभद्वारे वानरेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः ।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम् ॥ ४१ ॥
ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम् ।
ग्रहीतुं नाऽशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४२ ॥
प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः ।
ग्रहीतुं नाऽशकत्तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४३ ॥
अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे ।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि ॥ ४४ ॥
निर्मोचने षट्सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः ।
ग्रहीतुं नाऽशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४५ ॥
अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा ।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः ।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चाऽरिष्टमाचरन् ॥ ४७ ॥

देव के सामने नहीं ठहर सकता ! तुम अच्छी तरह समझ लो कि हाथ से वायु या अग्नि को पकड़ना जैसे दुष्कर है, सिर पर पृथ्वीमण्डल को लाद लेना जैसे असाध्य है, वैसे ही बलपूर्वक वासुदेव को पकड़ना भी त्रिकाल में असम्भव है ॥३८।३९॥ अन्धे राजा धृतराष्ट्र जब समझा चुके तब महामति विदुर ने असहनशील दुर्योधन को लक्ष्य करके कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! वानरों का राजा महाबली द्विविद सौभ विमान के द्वार पर पूरे पराक्रम के साथ यत्न करके जिन्हें पकड़ने की इच्छा से शिलाएं बरसाकर भी सफलता नहीं प्राप्त कर सका, उन्हें तुम बलपूर्वक पकड़ना चाहते हो ! ॥४०।४२॥ प्राग्ज्योतिषपुर में महापराक्रमी नरकासुर अनेक दानवों के साथ कोटि यत्न करके भी जिन्हें नहीं पकड़ सका, उन्हें तुम पकड़ना चाहते हो ! ॥४३॥ देखो, अनेक युग वर्षों की आयुवाले कृष्णचन्द्र जी जिन्होंने नरकासुर को मारकर हजारों कन्याओं को लाकर विधिपूर्वक उनके साथ विवाह किया, उन्हें तुम पकड़कर बन्धन में डालना चाहते हो ! ॥४४॥ निर्मोचन नगर में छः हजार महाबली असुर अनेक यत्न करके भी जिन्हें पाशों से नहीं बांध सके, उन्हें तुम कैद करना चाहते हो ॥४५॥ जिन असाधारण प्रभाववाले पुरुषोत्तम ने बाल्यावस्था में ही निशाचरी पूतना, पक्षी का रूप रखनेवाले काकासुर और बकासुर को मार डाला; जिन्होंने गोकुल की रक्षा के लिए बायें हाथ पर इतना बड़ा गोवर्द्धन पर्वत उठा लिया ॥४६॥ और जिन्होंने

जरासन्धश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान् ।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः ॥ ४८ ॥
वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चाऽमितौजसा ।
पारिजातं च हरता जितःसाक्षाच्छचीपतिः ॥ ४९ ॥
एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः ॥ ५० ॥
अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।
यद्यदिच्छेदयं शौरिस्तत्तत्कुर्यादयत्नतः ॥ ५१ ॥
तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम् ॥ ५२ ॥
प्रधर्षयन्महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
पतङ्गोऽग्निमिवाऽऽसाद्य सामात्यो न भविष्यसि ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

अनिष्ट करनेवाले अरिष्टासुर, धेनुकासुर, चाणूर, केशी आदि महाबली असुरों को मार डाला, उन पराक्रमी श्रीकृष्ण को तुमने अब तक नहीं पहचाना ? ॥४७॥ जिन्होंने महायुद्ध में कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि राजाओं को नष्ट कर दिया, ॥४८॥ जिनसे महाबाहु बाणासुर, वरुण और अग्नि ने हार मान ली, जिन्होंने कल्पवृक्ष लाकर इन्द्र का घमण्ड चूर कर दिया, ॥४९॥ जो स्वयं सबके विधाता हैं और जिनका विधाता दूसरा नहीं है, उन पराक्रमी श्रीकृष्ण को तुमने अब तक नहीं पहचाना ? जो सब पौरुषों के आधार हैं, जो अपनी इच्छामात्र से सहज ही सब कार्य कर सकते हैं, जो प्रलयकाल के महासागर में शेषशय्या पर सोकर योगनिद्रा को स्वीकार करते हैं, जिन्होंने मधु-कैटभ नाम के असुरों को और हय-ग्रीव दानव को मारा है, उन महापराक्रमी नारायण वासुदेव को तुम अब तक नहीं पहचान सके ? क्रुद्ध विषैले नाग के तुल्य, प्रचण्ड तेज-राशि, अनिन्दित श्रीकृष्ण को पकड़ने के लिए उनके पास जाते ही तुम अपने अनुचरों और सहायकों समेत वैसे ही भस्म हो जाओगे जैसे पतङ्ग अग्नि में कूदकर भस्म हो जाते हैं ॥५०।५३॥

उद्योगपर्व का एक सौ तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३० ॥

अथ एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १ ॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।

एक सौ इकतीस अध्याय ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब शत्रुदमन महाप्रभावशाली वासुदेव ने दुर्योधन की ओर देखकर कहा—हे दुर्योधन ! तुम बड़े ही मूर्ख हो, इसी कारण मुझे अकेला समझकर हराना या

परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥ २ ॥
इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवाऽन्धकवृष्णयः ।
इहाऽऽदित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥ ३ ॥
एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥ ४ ॥
अंगुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
अस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाऽभवत् ॥ ५ ॥
लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाऽश्विनावपि ॥ ६ ॥
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वे देवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैकरूपाणि यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ॥ ७ ॥
प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां सङ्कर्षणधनञ्जयौ ।
दक्षिणेऽथाऽर्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ॥ ८ ॥
भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।
अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ॥ ९ ॥
अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।
शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ॥ १० ॥
अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।
नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ॥ ११ ॥
नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।

पकडना चाहते हो। तुम सत्य समझो, मैं अकेला नहीं हूं ॥१।२॥ सब पाण्डव, अन्धक और वृष्णि-वंश के यादव, आदित्य, रुद्र, वसु आदि देवता और ऋषि इसी स्थान पर मेरे समीप हैं। इसके पश्चात् शत्रुसेना का संहार करनेवाले वासुदेव ऊँचे स्वर से हँसे। उस समय उनके शरीर से तेज के समूह निकलने लगे ॥४॥ उनके शरीर से बिजली के समान तेजस्वी, अंगूठे बराबर, देवता प्रकट होने लगे। उनके मस्तक में ब्रह्मा, हृदय में रुद्र, भुजाओं में लोकपाल, मुख में अग्नि और अन्य अङ्गों [illegible] आदित्य, विश्वेदेवा, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण और इन्द्र आदि अन्य सब देवता देख पड़ने लगे। इसी तरह बहुत से यक्ष, राक्षस और गन्धर्व उनके शरीर में देख पड़े ॥५।७॥ दाहने हाथ में धनुर्धर अर्जुन और बाएं हाथ में हल मूसल लिये बलराम प्रकट हुए ॥८॥ उनके [illegible] भाग में युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव शस्त्र ताने हुए देख पड़े ॥९॥ उनके अग्रभाग में सशस्त्र अन्धक और वृष्णिवंश के यादव देख पड़े। शङ्ख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्ग धनुष, हल और नन्दक आदि सब प्रज्वलित शस्त्र उनके हाथों में थे। उनके कान, नाक, नेत्र और रोम आदि के छिद्रों से सूर्य की प्रचण्ड

प्रादुरासन्महारौद्रा सधूमाः पावकार्चिषः ॥ १२ ॥
रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।
तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम् ॥ १४ ॥
सञ्जयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।
प्रादात्तेषां स भगवान्दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ॥ १५ ॥
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः ।
तस्मात्त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥
भगवन्मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः ।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नाऽन्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥
ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥
तत्राऽद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रश्च चक्षुषी ।
लब्धवान्वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ॥ २० ॥
लब्धचक्षुषमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः ।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ २१ ॥
चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे ।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ २२ ॥

किरणों के समान धुएं सहित अग्नि की लपटें निकलने लगीं ॥१०।१२॥ विश्वमूर्ति वासुदेव का यह घोर रूप देखकर भीष्म, विदुर, सञ्जय और तपस्वी ऋषियों के सिवा सब लोग भयभीत हो गये और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये। भगवान् नारायण ने उस समय द्रोणाचार्य आदि को दिव्य दृष्टि दे दी, जिससे वे निर्भय होकर भगवान् के उस रूप को देखते रहे ॥१४।१५॥ हे भरतश्रेष्ठ! कौरवों की सभा में नारायण के उस अद्भुत रूप को देखकर देवता लोग आकाश से फूल बरसाने और नगाड़े बजाने लगे ॥१६॥ तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा—हे वासुदेव! हे यादवश्रेष्ठ! कृपा करके मुझे इस समय नेत्र दे दीजिए। मैं केवल आपका रूप देखना चाहता हूँ। आप अपना रूप दिखाकर फिर मेरी दृष्टि हर लीजिएगा। मैं और किसी को देखना नहीं चाहता। वासुदेव ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे दो दिव्य नेत्र हो जायँ। वासुदेव का विश्वरूप देखने की इच्छा रखनेवाले धृतराष्ट्र को नेत्र प्राप्त हो गये ॥१७।२०॥ उनके नेत्र प्रकट होते देख सब राजाओं और ऋषियों को बड़ा विस्मय हुआ। सब लोग मधुसूदन की स्तुति करने

ततः स पुरुषव्याघ्रः सञ्जहार वपुः स्वकम् ।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिन्दमः ॥ २३ ॥
ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च ।
ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ॥ २४ ॥
ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः ।
तस्मिन्कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २५ ॥
तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः ।
अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ॥ २६ ॥
अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद्राजमण्डलम् ।
निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ॥ २७ ॥
ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ॥ २८ ॥
सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २९ ॥
तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः ।
वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३० ॥
उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिन्दमम् ।
धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाऽभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
यावद्बलं मे पुत्रेषु पश्यतस्ते जनार्दन ।
प्रत्यक्षं ते न ते किञ्चित्परोक्षं शत्रुकर्शन ॥ ३२ ॥

लगे ॥२१॥ उस समय पृथ्वी कांप उठी, समुद्र विचलित हो उठे, सब राजा विस्मित और चकित हो गये॥२२॥तब पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने अपनी वह विचित्र दिव्य मूर्ति अदृश्य करके पहले का सा रूप धारण कर लिया। ॥२३॥ अब वे ऋषियों से आज्ञा लेकर, कृतवर्मा और सात्यकि का हाथ पकड़े हुए, सभाभवन से निकलकर जाने को उद्यत हुए ॥२४॥ उस समय बड़ा कोलाहल हुआ। नारद आदि महर्षि उसी समय वहां से अन्तर्धान होकर अपने अभीष्ट स्थानों को चल दिये। उन ऋषियों का एकाएक अन्तर्धान होना भी एक आश्चर्य की बात हुई ॥२५॥ इधर कौरवों ने जब वासुदेव को जाते देखा, तब इन्द्र के पीछे चलनेवाले देवताओं की तरह वे उनके पीछे हो लिये ॥२६॥ किन्तु महात्मा वासुदेव ने उनकी ओर देखा भी नहीं। वे धुएँ सहित अग्नि की तरह आगे बढ़ने लगे ॥२७॥ द्वार पर पहुंचकर श्रीकृष्ण ने देखा कि दारुक सारथी किंकिणी-जाल-मण्डित, सुवर्णजालयुक्त, श्वेत व्याघ्रचर्म से शोभित, शैब्य सुग्रीव आदि चार घोड़ों से युक्त, मेघ के समान गम्भीर शब्दवाला दिव्य रथ लिये खड़ा है। महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र यादवश्रेष्ठ कृतवर्मा के साथ उस रथ पर बैठ गये ॥२८।२९॥ रथ पर बैठकर जब वासुदेव चलने लगे

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव ।
विदित्वैतामवस्थां मे नाऽभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ३३ ॥
न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान्प्रति केशव ।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ॥ ३४ ॥
जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः ।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्षमेतद्भवतां यद्वृत्तं कुरुसंसदि ।
यथा चाऽशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ३७ ॥
वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
आपृच्छे भवतः सर्वान्गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ॥ ३८ ॥
आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ॥ ३९ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ॥ ४० ॥
ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं [redacted] पितुर्ययौ ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

तब महाराज धृतराष्ट्र ने उनसे कहा—हे जनार्दन! पुत्रों पर जितनी मेरी प्रभुता है सो आपने अपने नेत्रों से देख लिया॥३१।३२॥ यह भी आपने जान लिया कि कौरवों के कल्याण की इच्छा से मैंने अनेक प्रकार के यत्न किये। सब बातों को देखकर आप मुझे किसी तरह का दोष न दीजिएगा॥३३॥ हे केशव! पाण्डवों के विषय में मेरे हृदय में कोई बुरा विचार नहीं है। मैं हृदय से शान्ति चाहता था॥३४॥ उसके लिए मैंने दुर्योधन से जो कुछ कहा सो आपको और सब कौरवों को अच्छी तरह विदित ही है ॥३५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब महाबाहु जनार्दन ने महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म पितामह, द्रोण, कृपाचार्य, बाह्लीक और विदुर को सम्बोधन करके कहा—कौरव-सभा में कैसी घटना हुई, दुर्मति दुर्योधन ने क्रोध के वश होकर अशिष्ट की तरह कैसा निन्दित कार्य करने की चेष्टा की और महाराज धृतराष्ट्र ने कैसे अपने को असमर्थ बताया, सो सब आप लोगों ने प्रत्यक्ष देख लिया। अब मैं युधिष्ठिर के पास जाने के लिए आप लोगों से विदा होता हूं ॥३६।३८॥ फिर सबसे विदा होकर कृष्णचन्द्र ने अपना रथ हकवा दिया। भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, बाह्लीक, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, विकर्ण, युयुत्सु, आदि महाधनुर्द्धर महारथी योद्धा कुछ दूर तक उनको पहुंचाने गये। भगवान् वासुदेव कौरवों के सामने ही रथ ठहराकर देवी कुन्ती के पास, उनसे विदा होने को, गये ॥३९।४१॥

उद्योगपर्व का एक सौ इकतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३१ ॥

अथ द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रविश्याऽथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च ।
आचख्यौ तत्समासेन यद्वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच—उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम् ।
ऋषिभिश्चैव च मया न चाऽसौ तद्गृहीतवान् ॥ २ ॥

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम् ।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान्प्रति ॥ ३ ॥

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥

कुन्त्युवाच—ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याऽविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥ ६ ॥

अङ्गाऽवेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥ ७ ॥

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चाऽत्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया ॥ ८ ॥

एक सौ बत्तीस अध्याय ॥ १३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! वासुदेव ने बुआ के घर में जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया, और फिर संक्षेप में कौरवों की सभा का हाल यों कह सुनाया—हे बुआ! मैंने और ऋषियों ने बहुत से युक्तियुक्त हितकारी श्रेष्ठ वचन कहकर सन्धि का प्रस्ताव किया, परन्तु दुर्बुद्धि दुर्योधन ने नहीं माना ॥१।२॥ इससे जान पड़ता है कि वह पापी अपने अनुगामी दुर्बुद्धि राजाओं के साथ शीघ्र ही, पके हुए फल की तरह, युद्धभूमि में मरकर गिरेगा। अब मैं आपसे विदा होकर पाण्डवों के पास जाऊंगा। आप उनसे जो कुछ कहना चाहती हों, सो बताइए। मैं आपका सन्देश सुनना चाहता हूं ॥३।४॥ कुन्ती ने कहा—हे भैया! तुम धर्मात्मा युधिष्ठिर से मेरी ओर से कहना कि हे पुत्र! पृथ्वीपालन रूप तुम्हारे महान् धर्म कि हानि हो रही है। धर्मपालन के अवसर को तुम वृथा न जाने दो ॥५॥ जैसे वेद के अर्थ को न जाननेवाले मन्द वेदपाठी की बुद्धि केवल वेदमन्त्रों का लगातार पाठ करने से नष्ट हो जाती है वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी शान्ति-धर्म को ही देखती है ॥६॥ तुम विधाता के द्वारा विहित अपने क्षत्रिय धर्म को देखो। बाहुबल से अपनी जीविका चलाना ही क्षत्रिय का धर्म है। ब्रह्मा ने क्षत्रिय जाति को अपनी भुजाओं से उत्पन्न करके उसकी यही वृत्ति नियत कर दी है ॥७॥ युद्धरूपी क्रूर कर्म और प्रजापालन ही क्षत्रिय का धर्म है। मैंने वृद्धों के मुंह से इस विषय की एक कथा सुनी है वह मैं तुम

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददत्पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चाऽसौ तद्गृहीतवान् ॥ ९ ॥
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ १० ॥
मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद्वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ११ ॥
यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ॥ १२ ॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ १३ ॥
दण्डनीतिश्च धर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ १४ ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ १५ ॥
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥ १६ ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ १७ ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।

को सुनाती हूं ॥८॥ पूर्व समय में धनपति कुबेर राजर्षि मुचुकुन्द पर प्रसन्न होकर उन्हें सम्पूर्ण-पृथ्वी-मण्डल का राज्य देने लगे थे, किन्तु उन्होंने नहीं लिया ॥९॥ मुचुकुन्द ने कहा—मैं अपने बाहुबल से जीता हुआ राज्य भोग करने की इच्छा रखता हूं। राजा के ये वचन सुनकर कुबेर बहुत विस्मित और प्रसन्न हुए। क्षत्रियधर्मनिष्ठ मुचुकुन्द ने अपनी इच्छा के अनुसार बाहुबल से सब पृथ्वीमण्डल को जीतकर साम्राज्य भोग किया ॥१०।११॥ राजा यदि अच्छी तरह प्रजा की रक्षा करता है, तो उसे प्रजा के किये धर्म का चतुर्थांश फल मिलता है ॥१२॥ वह यदि धर्म का पालन करता है तो उसे स्वर्ग में देवपद मिलता है। और, यदि वह अधर्म करता है तो नरक मे जाता है ॥१३॥ राजा यदि यथोचित रूप से दण्डनीति का प्रयोग करता है तो ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अपने-अपने धर्म में लगे रहकर पुण्य-सञ्चय कर सकते हैं ॥१४॥ जब राजा भली भांति अपने धर्म के नीतिसङ्गत कार्य करता है तभी श्रेष्ठ सत्य युग का आविर्भाव होता है ॥१५॥ हे धर्मज्ञ! समय के अनुसार राजा होता है या राजा के अनुसार समय होता है, यह सन्देह तुम न करना। राजा के अनुसार ही समय होता है। राजा ही सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग का प्रवर्तक है ॥१६।१७॥ जो राजा अपने अच्छे कर्मों से सत्य

त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नाऽत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥
प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १९ ॥
ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत्स्पृश्यते जगतः स च ॥ २० ॥
राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद्राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २१ ॥
न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्यव्यवस्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतं फलं किञ्चन लब्धवान् ॥ २२ ॥
न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाऽहं न पितामहः ।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ २३ ॥
यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा सन्तानमेव च ।
माहात्म्यबलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ २४ ॥
नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान्सम्यगाराधिताः शुभाः ॥ २५ ॥
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।
दानमध्ययनं यज्ञः प्रजानां परिपालनम् ॥ २६ ॥
एतद्धर्ममधर्मं वा जन्मनैवाऽभ्यजायथाः ।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ॥ २७ ॥

युग को प्रवृत्त करता है, वह पूर्ण रूप से स्वर्गभोग करता है। ऐसे ही त्रेता युग को प्रवृत्त करनेवाला राजा आंशिक रूप से स्वर्ग भोग करता है ॥१८॥ द्वापर युग को प्रवृत्त करनेवाला राजा यथासम्भव पुण्यफल पाता है। किन्तु कलियुग को प्रवृत्त करनेवाला राजा अत्यन्त पापभागी होकर अनन्त समय तक नरक भोगता है ॥१९॥ राजा का दोष सारे जगत् को लगता है और जगत् का दोष राजा को लगता है ॥२०॥ इसलिए हे बेटा! तुम अपने बाप-दादे के समय से चले आ रहे राजधर्म को देखो। तुम जिस धर्म को ग्रहण करना चाहते हो वह राजधर्म नहीं है ॥२१॥ करुणा के वश होकर लगातार कायरपना, दीनता या मात्र ग्रहण करने से, प्रजा-पालन से प्राप्त होनेवाला फल नहीं मिल सकता ॥२२॥ तुम इस समय अपनी बुद्धि के अनुसार जो कर रहे हो वह मेरी, महाराज पाण्डु की और पितामह की आज्ञा और आशीर्वाद के विरुद्ध है ॥२३॥ मैं नित्य यही प्रार्थना करती रही हूँ कि तुम यज्ञ, दान, तप, शूरता, प्रज्ञा, सन्तान, महिमा, बल और बड़ी आयु से सम्पन्न रहो ॥२४॥ ब्राह्मण भी तुम्हारी बड़ी आयु, धन और वंशवृद्धि के उद्देश्य से सदा देवताओं और पितरों के लिए स्वाहा और स्वधा का अनुष्ठान करते रहे हैं ॥२५॥ देवता और पितर भी क्षत्रिय-कुमारों से दान, वेदपाठ, यज्ञ और प्रजापालन की आशा करते हैं ॥२६॥

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ २८ ॥
दानेनाऽन्यं बलेनाऽन्यं तथा सूनृतया परम् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ २९ ॥
ब्राह्मणः प्रचरेद्भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ॥ ३० ॥
भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात्त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ ३१ ॥
पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाऽथ नयेन वा ॥ ३२ ॥
इतो दुःखतरं किं नु यदहं दीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वा मित्रनन्दन ॥ ३३ ॥
युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

मेरा यह कहना धर्मसङ्गत है या अधर्मयुक्त, सो तुम स्वभाव से ही जानते हो। हे कृष्णचन्द्र! मेरे पुत्र पाण्डव विद्वान् और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर भी इस समय जीविका बिना क्लेश पा रहे हैं ॥२७॥ दान देनेवाले शूर राजा के पास भूखे प्यासे लोग आकर आश्रय प्राप्त करें और प्रसन्न हों, इससे बढ़कर और श्रेष्ठ धर्म क्या होगा? ॥२८॥ संसार में राज्य पाकर धार्मिक पुरुष को चाहिए कि किसी को धन देकर, किसी को बल से और किसी को मधुर वाणी से अपने अनुगत बना ले ॥२९॥ ब्राह्मण भिक्षावृत्ति से जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजा-पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करे, यही सनातन धर्म है ॥३०॥ भिक्षा मांगने की तुम्हारे लिए मनाही है और खेती-बारी करना तुम्हारे लिए निषिद्ध है। तुम क्षत्रिय हो, इसलिए तुम्हें बाहुबल से ही अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिए। हे महाबाहु! साम, दान, भेद, दन्ड, नीति आदि किसी उपाय से तुम शत्रु के हाथ में पड़े हुए अपने पिता के राज्य को प्राप्त करो। हे मित्रों को आनन्द देनेवाले! इससे बढ़कर दुःख और क्या होगा कि तुम्हें उत्पन्न करके भी मैं पराये अन्न से पेट भर रही हूं। इससे तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कायरों की वृत्ति स्वीकार करके अपने पुरखों का नाम डुबाना अथवा क्षीणपुण्य होकर भाइयों के साथ पापमयी नरक-यातना या बुरी गति प्राप्त करना तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है ॥३१।३४॥

उद्योगपर्व का एक सौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

कुन्त्युवाच—अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परन्तप ॥ १ ॥

ततः श्रेयश्च भूयश्च यथावद्वक्तुमर्हसि ।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ॥ २ ॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता ॥ ३ ॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम् ।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ॥ ४ ॥
विदुलोवाच—अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन ।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाऽभ्यागतो ह्यसि ॥ ५ ॥
निर्मन्युश्चाऽप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः ।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ॥ ६ ॥
माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥ ७ ॥
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः ।
अमित्राम्नन्दयन्सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकदः ॥ ८ ॥
सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसन्तोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥ ९ ॥
अप्यहेरारुजन्दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज ।

एक सौ तैंतीस अध्याय ॥ १३३ ॥

कुन्ती ने कहा—हे शत्रुदमन ! यहां पर मैं उदाहरण के तौर पर विदुला-सञ्जय-संवाद कहती हूं। यह बहुत प्राचीन इतिहास है। इसे कल्याणदायक समझकर तुम अच्छी तरह युधिष्ठिर के आगे कहना। श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न बुद्धिमती एक विदुला नाम की राजकुमारी थी। वह क्षत्रियधर्म में निरत, आत्माभिमानिनी, उग्र स्वभाववाली और राजसमाज में बहुत जानकार कहलाती थी ॥१।३॥ विदुला का पुत्र युद्ध में सिन्धुराज से हारकर घर में पड़ा हुआ था। दीनभाव से अपने पुत्र को पड़े देखकर कठिन स्वभाववाली विदुला इस प्रकार उसको फटकारने लगी—हे शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाले ! तुम मेरे पुत्र नहीं हो। तुम मेरे गर्भ और अपने पिता के वीर्य से नहीं उत्पन्न हुए। तुम कुलाङ्गार कहां से इस कुल में आ गये हो ! तुममें तनिक भी पौरुष नहीं है। तुम्हारा आकार, बुद्धि और प्रकृति नपुंसकों की सी है। मनुष्यों में तुम्हारी गिनती करना भी अनुचित है। हाय ! तुम बिलकुल निराश हो गये हो। तुम्हारी भुजाओं में बल नहीं रहा है। हे दुर्बुद्धि ! जो तुम अपना कल्याण चाहते हो तो पुरुषों के योग्य युद्ध का भार ग्रहण करो। थोड़े में सन्तुष्ट मत हो। अपने को भूल मत जाओ। भय छोड़कर उत्साह और उदारता के साथ श्रद्धा से व्याकुल चित्त को दृढ़ करो। हे कायर ! हारकर स्वाभिमान गवांकर बन्धुओं को शोकाकुल और शत्रुओं को आनन्दित करते हुए इस तरह पड़े न रहो। शीघ्र युद्ध के लिए कमर कसकर उठ खड़े हो ॥४।८॥ सच है, छोटी नदियां थोड़े जल से ही भर जाती हैं, चूहे की अञ्जलि थोड़े ही पदार्थ से

अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥
अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन् ।
विवदन्वाऽथवा तूष्णीं व्योम्नीवाऽपरिशङ्कितः ॥ ११ ॥
त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद्वज्रहतो यथा ।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥
माऽस्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा ।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माऽधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥ १३ ॥
अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल ।
मा तुषाग्निरिवाऽनर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।
मा ह स्म कस्यचिद्गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥
कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाऽऽजिं यावदुत्तमम् ।
धर्मस्याऽऽनृण्यमाप्नोति न चाऽऽत्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥
अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नाऽनुशोचति पण्डितः ।
आनन्तर्यं चाऽऽरभते न प्राणानां धनायते ॥ १७ ॥
उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम् ।

मर जाती है और कायर लोग थोड़े ही लाभ में तृप्त और सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥९॥ हे कुलघातक ! सर्प के मुंह में हाथ डालकर उसके दांत उखाड़ने मे शीघ्र प्राण भले ही दे दो, पर कायरपन के साथ मृत्यु के मुह का कौर न बनो । जीवन की आशा छोड़कर पराक्रम दिखाओ ॥१०॥ बाज पक्षी की तरह बेखटके इधर-उधर घूमकर, लड़-झगड़कर या चुपचाप, शत्रुओं पर वार करने का अवसर देखते रहो ॥११॥ वज्रपात से मरे हुए पुरुष की तरह तुम क्यों पड़े हुए हो ? शीघ्र उठो । शत्रु से हारकर यों सोना उचित नहीं है ॥१२॥ तुम इस तरह दीनभाव से अस्त न होओ, बल्कि अपने पौरुष से सर्वत्र प्रसिद्ध होने की चेष्टा करो । सन्धि मध्यम उपाय है, भेद अधम और दान नीच उपाय है । इन नीतियों का सहारा लेने की इच्छा मत करो । दण्ड ही उत्तम उपाय है । उसी दण्डनीति के प्रयोग की चेष्टा करो। ॥१३॥ तेंदू की लकड़ी की तरह मुहूर्तमात्र ही चाहे प्रज्वलित रहो, परन्तु जीवन की आशा से ज्वालाहीन भूसी की अग्नि की तरह विषाद के धुएं से अपने को छिपाओ मत ॥१४॥ बहुत समय तक धुआं देते रहने की अपेक्षा घड़ी भर का प्रज्वलित रहना बहुत अच्छा है । किसी राजा के घर में गधे की तरह सब सहनेवाला, तेज से हीन, कोमल-प्रकृति का पुत्र कभी न उत्पन्न हो ॥१५॥ रण-निपुण वीर पुरुष शत्रु से युद्ध ठानकर, पौरुष दिखाकर, धर्म के ऋण से उऋण हो जाते हैं । वे आत्मग्लानि के भागी न होकर प्रसन्न रहते हैं ॥१६॥ सफलता मिले चाहे न मिले, उसके लिए बुद्धिमान् मनुष्य कुछ शोक नहीं करते । वे लगातार बल से सिद्ध होनेवाले कार्य करते रहते हैं; उन्हें धन की तृष्णा नहीं होती ॥१७॥ इसलिए हे पुत्र ! या तो अपनी भुजाओं का बल दिखाओ नहीं तो मर जाओ । धर्म से विमुख होकर

धर्मं पुत्राऽग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥
इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता ।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १९ ॥
शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता ।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत्कथञ्चन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन् ।
कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥ २१ ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ।
यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ॥ २२ ॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ॥ २३ ॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ।
श्रुतेन तपसा वाऽपि श्रिया वा विक्रमेण वा ॥ २४ ॥
जनान्योऽभिभवत्यन्यान्कर्मणा हि स वै पुमान् ।
न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ॥ २५ ॥
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ।
यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ॥ २६ ॥
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम् ।
अहो लाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ॥ २७ ॥

क्यों जीना चाहते हो! ॥१८॥ हे नपुंसक ! तुम्हारे इष्टापूर्त कर्म, कीर्ति और भोगमूल राज्य का ऐश्वर्य, सब कुछ नष्ट हो चुका है । फिर तुम क्यों वृथा जी रहे हो ॥१९॥ वीर पुरुष, गिरते समय भी, शत्रु को लेकर गिरते हैं । अपनी जड़ कट जाने पर भी पुरुष को कभी खेद न करना चाहिए ॥२०॥ इस लिए साहसी और अच्छे घोड़े की तरह उद्योग और विक्रम दिखाओ; मान ग्रहण कर और पौरुष सत्व-स्वाभिमान आदि गुणों को ग्रहण करो । तुम्हारे कारण कुल डूब रहा है, उसका उद्धार करो । जन-समाज में जिसके अद्भुत महत् चरित्र की चर्चा नहीं होती, उसकी गिनती न तो स्त्रियों में है और न पुरुषों में, उसका जन्म मनुष्यों की गिनती बढ़ाने का कारण मात्र है । दान, सत्य, तप, विद्या और अर्थ प्राप्त करने के कामों में जिसका यश नहीं प्रसिद्ध हुआ, वह माता की विष्ठा के समान है ॥२२।२३॥ जो पुरुष वेद-शास्त्र का पढ़ना, तप, सम्पत्ति और पराक्रम आदि बातों में औरों से बढ़ सकता है, वही सच्चा पुरुष है ॥२४॥ हे पुत्र ! मूर्ख और कायर की तरह अयश बढ़ानेवाली भिक्षावृत्ति का सहारा लेना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है ॥२५॥ लोगों के अनादर पात्र, भोजन-वस्त्र से मोहताज, नीच हृदय, हीन वीर्य और शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाले पुरुष को पाकर उसके बन्धु कभी सुखी नहीं होते ॥२६॥ जान पड़ता है, हम

नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते ।
अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात्प्रवासिताः ॥ २८ ॥
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिञ्चनाः ।
अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ॥ २९ ॥
कलिं पुत्रप्रवादेन सञ्जय त्वामजीजनम् ।
निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥ ३० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।
मा धूमाय ज्वलाऽत्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥ ३१ ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ।
एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२ ॥
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
सन्तोषो वै श्रियं हन्ति तथाऽनुक्रोश एव च ॥ ३३ ॥
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाऽश्नुते महत् ।
एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चाऽऽत्मानमात्मना ॥ ३४ ॥
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ।
परं विषहते यस्मात्तस्मात्पुरुष उच्यते ॥ ३५ ॥
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद्य इह जीवति ।
शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ॥ ३६ ॥

स्थान से भ्रष्ट, राज्य से निर्वासित, सब इच्छाओं से वञ्चित और दीन होकर बिना जीविका के मरना पड़ेगा । हे पुत्र ! तुम कुलाङ्गार और अपने कुल के अयोग्य काम करनेवाले हो । तुम्हें अपने गर्भ मे रखने के कारण मैं पुत्ररूपी कलियुग को उत्पन्न करनेवाली समझी जाऊंगी । मेरी तरह कोई भी स्त्री ऐसे क्रोधशून्य, निरुत्साही, वीर्यरहित पुत्र को न उत्पन्न करे ! ॥२७।३०॥ हे बेटा ! अब पड़े-पड़े धुआने (शोक से मलिन होने) का समय नहीं है; प्रज्वलित होकर, शत्रुओं का विनाश करो। शत्रुओं के सिर पर क्षणभर प्रज्वलित होकर बुझ जाना भी अच्छा है । [शत्रुओं के प्रति] क्रोधी और क्षमाहीन पुरुष ही सच्चा पुरुष है। जिसमें क्षमा तो है किन्तु क्रोध नहीं है उसकी गिनती पुरुषों में क्या, स्त्रियों में भी न करनी चाहिए ॥३१।३२॥ सन्तोष, दया, शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध की तैयारी न करना और भय, ये चार बातें लक्ष्मी को नष्ट करती हैं । जो मनुष्य आलसी है, उसको कभी महत्त्व नहीं प्राप्त होता । इस कारण तुम इस समय पराभव के दोष से आत्मा को बचाकर फिर स्वार्थसाधन में लग जाओ । हृदय को लोहे की तरह कड़ा करके गई हुई सम्पत्ति लेने की चेष्टा करो । प्रजा-पालन आदि कठिन कामों का भार ढोने मे समर्थ होने के कारण या शत्रु का मुकाबला करने से ही मनुष्य का नाम पुरुष पड़ा है । जो पुरुष स्त्रियों की सी रीति से जीवन व्यतीत करता है वह निरर्थक पुरुष है । शूर, पराक्रमी, सिंह सा बली पुरुष यदि मर जाता

दिष्टभावं गतस्याऽपि विषये मोदते प्रजा । \
य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ॥ ३७ ॥ \
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८ ॥

पुत्र उवाच—किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया । \
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३९ ॥

मातोवाच—किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः । \
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान्व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥ \
भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् । \
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥ \
अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा । \
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ ४२ ॥ \
यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि सञ्जय । \
पक्वं द्रुममिवाऽऽसाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥ \
यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम् । \
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥ \
स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः । \
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१३३॥

है तो भी उसके अधिकार में रहनेवाली प्रजा आनन्द से रहती है। जो क्षत्रिय राजा अपने भोग, सुख और प्रिय परिवार को छोड़कर राजलक्ष्मी की खोज में लगा रहता है वह शीघ्रही अपने साथियों और बन्धु-बान्धवों को आनन्दित करता है ॥३७।३८॥ तब विदुला के पुत्र सञ्जय ने कहा—हे माता! मैं जो तुम्हारे नेत्रों के आगे से चला जाऊंगा या मर जाऊंगा, तो तुम आभूषण, सुख-भोग, सारी पृथ्वी या जीवन लेकर क्या करोगी? ॥३९॥ विदुला ने कहा—हे पुत्र! मेरी इच्छा यही है कि तुम्हारे शत्रु निरादर पानेवाले निन्दित पुरुषों के लोकों में जायं और तुम्हारे मित्र आदर पानेवाले लोगों के लोकों को प्राप्त करें। ॥४०॥ तुम बिना नौकर-चाकरों के, पराये अन्न से पेट पालनेवाले, दीन, हीन पुरुषों की वृत्ति को न ग्रहण करो ॥४१॥ जैसे सब प्राणी मेघों से और देवता इन्द्र से आशा लगाते और जीविका पाते हैं, वैसे ही ब्राह्मण और मित्र तुम्हारे आश्रय में जीविका पावें ॥४२॥ पके हुए फलों से लदे हुए पेड़ के समान जिस मनुष्य का आश्रय लेकर लोग अपनी जीविका चलाते हैं उसी का जीवन सार्थक है ॥४३॥ जो पुरुष अपने बाहुबल से अपनी जीविका चलाता है वह इस लोक में भारी यश और परलोक में श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है ॥४४।४५॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ तेंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

विदुलोवाच—अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि ।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥
यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।
क्षत्रियो जीविताकांक्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥
अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च ।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ॥ ३ ॥
सन्ति वै सिन्धुराजस्य सन्तुष्टा न तथा जनाः ।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥
सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः ।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥
तैः कृत्वा सह सङ्घातं गिरिदुर्गालयं चर ।
काले व्यसनमाकांक्ष नैवाऽयमजरामरः ॥ ६ ॥
सञ्जयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत्त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ ७ ॥
सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
अयं प्राप्य महत्कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ८ ॥
तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।

एक सौ चौंतीस अध्याय ॥ १३४ ॥

विदुला ने कहा—हे बेटा ! जो ऐसी दुर्दशा के समय तुम पौरुष को छोड़ दोगे तो तुम्हें शीघ्र ओछे लोगों के नीच मार्ग में पांव रखना पड़ेगा ॥१॥ जो क्षत्रिय वृथा जीवन की आशा में फँसकर यथा-शक्ति पराक्रम के साथ तेज नहीं दिखाता, उसे बुद्धिमान् लोग चोर कहते हैं ॥२॥ हाय ! जैसे मृत्यु के मुँह में पड़े हुए पुरुष को ओषधि नहीं रुचती वैसे ही सच्चे स्वार्थ को सुझानेवाले, गुणपूर्ण, सुभाषित (अच्छे वचन) तुम्हें नहीं रुचते ॥३॥ सिन्धुराज के पास सहायक और सेना है सही किन्तु कोई उस पर प्रेम नहीं रखता । निर्बलता और उपाय न सूझने के कारण अपनी रक्षा में असमर्थ प्रजा लगातार उस पर विपत्ति आने के समय की बाट जोह रही है ॥४॥ इसके सिवा जो उसके प्रकट शत्रु हैं वे भी, तुम्हें पौरुष की राह पकड़ते देखकर, यत्न के साथ अपनी सम्पत्ति और सेना बढ़ाकर, उसके विरुद्ध उठ खड़े होंगे । इसलिए तुम भी उन लोगों के साथ मिल-कर शत्रु के बुरे दिन की राह देखते हुए पर्वत-दुर्ग का आश्रय लो ॥५।६॥ हे बेटा ! तुम्हारा नाम सञ्जय अवश्य है, किन्तु जय पाने का कोई काम या उद्योग तुममें नहीं देख पड़ता । इसी लिए कहती हूं कि अपना नाम सार्थक करो ॥७॥ एक चतुर विद्वान् ब्राह्मण ने तुम्हारे जन्म के समय कहा था कि यह बालक पहले बड़ा दुःख पाकर अन्त को परम समृद्धि

तस्मात्तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ॥ ९ ॥
यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्याऽर्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ॥ १० ॥
समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम सञ्जय ।
एवं विद्वान्युद्धमना भव मा प्रत्युपाहरः ॥ ११ ॥
नाऽतः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाऽद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥
पतिपुत्रवधादेतत्परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत्प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥
अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवाऽऽगता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥
महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा दृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत्सुहृद्गताम् ॥ १५ ॥
यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टाऽसि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनाऽर्थो भविता तव सञ्जय ॥ १६ ॥
दासकर्मकरान्भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्याऽस्मान्प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७ ॥
यदि कृत्यं न पश्यामि तवाऽद्याऽहं यथा पुरा ।

प्राप्त करेगा ॥८॥ आज उस ब्राह्मण की बात स्मरण करके ही तुम्हारी विजय की सम्भावना से मैं ऐसे आग्रह के साथ तुम्हें उत्तेजित कर रही हूँ। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि जो मनुष्य आप यथार्थ नीति के अनुसार कार्य करता है उसके कार्य की सिद्धि में और-और लोग भी सहायक बन जाते हैं। उसका मनोरथ अवश्य पूर्ण होता है ॥९।१०॥ हार हो या जीत, राज्य मिले या न मिले, दोनों को समान समझकर दृढ़ सङ्कल्प से युद्ध करो। बार-बार हारना भले पड़े, परन्तु युद्ध का उद्योग न छोड़ो ॥११॥ शम्बर का कहना है कि जब आज या कल खाने का ठिकाना न हो, उससे बढ़कर बुरी दशा नहीं है ॥१२॥ उन्होंने ऐसी अवस्था को पति और पुत्र के मरने से भी बढ़कर कष्ट देनेवाली बताया है। तात्पर्य यह है कि दारिद्र्य का दुःख मरने का ही दूसरा रूप है ॥१३॥ देखो, मैं श्रेष्ठ कुल की बेटी और श्रेष्ठ कुल की बहू हूँ। कमलिनी जैसे एक सरोवर से दूसरे सरोवर में जाती है वैसे ही मैं भी एक कुल से दूसरे कुल में आई हूँ। ससुराल में आकर मैं घर की स्वामिनि हुई। पति ने भी मेरा बड़ा आदर और प्यार किया ॥१४॥ पहले सुहृद्गण मुझे सदा बहुमूल्य माला आदि आभूषण पहने, शरीर में गन्धद्रव्य लगाये और प्रसन्न देखते थे ॥१५॥ वे ही इस समय मेरी यह दारुण दुर्दशा देख रहे हैं। हे सञ्जय! तुम जब मुझे और अपनी भार्या को दीन-हीन दुर्बल दशा में देखोगे, तब तुम्हें जीने से मरना ही श्रेष्ठ मालूम होगा ॥१६॥ दास, दासी, आचार्य पुरोहित आदि सब जीविका के बिना जब तुम्हें छोड़ देंगे तब तुम्हारे जीवन का

श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥
नेति चेद्ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥
वयमाश्रयणीयाः स्म न श्रोतारः परस्य च ।
साऽन्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥
अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान्सञ्जीवयस्व नः ॥ २१ ॥
सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमर्हसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।
एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च ग्रहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ॥ २४ ॥
नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद्यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥

प्रयोजन भी समाप्त हो जायगा ॥१७॥ मैं जो फिर तुम्हें पहले की तरह यश और गौरव बढ़ानेवाले श्रेष्ठ कार्य करते न देखूँगी तो मेरे ही हृदय को कैसे शान्ति प्राप्त होगी? ॥१८॥ कोई ब्राह्मण यदि मुझसे कुछ माँगेगा तो उससे 'नहीं' कहते मेरी छाती फट जायगी। अब से पहले कभी मेरे या मेरे स्वामी के मुँह से नकार नहीं निकला ॥१९॥ इस समय जो औरों के आश्रय में रहकर पेट पालना पड़ेगा तो मैं अवश्य अपने प्राण दे दूँगी ॥२०॥ इसलिए इस समय तुम ही नाव की तरह हम सबको इस विपत्ति सागर के पार लगाओ। उसके लिए यदि तुम्हें रहने के अयोग्य स्थान अथवा स्थिति में रहना पड़े, या घोर संकट में रहना पड़े, तो वह भी तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा। हम सब परिवार के लोग इस चिन्ता से मृत-सदृश हो रहे हैं, और शरीर में जान डालना तुम्हारा कर्तव्य है। यदि जीने की इच्छा है तो शत्रुओं को हराने का उद्योग करो; नहीं तो इस तरह नपुंसक-वृत्ति ग्रहण करके सदा खिन्न और दीन रहने से तो मर जाना ही श्रेष्ठ है। शूर पुरुष केवल एक शत्रु को जीतकर भी यश प्राप्त कर सकता है ॥२१।२३॥ देखो, देवताओं के राजा इन्द्र ने वृत्रासुर को मारकर ही महेन्द्र नाम पाया है और वे सब देवताओं के प्रभु होकर सब लोकों के स्वामी हुए हैं ॥२४॥ उत्साही वीर पुरुष समर में अपना नाम सुनाकर शत्रु को ललकारते हैं। युद्ध में पराक्रम दिखाकर, शत्रुसेना के अगले भाग को भगाकर, या उधर के किसी प्रधान योद्धा को मारकर यश प्राप्त कर लेने पर अन्य शत्रु आप ही आप डरकर अधीन हो जाते हैं ॥२५॥ रण में मारने-मरने को उद्यत शूर पुरुष की सब कामनाएँ कायर लोग पूरी करते हैं ॥२६॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः ।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥
राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥
स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाऽप्यमृतोपमम् ।
रुद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवाऽरिषु ॥ २९ ॥
जहि शत्रून्रणे राजन्स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वादृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥
अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नाऽनुपश्येयं दीनादीनमिवाऽऽस्थितम् ॥ ३१ ॥
हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघ स्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥
युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाऽभिजनेन च ।
यस्त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ॥ ३३ ॥
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।
यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
नाऽस्मिञ्जातु कुले जातो गच्छेद्योऽन्यस्य पृष्ठतः ॥ ३५ ॥
न त्वं परस्याऽनुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।
अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत्परिशाश्वतम् ॥ ३६ ॥

साहसी सच्चरित्र पुरुष, राज्य या जीवन की चिन्ता न करके, शत्रु को पाकर उसे मारे बिना नहीं शान्त होते ॥२७॥ हे बेटा! केवल पराक्रम प्रकट करने से ही स्वर्ग का द्वार अथवा राज्य प्राप्त हो सकता है। यह सोचकर जलती हुई लकड़ी के चक्र की तरह शत्रुसेना में घुस पड़ो। शत्रुओं को मारकर अपने धर्म का पालन करो। मैं तुम्हें शोक से व्याकुल मित्रमण्डली, और आनन्द से उछल रहे शत्रुदल, के बीच अत्यन्त खिन्न और दीन हीन पुरुष की तरह रोते न देखूं ॥२८।३१॥ अपने सौवीर देश की कन्याओं द्वारा पहले की तरह पुन प्रशंसा और आनन्द प्राप्त करो। दीन होकर शत्रु के देश-सिन्धु देश-की कन्याओं के उपहास का पात्र न बनो। तुम रूप, गुण, विद्या, कुल, यश और प्रतिष्ठा से युक्त नौजवान हो। बैल की तरह पराया बोझ ढोने के निन्दित कार्य से तो तुम्हारे लिए मरना ही श्रेष्ठ है। तुम्हें दीन भाव से औरों का आश्रय लेते देखकर मुझे भी शान्ति न मिलेगी ॥३२।३३॥ इस कुल में कोई भी औरों के पीछे चलनेवाला अनुचर पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ। इसलिए औरों के अधीन होकर जीना तुम्हारे लिए उचित नहीं है ॥३४॥ विधाता ने जिस चिर-प्रसिद्ध सनातन धर्म क्षत्रियों के लिए नियत कर दिया

पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाऽव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥
यो वै कश्चिदिहाऽऽजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित् ।
भयाद्वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित् ॥ ३८ ॥
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥
मातङ्गो मत्त इव च परीयात्स महामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च सञ्जय ॥ ४० ॥
नियच्छन्नितरान्वर्णान्विनिघ्नन्सर्वदुष्कृतः ।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥

है, और पहले के और अब के पण्डित उसके बारे में जैसा वर्णन करते हैं, सो सब मैं जानती हूं। जो व्यक्ति प्रसिद्ध क्षत्रियवंश में जन्म लेकर सब धर्मों के यथार्थ मर्म को जानता हो, उसे प्राणों के भय से शत्रु के आगे झुकना कभी उचित नहीं। यह उसका कर्तव्य नहीं है ॥३५।३७॥ उद्योग ही पौरुष है। इसलिए सदा उद्योग करते रहना चाहिए, सिर नीचा करना सदा निन्दित है। असमय ही मर जाना अच्छा, किन्तु शत्रु के अधीन होना अच्छा नहीं ॥३८॥ महात्मा वीर पुरुष मस्त गजराज की तरह विचरते हैं। वे केवल धर्म के अनुरोध से ब्राह्मणों के आगे सिर झुकाते हैं। बलपूर्वक और वर्णों को अपने अधीन करना और अधर्म को बंद करना उनका कर्तव्य होता है। वे चाहे सहायवान् हों चाहे निराश्रय, सदा यही किया करते हैं ॥३९।४१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चौंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३४ ॥

अथ पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

पुत्र उवाच—कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम् ।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥
अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा ।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥ २ ॥
ईदृशं वचनं ब्रूयाद्भवती पुत्रमेकजम् ।

एक सौ पैंतीस अध्याय ॥ १३५ ॥

सञ्जय ने कहा—हे करुणाहीन! हे क्रोधी और वीर स्वभाववाली माता! जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय विधाता ने लोहे से बनाया है। अहो! क्षत्रियों के आचार-व्यवहार कैसे विचित्र हैं! मैं तुम्हारा एकलौता बेटा हूं, तो भी तुम दूसरे की माता के समान कठोर वचन कहकर मुझे घोर संग्राम की भूमि में भेजने का उद्योग कर रही हो। मैं पूछता हूं, जो मैं तुम्हारा प्रिय पुत्र संग्राम में मारा गया

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ॥ ३ ॥
किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा ।
मयि वा सङ्गरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥
मातोवाच—सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात् ।
तावेवाऽभिसमीक्ष्याऽहं सञ्जय त्वामचूचुदम् ॥ ५ ॥
स समीक्ष्य क्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥ ६ ॥
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि ।
तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि सञ्जय ॥ ७ ॥
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निः सामर्थ्यमहेतुकम् ।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ॥ ८ ॥
अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः ।
तव स्याद्यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ९ ॥
धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथञ्चन ।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ॥ १० ॥
यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्रनप्तृणा ।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ॥ ११ ॥
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम् ।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ॥ १२ ॥

तो तुम सारी पृथ्वी, गहने, भोग सुख या जीवन लेकर क्या करोगी ?॥३।४॥ विदुला ने कहा—हे बेटा! धर्म और अर्थ के उद्देश्य से ही मनुष्य सब कार्यों का आरम्भ करता है। मैं उसी धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिए तुम्हें युद्ध-भूमि में भेजती हूँ। देखो, तुम्हारे पराक्रम दिखाने का यही उचित समय है। इस समय कर्तव्य-पालन में विमुख होने से लोक समाज में तुम्हारा अपमान होगा। तुम आप ही अपना और मेरा घोर अनिष्ट करोगे। फिर धन सम्पत्ति या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आशा नहीं रहेगी। यदि तुम्हारी अकीर्ति की सम्भावना समझकर भी पुत्रस्नेह के कारण मैं तुम्हें अनुचित कार्य से न रोकूँ तो वह सच्चे स्नेह का काम न होगा। पण्डितों ने ऐसे स्नेह को सामर्थ्य और कारण से हीन गर्दभी-वात्सल्य (गधी का पुत्र स्नेह) कहा है। इसलिए तुम सज्जनों द्वारा निन्दित मूढ़ जनों के मार्ग को छोड़ दो। देखो, इस पृथ्वी पर अनेक लोग अविद्या के अँधेरे में डूबे पड़े हैं। तुम [उस अविद्या (मोह) के अन्धकार से निकलकर] सदाचार ग्रहण करो। ऐसा करने से ही तुम मेरा दुलार पा सकोगे और मैं तुम पर प्रसन्न होऊँगी। जो कोई ऐसे सदाचारी विनीत पुत्र-पौत्र आदि पर ही प्रीति प्रकट करता है वही सच्ची प्रीति तथा स्नेह है ॥५।१०॥ जो कोई उद्योग और विनय से हीन पुत्र पौत्र आदि पर प्रीति करता है, उसका पुत्रवान् होना

सुखं नैवेह नाऽमुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ।
युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः सञ्जयेह जयाय च ॥ १३ ॥
जयन्वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद्विद्यते सुखम् ।
यदमित्रान्वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमेधते ॥ १४ ॥
मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना ।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून्प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च ।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥
इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति ।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याऽल्पमप्रियम् ॥ १७ ॥
प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम् ।
ध्रुवं चाऽभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ॥ १८ ॥
पुत्र उवाच—नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः ।
कारुण्यमेवाऽत्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ॥ १९ ॥
मातोवाच—अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि ।
चोद्यं मां चोदयस्येतद्भृशं वै चोदयामि ते ॥ २० ॥
अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान् ।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रं भावितमेव ते ॥ २१ ॥

बिलकुल ही नष्ट हो जाता है। जो नराधम मनुष्य के योग्य कर्तव्य न करके निन्दित काम करते हैं, उनको न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ॥११।१२॥ तात्पर्य यह है कि युद्ध और विजय के लिए ही क्षत्रिय का जन्म हुआ है। शत्रु को जीतने से या युद्ध में मरने से, दोनों तरह, क्षत्रिय को इन्द्रलोक प्राप्त होता है ॥१३॥ शत्रुओं को अपने अधीन करने से क्षत्रिय को जो सुख और समृद्धि प्राप्त होती है वह इन्द्रलोक में भी मिलना असम्भव है॥१४॥ मनस्वी पुरुष यदि शत्रु से हार जाता है तो भीतर ही भीतर क्रोध की अग्नि में जला करता है और विजय प्राप्त करने की इच्छा से या तो युद्ध में लड़कर मर जाता है या शत्रु को मार लेता है। दोनों में से एक बात हुए बिना नहीं रहती। प्रभावशाली उच्च हृदय के पुरुष थोड़े विभव को नहीं चाहते। जो स्वल्प ऐश्वर्य में सन्तुष्ट और तृप्त हो जाता है उसका विनाश शीघ्र हो जाता है। प्रिय वस्तु के अभाव में पुरुष का कभी कल्याण नहीं प्राप्त होता। वह पुरुष उसी तरह चौपट होता है, जिस तरह सागर में जाकर गङ्गा लीन हो जाती है ॥१५।१८॥ संजय ने कहा—हे माता! पुत्र से तुम्हें ऐसी कठोर बातें न कहनी चाहिएँ। तुम जड़ और गूंगे की तरह चुप रहकर मुझसे करुणा का ही व्यवहार करो ॥१९॥ विदुला ने कहा—हे बेटा! तुम्हारे यह वाक्य सुनकर मुझे

पुत्र उवाच—अकोशस्याऽसहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम ।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ॥ २२ ॥
राज्याद्भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतः ।
ईदृशे भवती कञ्चिदुपायमनुपश्यति ॥ २३ ॥
तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक्प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ २४ ॥
मातोवाच—पुत्र नाऽऽत्माऽवमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चाऽपरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नाऽऽरब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥
सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥
अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।
यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ॥ २८ ॥
नुदेद्वृद्धिसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।
उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥ २९ ॥

नहीं प्रसन्नता हुई । तुम मुझे माता के कर्तव्य में लगाते हो, मैं भी तुम्हें तुम्हारा कर्तव्य सुझाती हूँ ॥२०॥ हे बेटा ! तुम जब सिन्धुराज के सारे वंश का विनाश करके विजय प्राप्त कर लोगे तब मैं तुम्हारा अभिनन्दन करूँगी और तुम्हें आदर की दृष्टि से देखूँगी ॥२१॥ सञ्जय ने कहा—हे माता ! मेरे पास न तो धन है, और न सेना है । फिर मैं किस तरह जय प्राप्त करूँ ? अपनी अवस्था देखकर मैं इस बारे में हताश हो चुका हूँ ॥२२॥ दुष्कर, स्वर्गलाभ की तरह राज्य प्राप्त करने का विचार मैंने छोड़ दिया है । हाँ, जो मेरी कार्य-सिद्धि का कोई उपाय हो तो बताओ । मैं उसी के अनुसार आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥२३।२४॥ विदुला ने कहा—सिद्धि नहीं होगी, यह पहले ही सोचकर अपना अनादर करना उचित नहीं । क्योंकि घटना-क्रम से कभी असिद्ध प्रयोजन भी पूरा हो जाता है, अर्थात् बिगड़ी बात भी बन जाती है । ऐसे ही कभी बना-बनाया खेल बिगड़ जाता है ॥२५॥ तात्पर्य यह है कि ठीक उपाय करने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है । अज्ञान के कारण केवल क्रोध के वश होकर ही कोई काम कर बैठना उचित नहीं । प्रत्येक काम के फल के बारे में स्थिरता नहीं देख पड़ती, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि फल क्या होगा ॥२६॥ जो पुरुष इस तरह फल को अनिश्चित समझकर भी काम करना नहीं छोड़ता उसका मनोरथ सिद्ध हो भी सकता है और नहीं भी । किन्तु जो मनुष्य फल को अनिश्चित समझकर कार्य का उद्योग ही नहीं करता उसके मनोरथ का सिद्ध न होना निश्चित ही है ॥२७॥ परन्तु चेष्टा करने से सिद्धि और असिद्धि दोनों हो सकती हैं । काम में हाथ लगाने के पहले ही सफलता के बारे में अनि-

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।
मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ॥ ३० ॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१ ॥
निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहाऽर्हसि ।
क्रुद्धाल्लुब्धान्परिक्षीणानवलिप्तान्विमानितान् ॥ ३३ ॥
स्पर्धिनश्चैव ये केचित्तान्युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ॥ ३४ ॥
महावेग इवोद्भूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।
तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्पोत्थायी प्रियंवदः ।
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
यदैव शत्रुर्जानीयात्सपत्नं त्यक्तजीवितम् ।
तदैवाऽस्मादुद्विजते सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥
तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि ।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद्भविष्यति ॥ ३७ ॥
निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति ।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाऽऽश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥

क्षय का खयाल करके जो पुरुष उद्योग नहीं करता वह वृद्धि और समृद्धि दोनों को अपने से विमुख कर देता है । इसलिए सफलता पाने का निश्चय करके, हृदय की व्याकुलता मिटाकर, उद्यम के साथ प्रत्येक काम में लग जाना चाहिए ॥२८।२९॥ जो बुद्धिमान् राजा पहले देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा-आराधना, स्वस्त्ययन-पाठ आदि माङ्गलिक कृत्यों का अनुष्ठान करके फिर अभीष्ट प्राप्त करने का उपाय करता है वह अवश्य अपने मनोरथ को सिद्ध कर लेता है ॥३०॥ पूर्व दिशा जैसे सूर्य को गले से लगाती है वैसे ही राज्यलक्ष्मी उसे अपनाती है ॥३१॥ हे संजय ! मैंने उपदेश के तौर पर उपाय और उत्साह बढ़ानेवाले जो वचन कहे हैं उनका प्रभाव तुम पर पड़ा देख पड़ता है । तुम पौरुष करके अच्छी तरह से उद्योग में लग जाओ । तुम यत्न के साथ क्रोधी, लोभी, धनहीन, अपमानित, गर्वित और स्पर्धाशील पुरुषों को अपने पक्ष में करो । पेशगी धन देकर, प्रिय वचन कहकर, उपकार करके अपने सहायकों का संग्रह करो । तो फिर, पवन जैसे प्रचण्ड वेग से घनी घटाओं को छिन्न भिन्न कर देती है, वैसे ही तुम भी शत्रु-सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर सकोगे । उस समय तुम्हें सब लोग अगुआ समझेंगे और तुमसे प्रीति का व्यवहार करेंगे । जब शत्रु समझ लेता है कि मेरा विपक्षी हथेली पर जान लिये मरने-मारने को उद्यत है तब वह इस

स्खलितार्थं पुनस्तानि सन्त्यजन्ति च बान्धवाः ।
अप्यस्मिन्नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम् ॥ ३९ ॥
शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति ।
अतः सम्भाव्यमेवैतद्यद्राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥१३५॥

तरह भयभीत हो जाता है जिस तरह घर में सर्प के प्रवेश जाने पर मनुष्य व्याकुल हो जाते हैं ॥३२।३६॥ पराक्रमी शत्रु को वश में करना असाध्य हो तो दूत के द्वारा उसके पास 'सन्धि' अथवा 'दान' का प्रस्ताव भेजना चाहिए। इससे वह वश में हो जायगा। इस प्रकार शत्रु के खटके से बचकर अपने स्थान में रहने से राजा अपने धन-बल को सुखपूर्वक बढ़ा सकता है। मित्र भी धनी का ही आश्रय लेते हैं, उसी का आदर करते हैं ॥३७।३८॥ वही धनी यदि निर्धन हो जाता है तो वही मित्र उसके पास नहीं फटकते। उस समय बन्धु-बान्धव भी छोड़कर अलग हो जाते हैं। मित्र और बान्धव उस अवस्था में साथ ही नहीं छोड़ देते बल्कि निन्दा तक करने लगते हैं। जो पुरुष शत्रु को मित्र समझकर उसका विश्वास करता है उसका राज्य पाना असम्भव है, या यों कहो कि वह अपनी राजलक्ष्मी को अपने पास बहुत समय तक नहीं रख सकता ॥३९।४०॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ पैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३५ ॥

अथ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३६ ॥

मातोवाच—नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्याञ्चिदापदि ।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥
दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवाऽनुदीर्यते ।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक्कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥
शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः ।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद्विमानिताः ॥ ३ ॥
य एवाऽत्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते ।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इला इव ॥ ४ ॥

एक सौ छत्तीस अध्याय ॥ १३६ ॥

विदुला ने कहा—हे बेटा! किसी तरह की कोई आपत्ति क्यों न आ पड़े, किन्तु राजा को भयभीत होना न चाहिए। यदि भय लगना भी हो तो उसे अपने आकार से प्रकट न करना चाहिए ॥१॥ राजा का भय यदि प्रकट हो जाता है तो राज्य के निवासी, मन्त्री, सैनिक आदि सब अलग-अलग अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने लगते हैं ॥२॥ कोई शत्रु से जाकर मिल जाता है, कोई उसे छोड़कर चला जाता है और कोई कहा नहीं मानता। जिनका पहले अपमान किया जा चुका है वे बदला लेने के लिए तैयार हो जाते हैं ॥३॥ जो अत्यन्त हितचिन्तक सुहृद् होते हैं वे ही पास रहते हैं। वे भी, जिसका बछड़ा अलग बंधा हुआ है ऐसी गाय की तरह कुछ उपाय करने में असमर्थ होकर केवल मन मारे रहते

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान् ।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥
ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ॥ ७ ॥
यदेतत्संविजानासि यदि सम्यग्ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वाऽसौम्यमिवाऽऽत्मानं जयायोत्तिष्ठ सञ्जय ॥ ८ ॥
अस्ति नः कोशनिचयो महान्हि विदितस्तव ।
तमहं वेद नाऽन्यस्तमुपसम्पादयामि ते ॥ ९ ॥
सन्ति नैकशता भूयः सुहृदस्तव सञ्जय ।
सुखदुःखसहा वीर शताहा ह्यनुवर्त्तिनः ॥ १० ॥
तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किञ्चित्सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥
तस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वाऽपि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत्तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ॥ १२ ॥
पुत्र उवाच—उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ १३ ॥
अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।

हैं । प्रभु के साथ साथ वे भी शोक करते हैं, और कुछ नहीं कर सकते । तुमने पहले जिनका आदर-सत्कार किया है वे सुहृद् अभी तुम्हारे पास उपस्थित हैं । वे मन वाणी काया से तुम्हारे राज्य की रक्षा चाहते हैं । तुम स्वयं भय से व्याकुल होकर उन्हें भी भय से विह्वल न बनाओ । तुम वही करो जिसमें वे तुम्हें शङ्कित देख छोड़कर चल न दें ॥४-६॥ हे बेटा ! मैंने तुम्हारे पौरुष, प्रभाव और बुद्धि की परीक्षा करने के लिए, तुम्हें ढाढ़स देने और तुम्हारा उत्साह बढ़ाने के लिए ही ऐसे वचन कहे हैं । यदि तुम मेरे उपदेश का तात्पर्य समझ गये हो, और तुम्हें यह श्रेष्ठ जान पड़ता हो, तो धैर्य के साथ विजय प्राप्त करने का उद्योग करो । सञ्जय ! तुम्हें नहीं मालूम कि तुमसे छिपा हुआ मेरे पास बहुत सा धन है । उसे मेरे सिवा और कोई नहीं जानता । मैं वह धन तुम्हें दूँगी । धन के सिवा तुम्हारे ऐसे अनेक सहायक और बन्धु बान्धव भी हैं, जिन्होंने सैकड़ों सुख दुःख सहकर भी अभी तक तुम्हारा साथ नहीं छोड़ा । ऐसे सुहृद्गण कल्याण और ऐश्वर्य की इच्छा रखनेवाले पुरुष के सहायक और सचिव होते हैं । विदुला का पुत्र स्वभाव से ओछे जी का मनुष्य था । उसमें साहस कम था । तो भी माता के विचित्र, उत्साहवर्धक, मनोहर, हितकारी वचनों को सुनकर उसने अपने हृदय से भय और व्याकुलता को बिल्कुल दूर कर दिया

किञ्चित्किञ्चित्प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥
अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमार्थं जयाय च ॥ १५ ॥
कुन्त्युवाच—सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ १६ ॥
इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७ ॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८ ॥
इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च ।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥
विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम् ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम् ॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

॥७।१२॥ सञ्जय ने कहा—हे माता ! आप मुझे भावी कल्याण की आशा दिलाकर उत्साहित कर रही हैं; इससे मैं या तो जल में डूबी हुई पृथ्वी की तरह अपने पिता के राज्य का उद्धार करूँगा या युद्ध में प्राण दे दूँगा । मैंने केवल तुम्हारे अन्यान्य उपदेशों को सुनने के लिए ही बीच बीच में वैसा उत्तर दिया था । दुर्लभ अमृत पीने से जैसे जी नहीं भरता वैसे ही तुम्हारे सुमधुर वाक्यों का रस पीने की प्रबल लालसा बनी रहने के कारण ही मैं अब तक शान्त था । अब मैं शत्रु को दण्ड देने और विजय प्राप्त करने के लिए उद्योग करूँगा ॥१३।१५॥ कुन्ती ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! अपनी माता के तीखे वाक्य बाणों के लगने से, सधे हुए घोड़े की तरह, उत्तेजित होकर सञ्जय ने उसी उपदेश के अनुसार कार्य किया । राजा यदि शत्रु से पीड़ित होकर व्याकुल हो जाय तो मन्त्री को चाहिए कि उसे यह तेज को बढ़ानेवाला उपाख्यान सुनावे । यह शत्रुदल के दमन का श्रेष्ठ उपाय है । जय की इच्छा रखनेवाले को यह 'जय' नाम का इतिहास अवश्य सुनना चाहिए । इसे एक बार सुननेवाला शीघ्र ही शत्रुओं का मारकर पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लेता है । यह उपाख्यान सुनने से गर्भिणी स्त्री शूर-वीर पुत्र उत्पन्न करती है, क्योंकि यह उपाख्यान पुंसवनरूप है । क्षत्रिय की स्त्री एकाग्र होकर इसे सुनती है तो ऐसा सत्यपराक्रमी वीर पुत्र उत्पन्न करती है जो विद्वान्, दानी, तपस्वी, ब्रह्मतेज से युक्त, साधुसम्मत, तेजस्वी,

महाबली, भाग्यशाली, महारथी, धीर, दुर्धर्ष, विजयी और अजेय होता तथा दुष्टों को दण्ड देनेवाला और धार्मिकों की रक्षा करनेवाला होता है ॥१६।२२॥

उद्योगपर्व का एक सौ छत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

कुन्त्युवाच—अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके ।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ॥ १ ॥
अथाऽन्तरिक्षे वागासीद्दिव्यरूपा मनोरमा ।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ॥ २ ॥
एष जेष्यति संग्रामे कुरून्सर्वान्समागतान् ।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ॥ ३ ॥
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चाऽस्य दिवं स्पृशेत् ।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ॥ ४ ॥
पित्र्यमंशं प्रनष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन्मेधानाहरिष्यति ॥ ५ ॥
स सत्यसन्धो बीभत्सुः सव्यसाची यथाऽच्युत ।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ॥ ६ ॥
तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत ।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥
त्वं चापि तत्तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि ।
नाऽहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ॥ ८ ॥

एक सौ सैंतीस अध्याय ॥ १३७ ॥

कुन्ती ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! तुम मेरी ओर से अर्जुन से कहना कि हे बेटा ! तुम्हारे जन्म लेने के पश्चात् मैं आश्रम में स्त्रियों के बीच में बैठी हुई थी ॥१॥ उसी समय मुझे यह आकाशवाणी सुन पड़ी कि "हे कुन्ती ! तुम्हारा यह पुत्र साक्षात् इन्द्र के तुल्य होगा। इसकी कीर्ति स्वर्गलोक तक फैलेगी ॥२॥ यह भीमसेन की सहायता से सारी पृथ्वी को जीतेगा और शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट करेगा। यह वासुदेव की सहायता से संग्राम में कौरव-कुल को निर्मूल करके गये हुए अपने पिता के राज्य को ले लेगा और फिर भाइयों के साथ तीन अश्वमेध करेगा।" ॥३।५॥ हे यदुनाथ ! सत्यसन्ध, दुर्धर्ष, बली, सव्यसाची के बल को केवल तुम्हीं जानते हो। ईश्वर करे, उक्त आकाशवाणी सत्य हो। यदि पृथ्वी पर धर्म है तो वह आकाशवाणी पूर्ण होगी ही। तुम्हीं उसे सफल करोगे। मैं आकाशवाणी पर दोषारोप नहीं कर सकती। सब प्रजा को धारण करनेवाले धर्म को मेरा प्रणाम है। हे केशव ! तुम सदा उद्योगतत्पर भीमसेन से कहना कि क्षत्रियों की स्त्रियां जिसलिए पुत्र उत्पन्न करती हैं वह समय आ गया है। श्रेष्ठ



नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः ।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥ ९ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
नहि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥ १० ॥
विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति ।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥
सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ॥ १२ ॥
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि ।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत्त्वमवर्तिथाः ॥ १३ ॥
माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणाऽर्जितान्भोगान्वृणीतं जीवितादपि ॥ १४ ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥
यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम् ।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत्क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥
न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चाऽपि पराजयः ।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ॥ १७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा ।
अश्रौषीत्परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ १८ ॥

पुरुष युद्ध के समय कभी ढीलते या उत्साहहीन नहीं होते। हे माधव! तुम भीमसेन के स्वभाव और निश्चय को अच्छी तरह से जानते हो। वे जब तक शत्रुओं का विनाश नहीं कर लेते तब तक उन्हें शान्ति नहीं होती ॥६।११॥ हे कृष्णचन्द्र! तुम महाराज पाण्डु की बहू, सब धर्मों को विशेष रूप से जानने-वाली, यशस्विनी द्रौपदी से कहना—हे मनस्विनी भाग्यशालिनी! तुम श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुई हो। तुम जो मेरे पुत्रों के साथ पतिव्रता स्त्रियों का सा व्यवहार करती हो सो तुम्हारे योग्य ही है ॥१२।१३॥ हे पुरुषोत्तम! तुम माद्री के पुत्रों से कहना-बेटा नकुल! पुत्र सहदेव! तुम वीर पुरुष हो इसलिए जी-जान होमकर पराक्रम से प्राप्त किये हुए सुख भोगने की इच्छा करो ॥१४॥ जो क्षत्रिय धर्म धारण किये हुए हैं वे वीर पराक्रम से पाये हुए धन से ही सन्तुष्ट होते हैं। देखो, तुम लोग धर्म का पालन और उन्नति करते हो। तुम्हारे सामने ही शत्रुओं ने द्रौपदी से कठोर वचन कहे थे। भला ऐसा कौन पुरुष है जो स्त्री के अपमान को सह सकता हो? ॥१५।१६॥ तुम वनवासी हुए और तुम्हारा राज्य छीन लिया गया, इससे मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ। किन्तु पति-व्रता द्रौपदी को सभा में रोते-रोते उन दुष्टों की जो

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाऽध्यगच्छत्तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥ १९ ॥
तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ २० ॥
विदितं हि तवाऽत्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ २१ ॥
तयोश्चैतदवज्ञानं यत्सा कृष्णा सभागता ।
दुःशासनश्च यद्भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ॥ २२ ॥
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः ।
पाण्डवान्कुशलं पृच्छेः सपुत्रान्कृष्णया सह ॥ २३ ॥
मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान्मे प्रतिपालय ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—अभिवाद्याऽथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥ २५ ॥
ततो विसर्जयामास भीष्मादीन्कुरुपुङ्गवान् ।
आरोप्याऽथ रथे कर्णं प्रायात्सात्यकिना सह ॥ २६ ॥
ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः सङ्गता मिथः ।
जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥
प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।
दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाऽब्रुवन् ॥ २८ ॥

कठोर बातें सुननी पड़ीं वे ही मेरे मर्मस्थल में दर्द पहुँचाया करती हैं। पांच पतियों के रहने पर भी साध्वी द्रौपदी अनाथ की तरह अपमानित हुई, यही मेरे अधिक दुःख का कारण है ॥१७।१९॥ हे महाबाहु! तुम सब धनुर्द्धर पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन से फिर कहना कि हे वीर! तुम द्रौपदी के दिखाये मार्ग पर चलो, उसकी सम्मति से कार्य करो ॥२०॥ हे वासुदेव! यह तुमसे छिपा नहीं है कि भीमसेन और अर्जुन कुपित होकर देवताओं को भी मार सकते हैं। इससे बढ़कर उनका अपमान और क्रोध का कारण क्या हो सकता है कि उनकी प्यारी पत्नी द्रौपदी उस तरह भरी सभा में खींचकर लाई गई, और दुःशासन ने कौरव-समाज के सामने भीमसेन को वैसे कटु वचन कहे! हे भैया! तुम मेरे पुत्रों को फिर ये सब बातें स्मरण करा देना। मेरी ओर से पाण्डवों, द्रौपदी और उनके पुत्रों से उनकी कुशल पूछना और उनसे मेरे कुशल समाचार कहना। अब तुम जाओ। मार्ग में तुम्हें किसी प्रकार का विघ्न न हो। देखो, मेरे पुत्रों की रक्षा करते रहना ॥२१।२४॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् महाबाहु केशव ने कुन्ती को प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की। फिर सिंह की सी चाल से वहां से निकलकर

ततो निर्याय नगरात्प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥ २९ ॥
विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।
ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ॥ ३० ॥
ते पिबन्त इवाऽऽकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।
हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ॥ ३१ ॥
ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाऽऽशुगाः ।
उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

उन्होंने भीष्म आदि बड़े-बूढ़ों और प्रधान कौरवों को बिदा किया। इसके पश्चात् भगवान् कृष्ण ने सात्यकि को और कर्ण को भी अपने रथ पर बिठा लिया अब वे वहां से चल दिये।२५।२६।वासुदेवके चले जाने पर सब कौरव एकान्त में बैठकर उनके अद्भुत कामों की चर्चा करने लगे॥२७॥ वे कहने लगे–सारी पृथ्वी इस समय मोह और मृत्यु के वश में होरही है। दुर्योधन की मूर्खता के मारे यह राज्य नष्ट हो जायगा॥२८॥ इधर यदुकुलश्रेष्ठ श्रीकृष्ण नगर के बाहर पहुँचकर देर तक कर्ण से वार्तालाप करते रहे। इसके पश्चात् कर्ण को बिदा करके वे बड़ी शीघ्रता से अपना रथ हंकवाने लगे ॥२९।३०॥ मन के समान शीघ्रता से चलनेवाले घोड़े ऐसे दौड़ने लगे मानों वायु से बातें कर रहे हों। शीघ्रता से बाज की तरह चलकर, थोड़े ही समय में बहुत सी राह लांघ करके, उन घोड़ों ने श्रीकृष्ण को उपप्लव्य नगर में पाण्डवों के पास पहुँचा दिया ॥३१।३२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ सैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥
श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य सन्निधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ॥ २ ॥
तत्करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
नहि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ॥ ३ ॥
क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।

एक सौ अड़तीस अध्याय ॥ १३८ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! देवी कुन्ती ने श्रीकृष्ण से जो कुछ कहा, उसे सुनकर भीष्म और द्रोण ने बड़ों का शासन न माननेवाले दुर्योधन से कहा—हे पुरुषसिंह! कुन्ती ने केशव से जो धर्म और अर्थ से युक्त, श्रेष्ठ तथा उग्र वचन कहे हैं उन्हें तुमने भी सुना ॥१।२॥ कुन्ती की बातों

सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ॥ ४ ॥
कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ॥ ५ ॥
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ॥ ७ ॥
दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ॥ ८ ॥
कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चाऽपि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥ ९ ॥
रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरङ्गताम् ।
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक्कविः॥ १० ॥
तं गच्छ पुरुषव्याघ्र व्यपनीयेह किल्बिषम् ।
दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ॥ ११ ॥
प्रशान्तभ्रुकुटिः श्रीमान्कृता शान्तिः कुलस्य नः ।
तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ॥ १२ ॥
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिन्दम ।

से कृष्णचन्द्र भी सहमत हैं । पाण्डव अपनी माता की आज्ञा का पालन अवश्य करेंगे । वे धर्मबन्धन में बंधे हुए थे, इसी के कारण वे अब तक सब क्लेश सहते रहे । अब राज्य प्राप्त किये बिना वे कदापि शान्त न होंगे । तुमने सभा में द्रौपदी को जो क्लेश पहुंचाया है उसे केवल धर्म के भय से ही पाण्डवों ने शान्तिपूर्वक सह लिया था । इस समय वे प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास और अज्ञातवास कर चुके हैं । अब वह धर्म का भय नहीं है ॥३।४॥ अस्त्रविद्या में प्रवीण अर्जुन, दृढ़ निश्चयवाले भीमसेन, श्रेष्ठ धनुष गाण्डीव, अक्षय तरकस, वानर की ध्वजावाला रथ, असाधारण बलशाली नकुल और सहदेव और अकुण्ठित-शक्ति वासुदेव आदि सहायकों को पाकर राजा युधिष्ठिर कभी क्षमा नहीं करेंगे ॥५।६॥ हे महाबाहु ! यह बात तुमसे छिपी हुई नहीं है कि अबसे पहले विराट-नगरी में वीर अर्जुन अकेले ही हम सबको हरा चुके हैं ॥७॥ इसके सिवा निवातकवच आदि दानवों को भी उन्होंने मार डाला है ॥८॥ घोषयात्रा के समय तुम सबको जब गन्धर्व-राज चित्रसेन पकड़ ले चला था तब अर्जुन ने ही छुड़ाया था । इन्हीं बातों को अर्जुन के पराक्रम का नमूना समझ लो । इस कारण अपने भाइयों सहित तुम पाण्डवों से सन्धि कर लो और मृत्युमुख में पड़ी इस पृथ्वी को बचा लो ॥९।१०॥ देखो, युधिष्ठिर तुमसे बड़े, धर्मात्मा, प्रिय वचन बोलनेवाले और बुद्धिमान् हैं । इस कारण पापबुद्धि छोड़कर उनसे सन्धि कर लेने में ही तुम्हारा

अभिवाद्यमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ॥ १३ ॥
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ॥ १४ ॥
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ।
कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ॥ १५ ॥
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १६ ॥
आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाऽप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत्प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ॥ १७ ॥
मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
सङ्गच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं सन्त्यज्य पार्थिव ॥ १८ ॥
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ॥ १९ ॥
अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २० ॥
ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ २१ ॥
विशेषत इहाऽस्माकं निमित्तानि निवेशने ।
उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ॥ २२ ॥
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ॥ २३ ॥

कल्याण है ॥११॥ युधिष्ठिर तुम्हें जब शस्त्रहीन, शान्तमूर्ति प्रसन्नमुख देखेंगे तभी कुलकुल की रक्षा होगी ॥१२॥ इसलिए तुम पहले की तरह मन्त्रियों के साथ युधिष्ठिर के पास जाकर उन्हें प्रणाम करो और गले से लगाओ। भीम के बड़े भाई युधिष्ठिर स्नेह के साथ दोनों हाथों से तुम्हें गले से लगा लें ॥१३।१४॥ घुटनों तक लम्बी और स्थूल भुजाओं-वाले भीमसेन तुमसे गले मिलें, और कमल-नयन अर्जुन तुम्हें अभिवादन करें। नकुल और सहदेव तुम्हें बड़ा मानकर प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारी आराधना करें और श्रीकृष्ण आदि राजा लोग तुम्हें इस तरह पाण्डवों से मिलते देखकर आनन्द के आंसू बहावें। हे भैया! तुम अभिमान छोड़कर पाण्डवों से सन्धि कर लो और सब भाई एक साथ सारी पृथ्वी का साम्राज्य-भोग करो। युद्ध के लिये एकत्र हुए ये सब राजा लोग हर्ष के साथ एक दूसरे को गले से लगाकर अपने-अपने घर को लौट जायं ॥१८।१९॥ युद्ध में कुछ भी लाभ होने की सम्भावना नहीं है। इसलिए मित्रों का कहना स्वीकार कर लो। संग्राम में क्षत्रियों का सर्वनाश अवश्य होगा। लक्षण ऐसे ही देख पड़ते हैं ॥२०॥ देखो, नक्षत्र-तारा-ग्रह आदि ज्योतिर्मण्डल प्रतिकूल देख पड़ता है। मृग और पक्षी भयङ्कर भाव धारण किये प्रतीत होते हैं। क्षत्रियों के नाश की सूचना देनेवाले और भी अनेक भयङ्कर -

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम् ।
शिवाश्चाऽशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ॥ २४ ॥
कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम् ।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च ॥ २५ ॥
न चेत्करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ॥ २६ ॥
भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे ।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम् ।
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३८॥

उत्पात देख पड़ रहे हैं ॥२१॥ देखो, हमारे ही रहने के स्थानों में या उनके आस पास अधिकतर ऐसे असगुन और उत्पात प्रकट हो रहे हैं। प्रज्वलित उल्कापात देखकर तुम्हारे पक्ष के सैनिक व्याकुल हो रहे हैं ॥२२॥ हमारे सब वाहन व्याकुल होकर रो रहे हैं। नगर और राजभवन में पहले की सी दशा नहीं दिखाई देती। सियारनियां प्रज्वलित दिशा की ओर मुख करके अशुभ शब्द कर रही हैं। अशुभसूचक गिद्ध आदि पक्षी सैनिकों के ऊपर मँड़राते देख पड़ रहे हैं ॥२३।२४॥ इसलिए तुम पिता, माता इष्ट-मित्रों और हितैषी बन्धुओं की बात मानो। शान्ति और युद्ध सब तुम्हारे हाथ में है। मित्रों और हित-चिन्तकों की बात न मानोगे तो अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से अपनी सेना को पीड़ित और नष्ट होते देखकर तुम्हें पश्चात्ताप करना पड़ेगा। संग्राम में अग्नि के समान भयानक तेजवाले भीमसेन का भयङ्कर गर्जन और अर्जुन के गाण्डीव धनुष का शब्द सुनने पर हमारा यह कथन तुमको स्मरण आवेगा। जो तुम हमारे इस समझाने को अपने प्रतिकूल समझोगे तो ऐसा ही होगा ॥२५।२७॥

उद्योगपर्व का एक सौ अड़तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ।
संहृत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किञ्चिद्व्याजहार ह ॥ १ ॥
तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्याऽन्योन्यमन्तिकात् ।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ॥ २ ॥

एक सौ उनतालीस अध्याय ॥ १३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भीष्म और द्रोण की सम्मति सुनकर दुर्योधन व्याकुल सा हो गया। उसने सिर झुका लिया। वह भौंहें सिकोड़कर ग्लानि से टेढ़ी दृष्टि से पृथ्वी की ओर ताकने लगा। उसे व्याकुल देखकर भीष्म और द्रोण ने एक दूसरे की ओर देखा ॥१।२॥ फिर दुर्योधन से भीष्म ने कहा—बड़ों की सेवा करनेवाले, असूया-हीन, सत्यवादी, ब्रह्मनिष्ठ युधिष्ठिर से हमें संग्राम करना

भीष्म उवाच—शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥
द्रोण उवाच—अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनञ्जये ।
बहुमानः परो राजन्सन्नतिश्च कपिध्वजे ॥ ४ ॥
तं च पुत्रात्प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनञ्जयम् ।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५ ॥
यस्य लोके समो नाऽस्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः ।
मत्प्रसादात्स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ॥ ६ ॥
मित्रध्रुग्दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथाऽनृजुः शठः ।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवाऽऽगतः ॥ ७ ॥
वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥
मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनुप्रिये ।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम ॥ ९ ॥
त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च ।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाऽभिमन्यसे ॥ १० ॥
अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि ।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे ॥ ११ ॥
वाससैव यथा हि त्वं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे ।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद्यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ १२ ॥

पड़ेगा, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है? ॥३॥ द्रोण ने कहा—मैं अश्वत्थामा की तरह अर्जुन को भी प्यार करता हूँ। अर्जुन अश्वत्थामा से भी अधिक नम्रता के साथ मेरा सम्मान करते हैं ॥४॥ तथापि क्षत्रिय-धर्म के अनुरोध से, पुत्र से भी अधिक प्यारे, उन्हीं अर्जुन के साथ मुझे युद्ध करना होगा। क्षत्रिय-जीविका कैसी निन्दनीय है! ॥५॥ अद्वितीय धनुर्द्धर अर्जुन मेरे ही कारण सर्वश्रेष्ठ योद्धा हुए हैं ॥६॥ यज्ञस्थल में आये हुए मूर्ख की तरह मित्रद्रोही, दुष्ट-प्रकृति, नास्तिक, शठ और कुटिल हृदय पुरुष सज्जनों के समाज में पूजनीय नहीं हो सकता ॥७॥ पापी मनुष्य बार-बार मना करने पर भी पाप ही करता है। वैसे ही पुण्यात्मा पुरुष सदा पुण्य करने की ही इच्छा रखता है ॥८॥ हे भरत-श्रेष्ठ! तुमने शठता से पाण्डवों को धोखा दिया, तब भी उन्होंने तुम्हारे अनिष्ट का उपाय नहीं किया। तुम इस अपने ही दोष से नीचा देखोगे ॥९॥ देखो, कुरुश्रेष्ठ पितामह, मैं, विदुर और वासुदेव, सबने तुम्हारे हित की बातें कहीं, पर तुमने किसी की बात नहीं मानी ॥१०॥ तुम अपने को महाबलशाली समझ-कर वैसे ही पाण्डवसेना-सागर के पार जाना चाहते हो जैसे मगर, घड़ियाल और तिमि आदि जल-जन्तुओं

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम् ।
वनस्थमपि राज्यस्थं पाण्डवं को विजेष्यति ॥ १३ ॥
निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः ।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत ॥ १४ ॥
कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च ।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १५ ॥
दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः ।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ ॥ १६ ॥
त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च ।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद्व्यसनमाप्स्यसि ॥ १७ ॥
द्रौपदी यस्य चाऽऽशास्ते विजयं सत्यवादिनी ।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १८ ॥
मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनञ्जयः ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १९ ॥
सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ २० ॥
पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत्कार्यं भूतिमिच्छता ।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे ॥ २१ ॥
अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये ।
मा गमःससुतामात्यः सबलश्च पराभवम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३९

से पूर्ण समुद्र को गङ्गा का वेग लाँघ जाना चाहे ॥११॥ जैसे कोई दूसरे की पहनी माला या वस्त्र पहनकर उसे अपना ही समझे, वैसे ही तुम युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी लेकर लोभ के मारे उसे अपनी ही समझ रहे हो ॥१२॥ द्रौपदी और अस्त्र विद्या के पारदर्शी बुद्धिमान् भाइयों के साथ धर्मराज युधिष्ठिर वन में रहें, तो भी कोई राजा उन्हें परास्त नहीं कर सकता ॥१३॥ सब यक्ष दास की तरह जिनकी आज्ञा में चलते हैं उन कुबेर के आगे भी युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रतिभा का प्रभाव दिखा चुके हैं ॥१४॥ कुबेर के भवन से सब रत्न पाकर पाण्डव लोग इस समय तुम्हारे विशाल साम्राज्य पर आक्रमण करना चाहते हैं ॥१५॥ हमने अब तक यथाशक्ति दान, हवन और अध्ययन किया है; धन-दान से ब्राह्मणों को भी प्रसन्न करके हम कृतकार्य हो चुके हैं। हमारी आयु भी समाप्त हो चली है ॥१६॥ इसलिए पाण्डवों के साथ जूझने से तुम्हारे ही राज्य, धन, सुख, मित्र आदि का विनाश होगा और तुम्हीं पर विपत्ति आवेगी ॥१७॥ तप और व्रत करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी जिनकी विजय मनाती हैं, वासुदेव जिनके मन्त्री हैं, धनुप

धारण करनेवालों में प्रधान पराक्रमी अर्जुन जिनके भाई हैं, जितेन्द्रिय धीर ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन कठोर तप करनेवाले, उग्रवीर्य युधिष्ठिर को तुम कैसे जीत सकोगे? ॥१८।२०॥ मित्र पर कोई कठिन विपत्ति आ रही हो तो उस समय कल्याण की इच्छा रखनेवाले शुभचिन्तक को जैसा कर्तव्य करना चाहिए उसके अनुसार मैं फिर तुमसे कहता हूं कि संग्राम की आवश्यकता नहीं है। पाण्डवों से सन्धि करके कौरववंश का अभ्युदय होने दो। देखो, पुत्र, मित्र, मन्त्री और सेना को लेकर आप भी न डूबो॥२१।२२॥

उद्योगपर्व का एक सौ उनतालीस अध्याय समाप्त हुआ। १३९॥

अथ चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च सञ्जय ।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः ॥ १ ॥
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा ।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ॥ २ ॥
उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाऽब्रवीत् ।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाऽऽचक्ष्व सञ्जय ॥ ३ ॥
सञ्जय उवाच—आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च ।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥ ४ ॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः ।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥ ५ ॥
वासुदेव उवाच—उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनाऽनसूयया ॥ ६ ॥
त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान्सनातनान् ।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ॥ ७ ॥
कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते ।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ॥ ८ ॥

एक सौ चालीस अध्याय ॥ १४० ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! मधुसूदन श्रीकृष्ण राजपुत्रों और मन्त्रियों के साथ जब लौटे तब उन्होंने महारथी कर्ण को भी अपने रथ पर बिठा लिया। उस समय उन्होंने कर्ण से मेघगम्भीर स्वर में जो कुछ कोमल और तीक्ष्ण वचन कहे उन्हें मैं सुनना चाहता हूँ॥१।३॥ सञ्जय ने कहा—हे महाराज! वासुदेव ने कर्ण से कोमल और कठिन दोनों तरह की बातें कहीं। उनकी बातें प्रिय, धर्मसङ्गत, सत्य, हितकारी और हृदय में बैठ जानेवाली थीं। मैं श्रीकृष्णचन्द्र के वचन आपको सुनाता हूँ ॥४।५॥ वासुदेव ने कहा—हे कर्ण ! तुमने बहुत से वेदपारगामी ब्राह्मणों की सेवा की है; असूया छोड़कर निष्ठा और श्रद्धा के साथ अनेक तत्त्व उनसे समझे हैं॥६॥ तुम सनातन वेद का ठीक-ठीक मर्म समझ चुके हो। अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल धर्मशास्त्र का ज्ञान भी तुम्हें पूरा-पूरा है ॥७॥ देखो स्त्रियां जब क्वांरी

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ॥ ९ ॥
पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः ।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥
मया सार्द्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः ।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥ ११ ॥
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चाऽपराजितः ॥ १२ ॥
राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः ।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चाऽन्धकवृष्णयः ॥ १३ ॥
हिरण्मयांश्च ते कुम्भान्राजतान्पार्थिवांस्तथा ।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ॥ १४ ॥
राजन्या राजकन्याश्चाऽप्यानयन्त्वाभिषेचनम् ।
षष्ठे त्वां च तथा काले द्रौपद्युपगमिष्यति ॥ १५ ॥
अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥ १६ ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।
तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ १७ ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाऽभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ॥ १८ ॥

होती हैं तब दो तरह के पुत्र उत्पन्न करती हैं—एक कानीन (कन्यावस्था में ही उत्पन्न), दूसरा सहोढ़ (विवाह के पश्चात् जन्म लेनेवाला)। शास्त्रकारों ने उनका पिता उसी कन्या के होनेवाले पति को माना है ॥८॥ तुम भी कन्यावस्था में कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए हो। धर्म के अनुसार महाराज पाण्डु ही तुम्हारे पिता हैं। इसलिए चलो, राज्य के स्वामी तुम्हीं होगे ॥९॥ पाण्डव तुम्हारे पिता के कुल के और यादव लोग तुम्हारी माता के कुल के हैं। ये दोनों वंश राज्य प्राप्त करने में तुम्हारी सहायता करेंगे ॥१०॥ आओ, मेरे साथ चलो। पाण्डव भी तुम्हें कुन्ती का पुत्र और युधिष्ठिर का बड़ा भाई जाने ॥११॥ तुम्हारे छोटे पाँचों भाई, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, विजयी अभिमन्यु, आये हुए राजा लोग, राजपुत्र, अन्धक और वृष्णि वंश के सब यादव तुम्हारे चरणों में प्रणाम करेंगे ॥१२।१३॥ राजा और राजकुमारियाँ तुम्हारे अभिषेक के लिए सुवर्ण, चाँदी और मिट्टी के कलश, सब तरह की ओषधियाँ, बीज, रत्न, लता आदि अभिषेक की सामग्री लेकर उपस्थित हों ॥१४।१५॥ ब्राह्मणश्रेष्ठ पुरोहित धौम्य अग्निहोत्र करें और चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण तुम्हारा राज्याभिषेक करें। धर्मात्मा युधिष्ठिर युवराज पद पर बैठकर, रथ पर श्वेत चँवर

युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ १९ ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥ २० ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।
किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ २१ ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥ २२ ॥
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चाऽनुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥ २३ ॥
अहं च त्वाऽनुयास्यामि सर्वे चाऽन्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥ २४ ॥
भुंक्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥ २५ ॥
पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥ २६ ॥
स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः ।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥ २७ ॥
स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥ २८ ॥
मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्याऽस्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

हाथ में लिये,तुम्हारे पीछे-पीछे चलें | महाबली भीमसेन तुम्हारे सिर के ऊपर श्वेत छत्र लगावें ॥१९।२०॥ अर्जुन किंकिणीजाल-शोभित, व्याघ्रचर्ममण्डित, श्वेत घोड़ों द्वारा सञ्चालित तुम्हारा रथ हांकें। अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवा में खड़े रहे ॥२१॥ नकुल, सहदेव, द्रौपदी के पांचों पुत्र, पाञ्चालगण, महारथी शिखण्डी और मैं, सभी तुम्हारे अनुगामी होंगे ॥२२।२३॥ दाशार्ह और दाशार्णकुल तुम्हारे परिवार में सम्मिलित हो जायँगे ॥२४॥ इसलिए हे महाबाहु ! जप, होम और अन्य मङ्गलकार्य करते हुए तुम पाण्डवों के साथ राज्यसुख भोगो ॥२५॥ द्राविड़, कुन्तल, अन्ध्र, तालचर, चूचुप और वेणुप देश के वीर तुम्हारे आगे चलें॥२६॥ वन्दीजन अनेक वचनों से तुम्हारी स्तुति करें और पाण्डव तुम्हारी जय की घोषणा करें॥२७॥ हे कुन्तीपुत्र ! तुम नक्षत्रों से शोभित चन्द्रमा की तरह पाण्डवों के बीच रहकर राजकार्य करते हुए

कुन्ती का आनन्द बढ़ाओ। आज तुम्हारे मित्र लोग प्रसन्न हों, शत्रु दुखी और शङ्कित हों। तुममें और पाण्डवों में भ्रातृभाव स्थापित हो ॥२८।२९॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४० ॥

अथ एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

कर्ण उवाच—असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चाऽऽत्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ॥ १ ॥
सर्वं चैवाऽभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ॥ २ ॥
कन्यागर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥
सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥ ४ ॥
सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वाऽभ्यानयद्गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात्सौहार्दान्मधुसूदन ॥ ५ ॥
मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ॥ ६ ॥
तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद्धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ॥ ७ ॥
तथा मामभिजानाति सूतश्चाऽधिरथः सुतम् ।
पितरं चाऽभिजानामि तमहं सौहृदात्सदा ॥ ८ ॥

एक सौ इकतालीस अध्याय ॥ १४१ ॥

कर्ण ने कहा—हे श्रीकृष्ण! इसमें सन्देह नहीं कि तुम सौहार्द, प्रणय, मित्रता और मेरे कल्याण के लिए ही ऐसी बातें कह रहे हो। मैं यह सब जानता हूं। मैं धर्म के अनुसार महाराज पाण्डु का ही पुत्र हूं। माता कुन्ती ने कन्यावस्था में मुझे अपने गर्भ में धारण किया था और जन्म होते ही सूर्यनारायण की आज्ञा के अनुसार बहा दिया था ॥१।३॥ इससे महात्मा पाण्डु ही मेरे पिता हैं। किन्तु कुन्तीदेवी ने मेरी भलाई के बारे में कुछ भी ध्यान न देकर मुझे त्याग दिया ॥४॥ अधिरथ सूत ने मुझे देखते ही नदी से निकालकर अपनी स्त्री राधा को सौंप दिया ॥५॥ हे केशव! उस समय स्नेह के कारण राधा के स्तनों में दूध उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपने बालक की तरह मेरा मल-मूत्र उठाया ॥६॥ तब फिर आप ही बताइए, मुझ सरीखा धर्म का जानकार किस तरह उनसे कृतघ्नता कर सकता है? इस समय उन्हें छोड़कर उनका पिण्डलोप करना क्या मेरे लिए उचित होगा? ॥७॥ राधा की तरह अधिरथ भी मुझे अपना पुत्र जानते हैं और मैं भी उन्हें पिता की तरह मानता हूं ॥८॥ पुत्रवात्सल्य

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ॥ ९ ॥
नाम वै वासुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।
भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ॥ १० ॥
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण सञ्जातं कामबन्धनम् ॥ ११ ॥
न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद्भयाद्वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥ १२ ॥
धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १३ ॥
इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयाऽसकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ॥ १४ ॥
मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चाऽपि पाण्डवैः ॥ १५ ॥
तस्माद्रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान्परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥
वधाद्बन्धाद्भयाद्वाऽपि लोभाद्वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥
यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथे सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

के वश होकर अधिरथ ने शास्त्रविधि से ब्राह्मणों के द्वारा मेरे जातकर्म आदि संस्कार कराये और मेरा नाम वसुषेण रक्खा ॥९॥ जब मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ तब उन्होंने अपनी जाति की कन्याओं के साथ मेरा विवाह भी कर दिया ॥१०॥ इस समय उन स्त्रियों के गर्भ से पुत्र और पौत्र तक उत्पन्न हो चुके हैं। मेरा हृदय उन्हीं के स्नेह से भरा हुआ है ॥११॥ इसलिए मैं अमित सुवर्ण और अखण्ड भूमण्डल के लोभ से अथवा हर्ष या भय से किसी तरह इन सबको नहीं छोड़ सकता ॥१२॥ विशेषकर धृतराष्ट्र के कुल में दुर्योधन के आश्रित रहकर मैंने तेरह वर्ष तक अकण्टक राज्य भोग किया है ॥१३॥ अपनी जाति के सूतों के साथ कई यज्ञ भी मैं कर चुका हूं। मेरा विवाह-सम्बन्ध सूतों के साथ हुआ है और सूतों की ही रीतियां मेरे घर में प्रचलित हैं ॥१४॥ दुर्योधन मेरे ही आश्रय पाण्डवों से भिड़ने की तैयारी कर चुके हैं। मेरे ही आश्रय पर उन्होंने पाण्डवों से विरोध करने की हिम्मत की है ॥१५॥ द्वन्द्वयुद्ध में मैं ही अर्जुन से भिड़ने को चुना गया हूं। इसलिए इस समय वध, बन्धन, भय या लोभ के वश होकर मैं दुर्योधन को धोखा न दे सकूंगा ॥१६।१७॥ अर्जुन से यदि मैं संग्राम नहीं करूंगा तो उनकी और मेरी

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥ १९ ॥
मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥
यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥ २१ ॥
प्राप्य चाऽपि महद्राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिन्दम ॥ २२ ॥
स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः ।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जयः ॥ २३ ॥
पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ॥ २५ ॥
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चाऽपराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ॥ २६ ॥
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ॥ २७ ॥
महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ २८ ॥

निन्दा होगी ॥१८॥ हे कृष्णचन्द्र! मुझे इसमें सन्देह नहीं कि तुम मेरे हित की बात कह रहे हो। यह भी सत्य है कि पाण्डव तुम्हारे उपदेश के अनुसार चलकर सब कार्य सिद्ध कर लेंगे ॥१९॥ हे यदुश्रेष्ठ! मुझे यही उचित जान पड़ता है कि तुम इन बातों को, जो मुझसे और तुमसे हुई हैं, पाण्डवों से न कहना ॥२०॥ धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझे अपना बड़ा भाई जानेंगे तो सब राज्य मुझे दे देंगे; किन्तु मैं पहले की प्रतिज्ञा के अनुसार सब साम्राज्य दुर्योधन को सौंप दूँगा ॥२१।२२॥ मैं चाहता हूं कि धर्मराज युधिष्ठिर ही इस साम्राज्य के राजा हों। वासुदेव जिसके नेता हैं, भीम और अर्जुन जिसकी ओर से युद्ध करनेवाले हैं, नकुल सहदेव और द्रौपदी के पांच कुमार जिसके पृष्ठरक्षक हैं, वह क्यों नहीं अखण्ड पृथ्वीमण्डल का राज्य बहुत समय तक भोगेगा? युधिष्ठिर ने जैसा अपार क्षत्रियों का बल एकत्र किया है उसे देखकर कहना पड़ता है कि इन्हें और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। पाञ्चालराज के पुत्र धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, उत्तमौजा युधामन्यु, महारथी सात्यकि, सत्यधर्मा सोमक-पुत्र, धृष्टकेतु, चेकितान,

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥ २९ ॥
आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन्भविष्यति ।
होता चैवाऽत्र बीभत्सुः सन्नद्धः सकपिध्वजः ॥ ३० ॥
गाण्डीवं स्रुवस्तथा चाऽऽज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥
अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक्तत्र भविष्यति ॥ ३२ ॥
उद्गाताऽत्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन्स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद्रणे ॥ ३३ ॥
स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद्राजा युधिष्ठिरः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ॥ ३४ ॥
शङ्खशब्दाःसमुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ॥ ३५ ॥
नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक्तत्र भविष्यतः ॥ ३६ ॥
कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपंक्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन्यज्ञे जनार्दन ॥ ३७ ॥
कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ॥ ३८ ॥

लोहितवर्ण केकयगण, इन्द्रधनुष के समान विचित्र रङ्गवाले घोड़ों से शोभित महात्मा कुन्तिभोज, महाबली श्येनजित्, विराट के पुत्र शङ्ख और तुम, ये सब प्रधान-प्रधान क्षत्रिय युधिष्ठिर के सहायक हैं।२३।२८। इस समय दुर्योधन का शस्त्र-यज्ञ होगा। तुम उस यज्ञ के उपदेशक और 'अध्वर्यु' होगे। कवचधारी कपिध्वज अर्जुन 'होता' बनेंगे ॥२९।३०॥ गाण्डीव धनुष 'स्रुवा' होगा। पौरुष 'घी' होगा। अर्जुन के चलाये पाशुपत आदि अस्त्र यज्ञ में पढ़े जानेवाले 'वेदमन्त्र' होंगे ॥३१॥ अर्जुन के सदृश या उनसे भी अधिक पराक्रमी अभिमन्यु 'स्तोता' और गरज रहे भीमसेन 'उद्गाता' बनेंगे ॥३२॥ जप-होम-निरत युधिष्ठिर 'ब्रह्मा' की जगह होंगे। शङ्ख, मुरज, नगाड़े आदि के शब्द और वीरों के सिंहनाद ब्राह्मणों के मङ्गलपाठ के समान सुन पड़ेंगे ॥३३।३५॥ यशस्वी नकुल और सहदेव 'पशु बन्धन' का कार्य करेंगे ॥३६॥ विचित्र पताका-दण्ड-युक्त रथ 'यूप' से दिखाई पड़ेंगे ॥३७॥ कर्णी, नालीक, नाराच, वत्स-दन्त आदि बाण 'चमस' के स्थान को पूर्ण करेंगे। तोमर शस्त्र 'सोमरस' के कलश के समान, धनुष

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।
हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन्यज्ञे भविष्यति ॥ ३९ ॥
इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ ४० ॥
इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ॥ ४१ ॥
प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः॥ ४२ ॥
घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ ४३ ॥
दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यत्कृष्ण पावकात् ॥ ४४ ॥
यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ॥ ४५ ॥
यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति॥ ४६ ॥
दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक्तदा सूत्यं भविष्यति ॥ ४७ ॥
यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः।
तदा यज्ञावसानं तद्भविष्यति जनार्दन ॥ ४८ ॥
दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ॥ ४९ ॥

'पवित्री' के समान, तलवारें 'कपालपात्र' के समान, मस्तक 'पुरोडाश' के पाकपात्र के समान और रुधिर 'हवि' के समान होगा ॥३८।३९॥ स्वच्छ गदा, परिघ और शक्ति आदि अस्त्र हवन की लकड़ियों का काम देंगे। द्रोण और कृपाचार्य के शिष्य 'सदस्य' होंगे ॥४०॥ महावीर अर्जुन, द्रोण और अश्वत्थामा आदि के बाण 'परिस्तोम' होंगे ॥४१॥ महारथी सात्यकि 'प्रतिप्रास्थानिक' कर्म करेंगे। दुर्योधन इस यज्ञ की दीक्षा लेंगे। यह महासेना उनकी पत्नी होगी ॥४२॥ महाबली घटोत्कच बलिदान करेगा। श्रौत यज्ञ में अग्निकुण्ड से उत्पन्न राजकुमार धृष्टद्युम्न को इस यज्ञ की दक्षिणा समझिए ॥४३।४४॥ हे कृष्णचन्द्र! मैंने दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए पाण्डवों को कड़ुवे वचन कहकर जो अनुचित काम किया है, उसके लिए मुझे बड़ा ही पश्चात्ताप हो रहा है।४५। तुम जब अर्जुन के हाथ से मुझे मरा हुआ देखोगे तब इस यज्ञ का 'पुनश्चिति' कर्म होगा ॥४६॥ भीमसेन जब छाती पर चढ़कर दुःशासन का रुधिर

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ॥ ५० ॥
रुदन्त्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुररांकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ॥ ५१ ॥
विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ॥ ५२ ॥
शस्त्रेण निधनं गच्छेत्समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्याऽपि केशव ॥ ५३ ॥
तदत्र पुण्डरीकाक्ष विधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५४ ॥
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।
तावत्कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥ ५५ ॥
ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥ ५६ ॥
समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।
मन्त्रसंवरणं कुर्वन्नित्यमेव परन्तप ॥ ५७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४१॥

पियेंगे तब इस यज्ञ के 'सोमपान' का कार्य होगा ॥४७॥ शिखण्डी और धृष्टद्युम्न जब भीष्म और द्रोण को मारेंगे तब इस यज्ञ की समाप्ति होगी ॥४८।४९॥ धृतराष्ट्र के पुत्रों और पोतों की स्त्रियां जब स्वामी-पुत्र आदि के मरने से अनाथ होकर गान्धारी के साथ विलाप करेंगी तब इस कुत्ते-कौए-गिद्ध आदि की क्रीडा-भूमि शस्त्र यज्ञ का 'अवभृथ स्नान' होगा ॥५०।५१॥ हे केशव! इस समय ऐसा करो जिसमें युद्ध को सराहने योग्य मृत्यु से बचकर विद्या वयो-वृद्ध क्षत्रिय फिर पड़े-पड़े वृथा मृत्यु से न मरें ॥५२॥ उन्हें अत्यन्त पवित्र कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर शस्त्र-मृत्यु से मरने दो ॥५३॥ वह उपाय करो, जिसमें सब क्षत्रिय युद्ध में मरकर स्वर्गलोक को जायें। ऐसा करोगे तो जब तक पर्वत-नदी-वन सहित यह पृथ्वी रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्त्ति रहेगी। ब्राह्मण लोग शुभ अवसरों पर इस महाभारत युद्ध की कथा कहेंगे। इसलिए शान्ति का उद्योग छोड़कर अर्जुन को युद्ध-भूमि में क्षत्रिय-धर्म-पालन के लिए ले आओ ॥५४।५७॥

उद्योगपर्व का एक सौ इकतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२॥

सञ्जय उवाच—कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन्वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच—अपि त्वां न लभेत्कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।

मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥ २ ॥
ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥ ३ ॥
दिव्या माया विहिता भौमनेन समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि दृश्यन्ति चैवाऽत्र भयानकानि ॥ ४ ॥
न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान्ध्वजः कर्ण धनञ्जयस्य समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥ ५ ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाऽप्यग्निमारुते ॥ ६ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाऽशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ७ ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम् ॥ ८ ॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ९ ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे ॥ १० ॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ११ ॥

एक सौ बयालीस अध्याय ॥ १४२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! वीर कर्ण की बातें सुनकर श्रीकृष्ण मुसकाये और कहने लगे—हे कर्ण ! तुम कभी राज्य नहीं प्राप्तकर सकोगे, क्योंकि मैं तुमको पृथ्वी का राज्य देता हूँ, परन्तु तुम उसे लेने को उद्यत नहीं ॥१।२॥ इसमें सन्देह नहीं कि पाण्डवों की अवश्य विजय होगी । विश्वकर्मा ने अपनी माया से जिसे इन्द्रधनुष के समान बनाया है, जिसमें जय-दायक भयानक भूत रहते हैं और जो चारों ओर योजन भर फैली होने पर भी वृक्ष आदि में नहीं अटकती, वह अग्नि जैसी वानर-चिह्नित अर्जुन की ध्वजा इस समय उनके रथ पर फहराने लगी है ॥३।५॥ जब मेरे साथ अर्जुन को ऐन्द्र-आग्नेय-वायव्य दिव्य अस्त्र चलाते देखोगे और गाण्डीव धनुष का मेघगर्जन-तुल्य घोर शब्द सुनोगे तब सत्य, त्रेता या द्वापर नहीं होगा—साक्षात् कलियुग उपस्थित होगा ॥६।७॥ जब देखोगे कि जप-होम-तत्पर दुर्धर्ष महाराज युधिष्ठिर युद्ध-भूमि में आकर अपनी सेना की रक्षा करते हैं और अपने सूर्य के से प्रताप से शत्रु सेना को पीड़ित कर रहे हैं तब सत्य, त्रेता या द्वापर नहीं रहेगा ॥८।९॥ जब देखोगे कि भीमपराक्रमी भीमसेन मतवाले गजराज की तरह दुःशासन का रुधिर पीकर मारभूमि में नाच रहे हैं तब सत्य,

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ १२ ॥
युद्धायाऽऽपततस्तूर्णं वारितान्सव्यसाचिना ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १३ ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव ॥ १४ ॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १५ ॥
ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ॥ १६ ॥
सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः ।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नाऽत्युष्णशिशिरः सुखः ॥ १७ ॥
सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ॥ १८ ॥
तथा राज्ञो वदेः सर्वान्ये युद्धायाऽभ्युपागताः ।
यद्वो मनीषितं तद्वै सर्वं सम्पादयाम्यहम् ॥ १९ ॥
राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

त्रेता या द्वापर कोई युग नहीं रहेगा ॥१०।११॥ जब देखोगे कि भयानक धनुषवाले सव्यसाची अर्जुन समर में सामने आये हुए द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, कृपाचार्य, दुर्योधन और जयद्रथ आदि वीर महारथियों को अपने बाणों से पीछे हटा रहे है, तब सत्य, त्रेता या द्वापर नहीं रहेगा ॥१२।१३॥ जब देखोगे कि शत्रुपक्ष के वीरों को मारनेवाले महाबली नकुल और सहदेव युद्ध-भूमि में घोर शस्त्र बरसा बरसाकर दुर्योधन की सेना का नाश कर रहे हैं तब सत्य, त्रेता या द्वापर नहीं रहेगा ॥१४।१५॥ हे कर्ण ! तुम भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य से कहना कि युद्ध के लिए यही मास श्रेष्ठ है । इस मास में घास, ईंधन, खाने-पीने की सामग्रियां, सब तरह के फल, ओषधि आदि सामग्रियां (रसद) सहज में बहुत सी मिल सकती हैं । मक्खियों का उपद्रव भी आजकल कम है । कीचड़ का नाम तक नहीं है । जल भी स्वच्छ और मीठा है । ऋतु न तो बहुत गर्म है न बहुत ठण्डी ॥१६।१७॥ आज से सातवें दिन अमावास्या तिथि होगी, जिसके स्वामी इन्द्रदेव हैं । उसी दिन युद्ध का आरम्भ हो जाना चाहिए । युद्ध के लिए आये हुए अन्य राजाओं से भी कहना कि मैं तुम्हारी इच्छा अच्छी तरह पूर्ण करूँगा । दुर्योधन के सहायक राजा और राजपुत्र शस्त्रों के प्रहार से मरकर वीरों की गति प्राप्त करेंगे ॥१८।२०॥

उद्योगपर्व का एक सौ बयालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

सञ्जय उवाच—केशवस्य तु तद्वाक्यं कर्णः श्रुत्वाऽऽहितः शुभम्।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम् ॥ १ ॥
जानन्मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कार्त्स्न्येन विनाशः समुपस्थितः॥ २ ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥
असंशयमिदं कृष्ण महद्युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥ ४ ॥
राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥ ५ ॥
स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥ ६ ॥
पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥ ७ ॥
प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन्प्राणिनोऽधिकम् ॥ ८ ॥
कृत्वा चाऽङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं सङ्गमयन्निव ॥ ९ ॥
नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ॥ १० ॥

एक सौ तेंतालीस अध्याय ॥ १४३ ॥

सञ्जय कहते हैं कि श्रीकृष्ण के हितकारी वचन सुनकर कर्ण ने उनकी प्रशंसा की और फिर कहा—हे महाबाहु कृष्णचन्द्र ! तुम सब जान-बूझकर भी मुझे ऐसे चक्कर में डालने का उपाय क्यों कर रहे हो ! ॥१।२॥ मैं, दुर्योधन, दु:शासन और शकुनि, यही चार मनुष्य इस होनहार लोकक्षय का मूल-कारण हैं।३।इसमें संशय नहीं कि कौरवों और पाण्डवों का विकट संग्राम होगा। पृथ्वी में रक्त की नदी बहेगी ॥४॥ दुर्योधन की ओर से युद्धकरनेवाले राजा और राजपुत्र शस्त्रों की अग्नि में भस्म होकर अवश्य काल के मुँह का कौर होंगे ॥५॥ रोंगटे खड़े कर देनेवाले बुरे स्वप्न और दारुण उत्पात सदा देख पड़ते हैं ॥६॥ उनसे स्पष्ट भान पड़ता है कि दुर्योधन की पराजय और युधिष्ठिर की विजय होगी।७।देखो, क्रूर ग्रह शनैश्चर प्राणियों के क्लेश पाने की सूचना देता हुआ, प्रजापति जिसके देवता हैं उस, रोहिणी नक्षत्र को पीड़ित कर रहा है ॥८॥ मङ्गल ग्रह वक्री होकर ज्येष्ठा से अनुराधा नक्षत्र में जा रहा है। इसका परिणाम

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ॥ ११ ॥
निष्टनन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाऽभिनन्दन्ति माधव ॥ १२ ॥
प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ॥ १३ ॥
अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ॥ १४ ॥
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।
पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥
प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत्तेषां जयलक्षणम् ॥ १६ ॥
अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाऽप्यशरीरिण्यस्तत्पराभवलक्षणम् ॥ १७ ॥
मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवञ्जीवकसङ्घाश्चाऽप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ॥ १८ ॥
गृध्राः कङ्का वकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः ।
मक्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान् ॥ १९ ॥
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः ।

मित्रों का संहार ही है ॥९॥ पापग्रह राहु विशेष रूप से चित्रा नक्षत्र को पीड़ित कर रहा है ॥१०॥ यह उत्पात भी इस बात की सूचना दे रहा है कि कौरवों के ऊपर घोर विपत्ति आनेवाली है । चन्द्रमण्डल में कलङ्क का चिह्न फैलता जा रहा है । राहु सूर्य को ग्रसने के लिए उद्यत है । घोर शब्द के साथ आकाश से उल्कापात हो रहे हैं । पृथ्वी बार-बार चलायमान हो रही है ॥११॥ हाथी अशुभ शब्द कर रहे हैं और घोड़ों के आंसू बह रहे हैं । घोड़े जी लगाकर दाना-पानी नहीं खाते-पीते । इन दारुण उत्पातों का परिणाम यही है कि प्राणियों के लिए भयङ्कर भय हो और उनका विनाश हो ॥१२।१३॥ हे माधव! दुर्योधन की सेना के मनुष्य, हाथी और घोड़े थोड़ा भोजन करके बहुत मल त्याग करते हैं। ये सब कौरवों की हार के चिह्न हैं ॥१४।१५॥ इसके विरुद्ध पाण्डव-सेना के वाहन (सवारी) और मनुष्य प्रसन्न देख पड़ते हैं और मृग आदि शुभ पशु पाण्डवों की दाहनी ओर जाते और फिरते देख पड़ते हैं । यह पाण्डवों की विजय का लक्षण है ॥१६॥ बाईं ओर देख पड़ने-वाले मृग और आकाशवाणी दुर्योधन के पराजय की सूचना दे रही है ॥१७॥ मोर, हंस, सारस, पपीहा और चकोर आदि शुभ पक्षी पाण्डवों के अनुगामी देख पड़ते हैं ॥१८॥ गिद्ध, कौए, बगले, बाज़, राक्षस, भेड़िये और मक्खियां कौरवों के पीछे चलती देख

अनाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल ॥ २० ॥
उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत्पराभवलक्षणम् ॥ २१ ॥
मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव ।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत्समुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम् ।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ २३ ॥
उदयास्तमने सन्ध्ये वेदयन्ती महद्भयम् ।
शिवा च वाशते घोरं तत्पराभवलक्षणम् ॥ २४ ॥
एक पक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन ।
उत्सृजन्ति महद्घोरं तत्पराभवलक्षणम् ॥ २५ ॥
कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः ।
सन्ध्यामभिमुखा यान्ति तत्पराभवलक्षणम् ॥ २६ ॥
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन ।
भृत्यान्भक्तिमतश्चाऽपि तत्पराभवलक्षणम् ॥ २७ ॥
पूर्वा दिग्लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा ।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन ।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः ॥ २८ ॥

पडती हैं ॥१९॥ दुर्योधन की सेना में नगाडे, बजाने से भी, अच्छी तरह नहीं बजते । उधर पाण्डवों की सेना के नगाडे बिना बजाये ही बज उठते है ॥२०॥ हे श्रीकृष्ण ! दुर्योधन की सेना के पडाव में जो जलाशय हैं उनसे बैलों के डड़कने का सा शब्द निकलता है ॥२१॥ दुर्योधन की सेना के ऊपर आकाश से मास और रुधिर बरसता है । यह दुर्योधन की हार का लक्षण है । आकाश में दीवार, फाटक, खाई आदि सहित गन्धर्वनगर एकाएक सूर्य सहित प्रकट होने देख पडते हैं ॥२२॥ प्रात साय दोनों सन्ध्याओं में, उदय और अस्त के समय, सूर्यबिम्ब में काला घेरा पड़ते देख पड़ता हे । यह उत्पात भी विकट भय की सूचना देता है ॥२३॥ सियारनी घोर शब्द करती है । यह भी कौरवों की पराजय का लक्षण है ॥२४॥ एक पङ्ख, एक नेत्र और एक पावोंवाले पक्षी ज़ोर से चिल्लाते देख पडते हैं । यह भी पराजय का लक्षण है ॥२५॥ काली गरदन और लाल पावोंवाले भयानक पक्षी सन्ध्या को घोर शब्द करते हुए पश्चिम की ओर जाते देख पड़ते हैं । यह भी पराजय का लक्षण है ॥२६॥ दुर्योधन पहले से ही ब्राह्मणों, गुरुओ और भक्त सेवकों से द्वेष करते हैं । यह भी उनकी पराजय का लक्षण है ॥२७॥ पूर्व दिशा का लाल रङ्ग, दक्षिण दिशा का शस्त्रों का सा श्याम रङ्ग, पश्चिम दिशा का कच्चे मिट्टी के बरतनों का सा रङ्ग और उत्तर दिशा का शङ्ख का सा रङ्ग देख पड़ता है । दुर्योधन की छावनी के

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
महद्भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥ २९ ॥
सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः ।
अधिरोहन्मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत ॥ ३० ॥
श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः ।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये ॥ ३१ ॥
तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला ।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन ॥ ३२ ॥
अस्थिसञ्चयमारूढश्चाऽमितौजा युधिष्ठिरः ।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान्घृतपायसम् ॥ ३३ ॥
युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम् ।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम् ॥ ३४ ॥
उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम् ॥ ३५ ॥
क्षपयिष्यति नः सर्वान्स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३६ ॥
पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनञ्जयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३७ ॥
यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नाऽस्ति संशयः ।
पार्थिवान्समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥ ३८ ॥

चारों ओर आकाश में दिग्दाह की लाली देख पड़ती है। ये सब उत्पात आनेवाले भयङ्कर भय की सूचना दे रहे हैं ॥२८।२९॥ हे वासुदेव! मैंने स्वप्न में देखा है कि राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ हज़ार खम्भेवाले महल में जा रहे हैं ॥३०॥ पाँचों पाण्डव श्वेत पगड़ी बांधे, उसी रङ्ग के वस्त्र पहने और श्वेत ही आसनों पर बैठे मुझे देख पड़े ॥३१॥ मैंने यह भी स्वप्न में देखा कि तुम्हारी देह रुधिर में लथपथ हो रही है और उसमें बहुत सी आंतें लिपटी हुई हैं ॥३२॥ महापराक्रमी युधिष्ठिर को देखा कि वे हड्डियों के ढेर पर खड़े, सुवर्ण के पात्र में रक्खा हुआ घी और खीर प्रसन्नता से खा रहे हैं ॥३३॥ मैंने युधिष्ठिर को मिट्टी खाते देखा है। इससे मुझे निश्चय है कि वे तुम्हारी सहायता से सारी पृथ्वी प्राप्त करके राज्य करेंगे ॥३४॥ फिर मैंने स्वप्न में देखा कि पराक्रमी भीमसेन गदा हाथ में लिये ऊँचे पर्वत की चोटी पर चढ़कर सहज ही सारी पृथ्वी को लीले लेते हैं ॥३५॥ इससे भी जान पड़ता है कि वे संग्राम में हम सबको मारेंगे। हे वासुदेव! मैं समझता हूँ कि जहां धर्म है वहीं जय है ॥३६॥ मैंने यह भी स्वप्न में देखा कि अर्जुन तुम्हारे साथ श्वेत हाथी पर सवार हैं ॥३७॥ इसलिए इसमें सन्देह

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ॥ ३९ ॥
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ॥ ४० ॥
श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान्विजानीहि केशव ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ॥ ४२ ॥
उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ॥ ४३ ॥
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयाताः स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ॥ ४४ ॥
अहं चाऽन्ये च राजानो यच्च तत्क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नाऽस्ति संशयः ॥ ४५ ॥

कृष्ण उवाच—उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ॥ ४६ ॥
सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नाऽपसर्पति ॥ ४७ ॥

कर्ण उवाच—अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥ ४८ ॥

नहीं कि तुम लोग युद्ध में सब राजवंशों का विनाश करोगे ॥३८॥ मैंने फिर देखा कि श्वेत कवच, केयूर, माला और वस्त्र पहने नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकि बढ़िया रथ पर चढ़े हुए हैं, उनके सिर पर श्वेत छत्र लगा हुआ है ॥३९।४०॥ मैंने स्वप्न में दुर्योधन के सैनिकों को भी देखा ॥४१॥ मैंने देखा कि अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा श्वेत पगड़ी बाँधे हुए हैं, शेष सबके सिर पर लाल पगड़िया हैं ॥४२॥ मैंने यह भी देखा कि महावीर भीष्म और द्रोणाचार्य मुझे और दुर्योधन को साथ लिये ऊँट की सवारी से दक्षिण दिशा को जा रहे हैं ॥४३॥ हम सब शीघ्र मृत्यु के मुँह में जायगे, ये बातें उसी की पूर्व-सूचना है ॥४४॥ तात्पर्य यह है कि मैं, सब राजा और क्षत्रिय अवश्य ही गाण्डीव धनुष की अग्नि में भस्म हो जायगे ॥४५॥ श्रीकृष्ण ने कहा—हे कर्ण ! मेरा कहना तुम्हें नहीं रुचा, इसलिए मनुष्यों का नाश होगा ही। प्रतीत हो गया कि जब विनाश का समय आता है तब बुरी नीति अच्छी जान पड़ती है, और वह हृदय में ऐसी जम जाती है कि हटाये नहीं हटती ॥४६।४७॥ कर्ण ने कहा—हे जनार्दन ! हम जो इस वीर वंश-विनाशक महायुद्ध से सकुशल जीते बचे तो फिर तुमसे भेंट होगी। और, जो मर गये तो स्वर्ग में तुमसे

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयाऽनघ ॥ ४९ ॥

संजय उवाच—इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥ ५० ॥
ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहाऽस्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ॥ ५१ ॥
ततः शीघ्रतरं प्रायात्केशवः सहसात्यकिः ।
पुनरुच्चारयन्वाणीं याहि याहीति सारथिम् ॥ ५२ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मिलेंगे। मुझे तो जान पड़ता है कि स्वर्ग में ही हम लोगों की भेंट होगी॥४८।४९॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कर्ण ने यों कहकर श्रीकृष्ण को गले से लगा लिया। फिर वे उनसे बिदा होकर उनके रथ से उतरे और अपने सुनहरे रथ पर बैठकर, व्याकुल भाव से हस्तिनापुर लौट आये। इधर सात्यकि के साथ श्रीकृष्ण शीघ्रता से अपना रथ हँकवाते हुए युधिष्ठिर के पास चले॥५०।५२॥

उद्योगपर्व का एक सौ तैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ॥ १४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४॥

वैशम्पायन उवाच—असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान्गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाऽब्रवीत् ॥ १ ॥
जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥ २ ॥
उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ॥ ३ ॥
उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
कांक्षते ज्ञातिसौहार्दाद्बलवान्दुर्बलो यथा ॥ ४ ॥

एक सौ चवालीस अध्याय ॥ १४४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कौरवों के यहां सन्धि का प्रस्ताव व्यर्थ होने पर श्रीकृष्ण जब लौट गये तब विदुर ने कुन्ती के पास जाकर शोक प्रकट करते हुए धीमे स्वर में कहा—हे चिरंजीवी पुत्रोंवाली कुन्तीदेवी! यह तुमसे छिपा नहीं है कि युद्ध का रुक जाना ही मुझे अभिष्ट था; किन्तु मेरे बार-बार चिल्लाकर मना करने पर भी दुर्योधन मेरी बात नहीं सुनता॥१।२॥ धर्मराज युधिष्ठिर असाधारण बली हैं और धृष्टकेतु, पाञ्चालराज, केकयराजकुमार, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और सात्यकि आदि महारथी उनके सहायक हैं। वे कहीं दूर नहीं, उपप्लव्य नगर में ही ठहरे हुए हैं। किन्तु प्रबल होकर भी भ्रातृस्नेह और जाति-प्रेम के कारण दुर्बल की तरह धर्म ही चाहते हैं अर्थात् जातिभाइयों की हत्या से बचने के लिए सन्धि का प्रस्ताव कर रहे हैं॥३।४॥ परन्तु राजा धृतराष्ट्र बूढ़े होकर भी

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥ ५ ॥
जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते ॥ ६ ॥
अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वै कार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ॥ ७ ॥
क्रियमाणे बलाद्धर्मे कुरुभिः को न सञ्ज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥
ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन्न लभे निद्रामहःसु च निशासु च ॥ ९ ॥
श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥ १० ॥
धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महाञ्ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन्वै पराभवः ॥ ११ ॥
पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम् ॥ १२ ॥
पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथाऽयुद्धे पराभवम् ।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः ॥ १३ ॥

शान्ति नहीं चाहते और पुत्र के मद से मतवाले होकर अधर्म के मार्ग में बढ़े जा रहे हैं ॥५॥ जान पड़ता है कि जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन और शकुनि की दुर्बुद्धि से यह आपस का युद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। जो लोग धर्मात्मा के साथ ऐसा अधर्म का आचरण करते हैं उनका विनाश अवश्य होता ही है। दुर्योधन अधर्म से धर्मात्मा युधिष्ठिर का राज्य ले लेना चाहता है, इसलिए वह अधर्म ही उसका नाश करेगा। कौरव लोग बलपूर्वक अधर्म को धर्म बताते हैं। उनके इस आचरण को देखकर किसे सन्ताप न होगा? श्रीकृष्ण सन्धि कराने आये थे, पर उनका उपाय सफल नहीं हुआ। अब ज्योंही वे लौटकर पहुँचेंगे त्योंही पाण्डव युद्ध की तैयारी कर देंगे। युद्ध में कौरवों का नाश होगा। उनके अन्याय से और भी असंख्य वीर युद्धभूमि में मरेंगे। इसी चिन्ता के मारे न तो मुझे दिन को निद्रा आती है न रात्री को ॥६।७॥ हित चाहनेवाले विदुर के ये वचन सुनकर कुन्ती बहुत ही दुःखित हुई। वे लम्बी-लम्बी सांसें लेती हुई सोचने लगीं कि अनर्थ के कारणरूप अर्थ राज्य-ऐश्वर्य को धिक्कार है! उसी के कारण यह असंख्य जाति-भाइयों का नाश होगा! आत्मीय लोग ही अपने सगे लोगों की हत्या करेंगे ॥१०।११॥ पाण्डव, चेदि, पाञ्चाल, यादव आदि सब जातिवाले और नातेदार कौरवों से युद्ध करेंगे। इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी ॥१२॥ युद्ध में जातिनाश का दोष देख पड़ता है और युद्ध न करने से मेरे पुत्रों को

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते ।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ॥ १४ ॥
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम ।
नाऽऽचार्यः कामवाञ्शिष्यैर्द्रोणो युद्ध्येत जातुचित् १५ ॥
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः ।
अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान् ।
महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः ॥ १७ ॥
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति ।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान्प्रति ॥ १८ ॥
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम् ।
तोषितो भगवान्यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ ॥ १९ ॥
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि ।
साऽहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तीभोजपुरस्कृता ॥ २० ॥
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता ।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम् ॥ २१ ॥
स्त्रीभावाद्बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा ॥ २२ ॥
दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्ररक्षिणा ।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नाऽपराधवती कथम् ॥ २३ ॥

दुःख और पराभव सहना पड़ेगा। यह सत्य है कि निर्धन जीविकाहीन पुरुष का मरना ही श्रेष्ठ है, किन्तु असंख्य जाति-भाइयों की हत्या करके जय प्राप्त करना भी सराहनीय नहीं है। इन दोनों सङ्कटों की चिन्ता से मेरा मन दुःख के समुद्र में गोते खा रहा है। इधर महायोद्धा भीष्म, द्रोण और कर्ण को दुर्योधन के पक्ष में देखकर मुझे बड़ा भय लगता है। किन्तु यह निश्चय है कि आचार्य द्रोण शिष्यों पर कृपा करते हैं; वे अपने प्यारे शिष्यों से जी लगाकर युद्ध नहीं करेंगे ॥१३।१५॥ पितामह भीष्म भी पाण्डवों को स्नेह की दृष्टि से देखते हैं। [वे भी पाण्डवों का बुरा नहीं कर सकते।] एक पापबुद्धि कर्ण ही ऐसा है जो दुर्बुद्धि दुर्योधन के मोह में पड़कर सदा पाण्डवों से कुढ़ता रहता है। वह पाण्डवों के अनिष्ट की चिन्ता किया ही करता है। कर्ण बलवान् और वीर है। एक उसी से मुझे बड़ा खटका है। इससे इस समय कर्ण से जाकर मिलूँगी। मैं पता लगाऊंगी कि पाण्डवों के सम्बन्ध में उसका क्या अभिप्राय है। फिर सब गुप्त वृत्तान्त सुनाकर ऐसा उपाय करूंगी जिससे वह पाण्डवों का विरोध करना छोड़ दे। उसके जन्म का हाल आदि से अन्त तक उसे बता दूंगी। जब मैं पिता कुन्तिभोज के रनिवास में कन्यावस्था में

भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च ।
कौतूहलात्तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं ततः ।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं तदा ॥ २४ ॥
योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत्परिरक्षितः ।
कस्मान्न कुर्याद्वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा ॥ २५ ॥
इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम् ।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ॥ २६ ॥
आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः ।
गङ्गातीरे पृथाऽश्रौषीद्वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ २७ ॥
प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः ।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥ २८ ॥
अतिष्ठत्सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि ।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥ २९ ॥
आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः ।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः ।
उत्स्मयन्प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।१४४।

थी तब दुर्वासा ऋषि ने मेरी सेवा से सन्तुष्ट होकर मुझे एक मन्त्र का उपदेश देकर यह वरदान दिया था कि तुम पुत्र की इच्छा करके, इस मन्त्र के बल से, चाहे जिस देवता को अपने पास बुला सकोगी। वह वरदान मिलने पर स्त्रीस्वभावसुलभ चञ्चलता और बालकपन के मारे मैंने उस मन्त्र की परीक्षा करनी चाही। मन्त्र और ब्राह्मण के वचन की परीक्षा करने के लिए मेरे मन में ऐसा कौतूहल उत्पन्न हुआ कि मुझसे रहा नहीं गया। विश्वासपात्र धाय और सखियां सदा मेरी देखभाल रखती थीं। विशेषकर पिता की निन्दा, अपने लिए कलङ्क और अधर्म के भय से पहले तो मैं हिचकी, पर अन्त को कौतूहल को न रोक सकी। कन्यावस्था में ही दुर्वासा को प्रणाम करके मैंने वही मन्त्र पढ़ा और सूर्यदेव का आवाहन किया। उन्हीं सूर्य से कर्ण का जन्म हुआ है। कर्ण कन्यावस्था में उत्पन्न मेरा पुत्र है। फिर वह भाइयों के हित के लिए मेरी बात क्यों नहीं मानेगा! यह निश्चय करके कुन्ती कर्ण के पास गङ्गातट पर गईं। वहां जाकर उन्होंने देखा कि सत्यव्रत महावीर कर्ण पूर्व को मुंह किये, ऊपर को हाथ उठाये, सूर्य की उपासना में लगे है और गायत्री का जप कर रहे हैं। कुन्ती उनके पास जाकर पीछे खड़ी-खड़ी जप समाप्त होने की बाट जोहने लगीं। जब प्रचण्ड सूर्य की किरणों से कमलमाला के समान कुन्ती मुरझाने लगीं तब कर्ण के दुपट्टे की छांह में हट आईं। जब तक पीठ नहीं तपी तब तक गायत्री

का जप करके महातेजस्वी, बलवान्, व्रतधारी कर्ण ने मुंह फेरा तो कुन्तीदेवी को खड़े देखा। एकाएक उन्हें वहां देखकर कर्ण को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने यथोचित रूप से हाथ जोड़कर कुन्ती देवी को प्रणाम किया ॥१६।३१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चवालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

कर्ण उवाच—राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये ।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥
कुन्त्युवाच—कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाऽधिरथः पिता ।
नाऽसि सूतकुले जातः कर्ण तद्विद्धि मे वचः ॥ २ ॥
कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः ।
कुन्तीराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥ ३ ॥
प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः ।
अजीजनत्त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ॥ ४ ॥
कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः ।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ॥ ५ ॥
स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद्यदुपसेवसे ।
धार्तराष्ट्रान्न तद्युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥ ६ ॥
एतद्धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये ।
यत्तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाऽप्येकदर्शिनी ॥ ७ ॥
अर्जुनेनाऽर्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः ।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुंक्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ ८ ॥

एक सौ पैंतालीस अध्याय ॥ १४५ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! अब कर्ण ने कहा—हे देवी ! मैं राधा और अधिरथ का पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता हूं। आप किसलिए मेरे पास आई हैं ? कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूं ? ॥१॥ कुन्ती ने कहा—हे कर्ण ! तुम सूतकुल में नहीं उत्पन्न हुए। न तुम्हारी माता राधा हैं और न अधिरथ तुम्हारे पिता हैं। तुम मेरे—कुन्ती के—पुत्र हो। तुम मेरे कानीन और बड़े बेटे हो। मैंने कन्यावस्था में अपने पिता कुन्तिभोज के घर तुम्हें उत्पन्न किया है ॥२।३॥ हे वीर ! सब जगत् को प्रकाशित करनेवाले भगवान् सूर्य ने तुम्हें मेरे गर्भ से उत्पन्न किया है। तुम सब शस्त्र धारण करनेवाले वीरों में श्रेष्ठ हो ॥४॥ तुम जन्म के समय ही कवच और कुण्डल पहने, देवकुमार-सदृश शोभाशाली और बड़े दुर्धर्ष थे ॥५॥ तुम अपने भाइयों को नहीं जानते इसी से मोहवश दुर्योधन की सेवा कर रहे हो; यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥६॥ धर्मशास्त्र में लिखा है कि माता-पिता को प्रसन्न करना ही मनुष्य का मुख्य धर्म है ॥७॥ इसलिए जो राजलक्ष्मी अर्जुन ने अपने बाहुबल से जीतकर युधिष्ठिर को दी थी,

अद्य पश्यन्ति कुरवः कर्णार्जुनसमागमम् ।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य सन्नमन्तामसाधवः ॥ ९ ॥
कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं नु लोके स्याद्युवयोः संहितात्मनोः ॥ १० ॥
कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥ ११ ॥
उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥ १२ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४५॥

और जिसे दुष्टों ने युधिष्ठिर के हाथ से ले लिया है, वह तुम्हारी ही है। तुम दुर्योधन से वह राजलक्ष्मी लेकर राज्यसुख भोगो ॥८॥ कौरव लोग आज कर्ण और अर्जुन का मिलना देखें। तुम दोनों भाइयों को परस्पर भाई-चारे के बन्धन में बंधते देखकर दुष्ट लोग शोक से सिर झुका लें ॥९॥ कृष्ण-बलराम की तरह कर्ण-अर्जुन में स्नेह हो। तुम दोनों भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? हे बेटा ! जैसे महायज्ञ में वेदी पर देवताओं के बीच ब्रह्मा की शोभा होती है, वैसे ही पांचों भाइयों के बीच तुम्हारी शोभा होगी। हे कर्ण ! तुममें सब गुण विद्यमान् हैं और तुम अपने श्रेष्ठ भाइयों में बड़े हो। मैं चाहती हूं कि पराक्रमी कुन्तीपुत्र को लोग अब सूतपुत्र न कहें ॥१०।१२॥

उद्योगपर्व का एक सौ पैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ॥ १४५ ॥

अथ षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद्भास्करेरिताम् ॥ १ ॥
सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ॥ ३ ॥
कर्ण उवाच—न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत्स्यान्नियोगकरणं तव ॥ ४ ॥

एक सौ छियालीस अध्याय ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसी समय सूर्यदेव ने अपने मण्डल से पिता की तरह प्रेमपूर्ण स्वर में कर्ण से कहा—हे पुरुषसिंह ! कुन्ती सत्य कहती हैं, तुम माता का कहा मानो। माता का कहा मानने से सब तरह तुम्हारा कल्याण होगा ॥१।२॥ माता कुन्ती और पिता सूर्य के यों कहने पर भी सत्यव्रत कर्ण अपने निश्चय से तनिक भी नहीं डिगे। कर्ण ने कुन्ती से कहा—हे क्षत्रियाणी ! आपकी आज्ञा मानना मेरे लिए धर्म का द्वार अवश्य है, पर मुझे उस पर विश्वास नहीं होता ॥३।४॥

अकरोन्मयि यत्पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद्यशःकीर्तिनाशनम् ॥ ५ ॥
अहं चेत्क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाऽहितम् ॥ ६ ॥
क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ॥ ७ ॥
न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥ ८ ॥
कृष्णेन सहितात्को वै न व्यथेत धनञ्जयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात्पार्थानां समितिं गतम् ॥ ९ ॥
अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान्यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥ १० ॥
सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम् ।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥ ११ ॥
उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते ।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ॥ १२ ॥
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम् ।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ॥ १३ ॥

आपने बालकपन में मुझे त्याग दिया, जाति से भ्रष्ट कर दिया। यश मे तो मुझे अलग कर ही दिया, किन्तु एक प्रकार से मेरे प्राण भी ले लिये थे ॥५॥ मैं क्षत्रिय के कुल में उत्पन्न होकर भी आपके कारण क्षत्रिय के योग्य संस्कारों से हीन रहा। पापबुद्धिवाला शत्रु भी आपसे बढ़कर मेरा अहित नहीं कर सकता। पहले समय पर दया न करके इस समय आप अपने तात्पर्य से मेरे पास आई हैं और दुर्योधन का साथ छोड़ने को कहती हैं। पहले तो आपने माता की तरह मेरे हित का उपाय नहीं किया, और अब केवल अपने स्वार्थ के लिए आप मा-बेटे का सम्बन्ध जताने आई हैं ॥६।८॥ श्रीकृष्ण-समेत अर्जुन से किसे भय न होगा! इस कारण, इस समय, जो मैं भाई-चारा प्रकट करके पाण्डवों से मिल जाऊं तो कौन यह न समझेगा कि मैंने भयभीत होकर ही ऐसा किया है? ॥९॥ कोई नहीं जानता कि मैं पाण्डवों का भाई हूं। अब युद्ध के समय भाई-चारा प्रकट करके जो मैं पाण्डवों से मिलूं तो सब क्षत्रिय मुझे क्या कहेंगे? ॥१०॥ दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र सब तरह की सुखभोग की सामग्री देकर बराबर मेरा आदर और सत्कार करते आ रहे हैं, उसे मैं इस समय विफल कैसे कर सकता हूं? ॥११॥ जो लोग शत्रुओं से वैर बांधकर सदा मेरी उपासना करते हैं; जो लोग—वसुगण जैसे इन्द्र को मानते हैं वैसे ही—मुझे माननीय मानकर प्रणाम करते हैं, और जो लोग मुझे दुस्तर समर-समुद्र के पार जाने

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षति दुरत्ययम् ।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥ १४ ॥
अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम् ।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ १५ ॥
कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते ।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ॥ १६ ॥
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम् ।
नैवाऽयं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः ।
बलं च शक्तिं चाऽऽस्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥ १८ ॥
आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन्सत्पुरुषोचितम् ।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ १९ ॥
न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति ।
वध्यान्विषह्यान्संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवाऽर्जुनादृते ।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥ २१ ॥
अर्जुनं हि निहत्याऽऽजौ सम्प्राप्तं स्यात्फलं मया ।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥ २२ ॥

की नाव समझकर—उसके पार जाने की आशा से—मेरा आश्रय लिये हुए हैं, उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूं ! उनकी आशा को मैं कैसे चौपट कर सकता हूं ! ॥१२।१४॥ जो लोग दुर्योधन के आश्रय में थे उनके कर्तव्य-पालन का समय आ गया है। मैं प्राणों की ममता छोड़कर उनकी सहायता करने में मन लगाऊंगा। जो चञ्चल बुद्धिवाले दुराचारी लोग सदा स्वामी के द्वारा अच्छी तरह प्रतिपालित होकर ऐसे अवसर पर, उसके उपकार भुलाकर, उसे छोड़ देते हैं उनका न तो यह लोक बनता है और न परलोक ॥१५।१७॥ मैं असत्य नहीं कहता कि दुर्योधन आदि के लिए अपना सब बल और शक्ति लगाकर आपके पुत्रों से मैं संग्राम करूंगा। तात्पर्य यह है कि सज्जनों की तरह दया, धर्म और चाल-चलन की रक्षा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। इस कारण आपकी आज्ञा को, सचमुच हितकारिणी समझकर भी, मैं नहीं मान सकता। पर आपका मेरे पास आना और सिफारिश करना वृथा न होगा। मैं संग्राम में एक अर्जुन को छोड़कर आपके अन्य चार पुत्रों- युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव—को जान से नहीं मारूंगा ॥१८।२०॥ मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि संग्राम में युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव को मारने की शक्ति रखकर भी उन्हें छोड़ दूंगा। मैं युधिष्ठिर की सेना में एक अर्जुन से ही मरने-मारनेवाला संग्राम करूंगा ॥२१॥ क्योंकि अर्जुन को मार लेने से ही मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा। अथवा अर्जुन जो मुझको मार

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि ।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २३ ॥
इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात्प्रवेपती ।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ॥ २४ ॥
एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥ २५ ॥
त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन ।
दत्तं तत्प्रतिजानीहि सङ्गरप्रतिमोचनम् ॥ २६ ॥
अनामयं स्वस्ति चेति पृथाऽथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४६॥

सके तो मुझे अपार यश और स्वर्ग प्राप्त होगा ॥२२॥ हे यशस्विनी ! आपके पांच पुत्र कभी न नष्ट होंगे। मैंने जो अर्जुन को मारा तो भी और अर्जुन ने मुझ-को मारा तो भी पांच पाण्डव रहेंगे ॥२३॥ पुत्रों के नाश की शङ्का और दुःख से कांप रही कुन्ती ने अपने अभिप्राय से न डिगनेवाले वीर कर्ण को हृदय से लगाकर कहा—हे बेटा ! तुम जो कहते हो वही होता देख पड़ता है; कौरवों का नाश रुक नहीं सकता। क्या किया जाय, होनी बलवान् है ।२४।२५। हे शत्रुदमन ! तुमने अर्जुन को छोड़कर शेष चार भाइयों को न मारने की प्रतिज्ञा करके उन्हें अभय दिया है—यह भूल न जाना । हे कर्ण ! तुम आरोग्य रहो, तुम्हारा कल्याण हो । मैं जाती हूं । कर्ण ने फिर प्रणाम करके कुन्ती का सत्कार किया । कुन्ती अपने घर को गईं और कर्ण अपने महल की ओर गये ॥२६।२७॥

उद्योगपर्व का एक सौ छियालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४६ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन उवाच—आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिन्दमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥ १ ॥
सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ॥ २ ॥
विसृज्य सर्वान्नृपतीन्विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ॥ ३ ॥

एक सौ सैंतालीस अध्याय ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उधर शत्रुओं को पीड़ा पहुंचानेवाले भगवान् वासुदेव ने उपप्लव्य नगर में पाण्डवों के पास पहुंचकर हस्तिना-पुर का सब हाल कह सुनाया ॥१॥ बहुत देर तक वार्तालाप और सम्मति करके कृष्णचन्द्र विश्राम करने को अपने डेरे में गये ॥२॥ पाण्डवों ने सन्ध्या के समय विराट आदि राजाओं को विदा करके, सन्ध्या-वन्दन करके श्रीकृष्ण को बुलाया । फिर उसी बारे

सन्ध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच—मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान्हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ॥ ८ ॥
पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥
किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते ।
उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ॥ १० ॥
उक्तवान्हि भवान्सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः ।
धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ॥ ११ ॥
कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः ।
अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ॥ १२ ॥
तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
यथा च नाऽभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु ।
भवान्हि नो गतिः कृष्ण भवान्नाथो भवान्गुरुः ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच—शृणु राजन्यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः ।

में श्रीकृष्ण और पाण्डवों में वार्तालाप होने लगी ॥३।४॥ युधिष्ठिर ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! कौरव-सभा में दुर्योधन के साथ आपकी जो वार्तालाप हुई उसे फिर कहिए ॥५॥ श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने दुर्योधन से सत्य, रोचक और हित की ही बातें कहीं, किन्तु उस दुर्बुद्धि ने एक न सुनी ॥६॥ युधिष्ठिर ने कहा—हे वासुदेव ! पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण ने उस अनीति-परायण क्रोधी दुर्योधन से क्या कहा? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारी ने क्या कहा?॥७।८॥ हमारे लिए सदा शोक करनेवाले, श्रेष्ठ धर्मात्मा, चाचा विदुर ने और अन्य राजाओं ने क्या कहा ? ॥९।१०॥ हे जनार्दन ! कुरुश्रेष्ठ भीष्म, धृतराष्ट्र और अन्य सभासद राजाओं ने काम लोभ-क्रोध के वशीभूत दुर्मति दुर्योधन से जो कुछ कहा सो आप सुना तो चुके हैं किन्तु मैं उन बातों को अच्छी तरह समझ नहीं सका । इसलिए उन्हें दुबारा कहिए । हे प्रभु! आप ही हमारे लिए एकमात्र आश्रय हैं । हम आपको ही प्रभु और गुरु समझते हैं । इसलिए वह उपाय

मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ॥ १४ ॥
मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः ।
अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥
दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद्ब्रवीमि ते ।
तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ॥ १६ ॥
मम तात पिता राजञ्शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
तस्याऽहमेक एवाऽसं पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ १७ ॥
तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात्कथं सुतः ।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८ ॥
न चोच्छेदं कुलं यायाद्विस्तीर्येत कथं यशः ।
तस्याऽहमीप्सितं बुध्वा कालीं मातरमावहम् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च ।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव ।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २० ॥
तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान्कुरुकुलोद्वहः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान्मम पार्थिव ॥ २१ ॥
स्वर्याते ऽहं पितरि तं स्वराज्ये सन्न्यवेशयम् ।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ॥ २२ ॥

कीजिए जिसमें व्यर्थ समय नष्ट न हो॥११।१३॥वासुदेव ने कहा—हे धर्मराज ! कौरव-सभा में दुर्योधन से लोगों ने जो कुछ कहा, सो मैं सुनाता हूँ; सुनकर विचार कीजिए । दुर्योधन से मुझे जो कुछ कहना था वह कह चुकने पर वह हँस पड़ा । तब भीष्म ने क्रोधित होकर कहा—हे दुर्योधन ! कुल को बचाने के लिए जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे मन लगाकर सुनो । मेरी बातें सुनकर तुम अपने कुल की रक्षा और भलाई का उपाय करो॥१४।१६॥ हे भैया ! मेरे पिता महाराज शान्तनु सब लोकों में प्रसिद्ध थे। पहले उनके मैं ही एक पुत्र था । पण्डित लोग एक पुत्र का होना और न होना बराबर बताते हैं । इसी से एक और पुत्र के लिए पिताजी बहुत ही उत्कण्ठित हो उठे । किस तरह दूसरा पुत्र उत्पन्न करके मैं कुल की रक्षा कर सकूँगा, किस तरह मेरा नाम होगा, यही सोच उन्हें रहता था । पिता के हृदय का हाल जानकर मैं [व्यासदेव की माता] सत्यवती को अपनी माता बनाने के लिए दाशराज से ले आया । मैंने सिंहासन छोड़ने और क्वाँरे ही बने रहने की कठिन प्रतिज्ञा करके पिता का यह दूसरा विवाह करा दिया। उसी प्रतिज्ञा के कारण मैं राजसिंहासन पर नहीं बैठा। और जन्म भर ब्रह्मचारी रहा । यह बात तुम अच्छी तरह जानते ही हो । मुझे राज्य न करने से कभी खेद नहीं हुआ । मैंने बराबर प्रसन्नता के साथ अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया ॥१७।२१॥ हे राजकुमार ! कुछ समय के पश्चात् माता सत्यवती के गर्भ से धर्मात्मा महाबाहु विचित्रवीर्य का जन्म हुआ ॥२२॥ पिता का स्वर्गवास होने पर मैंने अपने छोटे भाई विचित्र-

तस्याऽहं सदृशान्दारान्राजेन्द्र समुपाहरम् ।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ॥ २३ ॥
ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।
स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ॥ २४ ॥
दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाऽभ्यधावन्मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ॥ २५ ॥
प्रजा ऊचुः—उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ॥ २६ ॥
पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ॥ २७ ॥
व्याधीन्प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ॥ २८ ॥
भीष्म उवाच—प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाऽक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद्वृत्तं स्मरतस्तथा ।
ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ॥ २९ ॥
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसन्तप्ता भव राजेति सन्ततम् ॥ ३० ॥

वीर्य को सिंहासन पर बिठाया और आप सेवक-भाव से सिंहासन के नीचे बैठकर उनकी सेवा और सहायता करने लगा ॥२३॥ जब विचित्रवीर्य विवाह योग्य हुए तब मैं बहुत से राजाओं को जीतकर स्वयंवर-सभा से उनके योग्य दो स्त्रियां ले आया और विवाह भी कर दिया। यह हाल भी तुम कई बार सुन चुके हो ॥२४॥ उसके पश्चात् परशुराम से मुझे द्वन्द्व युद्ध करना पड़ा। उस समय परशुरामजी के भय से नगर-निवासियों ने विचित्रवीर्य को नगर से बाहर भेज दिया ॥२५॥ अबोध भाई विचित्रवीर्य को, अधिक स्त्रीसङ्ग करने के कारण, यक्ष्मा रोग हो गया। इस प्रकार विचित्रवीर्य का देहान्त हो जाने पर कौरवों का राजसिंहासन शून्य हो गया। इन्द्र ने वर्षा करना बन्द कर दिया। तब सारी प्रजा भूख और भय से व्याकुल होकर मेरे पास दौड़ी आई ॥२६॥ सब लोग एकत्र होकर मुझसे आग्रह कर कहने लगे—हे शान्तनुकुलवर्द्धन! राजा के न होने से आपकी प्रजा नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। इस कारण हमारे कल्याण के लिए अब आप राज्य को सँभालिए। आपकी कृपा और प्रताप से यह अनावृष्टि का उत्पात शान्त हो जायगा ॥२७॥ हे भीष्मजी! भयङ्कर व्याधियों ने प्रजा को घेर रक्खा है। रोगों से भी असंख्य प्रजा मर रही है। जो प्रजा अभी जीती जागती है उसकी रक्षा का उपाय कीजिए ॥२८॥ हे वीर! आपकी दया के सिवा हमारे कष्ट मिटने का दूसरा उपाय नहीं है। इसलिए कृपा करके धर्म के अनुसार प्रजा

प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ॥ ३१ ॥
इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ॥ ३२ ॥
ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्याऽर्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च धुरि मा मां नियोजय ॥ ३३ ॥
ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाऽम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ॥ ३४ ॥
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन्पुनः पुनः ।
विशेषस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ॥ ३५ ॥
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाऽद्य सुतवत्सले ।
एवं तामनुनीयाऽहं मातरं जनमेव च ॥ ३६ ॥
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ॥ ३७ ॥
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन्स पुत्रानजनयत्तदा भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥ ३९ ॥

का पालन कीजिए। आपके रहते साम्राज्य का विध्वंस न होना चाहिए ॥२९॥ प्रजा के इस तरह दीनता के साथ बहुत-बहुत विनय करने पर भी मेरा मन न डिगा। क्योंकि, मैं समझता था कि अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करना सदाचार के विरुद्ध है। तब सब नगरवासी लोग, मेरी सौतेली मा सत्यवती, नौकर-चाकर, पुरोहित और बहुत शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण, दुःखित चित्त से, मेरे पास आये और अनुरोध करते हुए कहने लगे—हे सत्यव्रत! हमारे कल्याण के लिए तुम राजसिंहासन पर बैठो ।३०।३१। तुम्हारे उपस्थित रहते यदि तुम्हारे पितामह महाराज प्रतीप का सुरक्षित यह विशाल साम्राज्य तहस-नहस हो जाय तो निःसन्देह बड़े खेद की बात होगी ॥३२॥ तब मैं बहुत ही दुःखित और व्याकुल हो हाथ जोड़कर उनसे बार-बार कहने लगा कि मैंने पिता के बड़प्पन और कुल की रक्षा के लिए राजसिंहासन पर न बैठने की और विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर रक्खी है। उसे तोड़कर इस समय कैसे राजा बन जाऊँ? साधारण भाव से सबसे यों कहकर अन्त को हाथ जोड़कर माता को प्रसन्न करने के लिए मैंने कहा—हे जननी! मैं कुरुवंश में उत्पन्न महात्मा शान्तनु का पुत्र होकर कैसे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ूँ? विशेष कर मैंने आपके लिए ही यह प्रतिज्ञा की थी। हे माता! मैं आपका दास हूँ, आपका ही अन्न खाकर पलता हूँ, तो भी आपकी यह आज्ञा मानना मेरी शक्ति के बाहर है ॥३३।३७॥ हे दुर्योधन! माता और पुरवासियों को इस प्रकार शान्त करके मैंने अपने भाई की स्त्री के गर्भ से पुत्र उत्पन्न करने के लिए महर्षि वेदव्यास

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्याऽर्धं प्रदीयताम् ॥ ४० ॥
मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत्पुमानिह ।
माऽवमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ॥ ४१ ॥
न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव ।
मतमेतत्पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ॥ ४२ ॥
श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाऽभिशङ्कीर्वचो मम ।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

से प्रार्थना की। इसके लिए माता ने भी उनसे बहुत कुछ कहा ॥३८॥ हे भरतश्रेष्ठ! तब महर्षि ने मेरी प्रार्थना और माता की आज्ञा मानकर तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥३९॥ उनमें तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र सबसे बड़े होने पर भी अन्धे हुए, इसी से उन्हें राज्य नहीं मिला। सब लोकों में प्रसिद्ध वीर पाण्डु को राज-सिंहासन मिला ॥४०॥ इसलिए इस समय उनके पुत्र पाण्डव ही सिंहासन के अधिकारी हैं। अब तुम क्लेश न करके आधा राज्य उनको बाँट दो। सत्य पूछो तो मेरे जीते इस राज्य पर किसी का अधिकार नहीं है। इसलिए मेरी बात न टालो। मैं पाण्डवों और कौरवों का समान हितैषी हूँ ॥४१॥ हे पुत्र! मैं पाण्डवों पर और तुम पर एक सा स्नेह रखता हूँ। तुम्हारे पिता-माता और महात्मा विदुर का भी यही मत है ॥४२॥ तुम्हें बूढ़ों की बात स्वीकार करनी चाहिए। इसलिए निर्भय मेरे कहे के अनुसार कार्य करो। अपने प्राण और सर्वस्व को तथा और लोगों को व्यर्थ नष्ट करनेवाला हठ छोड़ दो ॥४३॥

उद्योगपर्व का एक सौ सैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४७ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

वासुदेव उवाच—भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत ।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ॥ १ ॥
द्रोण उवाच—प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्याऽर्थे यथा स्थितः ।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्याऽर्थे स्थितोऽभवत् ॥ २ ॥
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ॥ ३ ॥
ज्येष्ठाय राज्यमददद्धृतराष्ट्राय धीमते ।

एक सौ अड़तालीस अध्याय ॥ १४८ ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! भीष्म की बात समाप्त होने पर सब राजाओं के सामने द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा—हे भैया! महाराज प्रतीप के वंशधर शान्तनु और उनके पुत्र देवव्रत भीष्म ने कुल की रक्षा और भलाई के लिए आज तक जैसा उपाय किया है वैसा ही सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय महाराज पाण्डु ने भी किया है। उन्होंने छोटे भाई विदुर और बड़े भाई धृतराष्ट्र को राज्य का सब कार्य

यवीयसे तथा क्षत्रे कुरूणां वंशवर्धनः ॥ ४ ॥
ततः सिंहासने राजन्स्थापयित्वैनमच्युतम् ।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ॥ ५ ॥
नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत् ।
प्रेष्यवत्पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ॥ ६ ॥
ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
अन्वपद्यन्त विधिवद्यथा पाण्डुं जनाधिपम् ॥ ७ ॥
विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं स विदुराय च ।
चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ॥ ८ ॥
कोशसंवनने दाने भृत्यानां चाऽन्ववेक्षणे ।
भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ॥ ९ ॥
सन्धिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः ।
अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥
सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः ।
अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ॥ ११ ॥
कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि ।
सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुंक्ष्व भोगाञ्जनाधिप ॥ १२ ॥
ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नाऽर्थहेतोः कथञ्चन ।
भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ॥ १३ ॥
नाऽहं त्वत्तोऽभिकांक्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप ।

सौंप दिया और आप दोनों स्त्रियों को साथ लेकर वन को चले गये। बुद्धिमान् विदुर विनीत भाव से सिंहासन के नीचे बैठकर धृतराष्ट्र की सेवा करने और चंवर डुलाने लगे। सारी प्रजा भी महाराज धृतराष्ट्र को राजा समझकर उनका सम्मान करने लगी ॥१।७॥ हे दुर्योधन ! इस प्रकार वीर पाण्डु राजा धृतराष्ट्र और विदुर को, धरोहर के तौर पर, राज्य सौंपकर पृथ्वी में विचरने लगे॥८॥ कोष-एकत्र करना, धन देना, सेवकों की देख-भाल और सबका भरण-पोषण, ये सब कार्य सत्यप्रतिज्ञ विदुर के सिर पर ही थे ॥९॥ शत्रुदमन भीष्म ने सुलह, लड़ाई और राजाओं से बर्ताव आदि का भार अपने ऊपर ले लिया ॥१०॥ महाबली धृतराष्ट्र सिंहासन पर बैठकर विदुर की सहायता से राज्य के और सब कार्य करने लगे। तुम्हारे पिता और चाचा ने यों मिलकर राज्य की रक्षा की है। उसी श्रेष्ठ कुल में तुम भी उत्पन्न हुए हो। तुम्हें इस तरह अपने कुल में फूट डालना या क्लेश उत्पन्न करना कभी उचित नहीं। अब बुरी प्रवृत्ति को छोड़कर अपने भाई पाण्डवों से सन्धि कर लो और आनन्द के साथ राज्य करो ॥११।१२॥ मैं भय या लोभ से ऐसा नहीं कहता। इसमें मेरा कोई स्वार्थ भी नहीं। मुझे भीष्म से जीविका मिलती है।

यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद्भीष्मस्त्वाह तत्कुरु ॥ १४ ॥
दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन ।
समसाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ॥ १५ ॥
अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १६ ॥
वासुदेव उवाच—एवमुक्ते महाराज द्रोणेनाऽमिततेजसा ।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः ।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ॥ १७ ॥
विदुर उवाच—देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः ।
प्रनष्टः कौरवो वंशस्त्वयाऽयं पुनरुद्धृतः ॥ १८ ॥
तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे ।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन्कुलपांसनः ॥ १९ ॥
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे ।
अनार्यस्याऽकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ॥ २० ॥
अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः ।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ॥ २१ ॥
यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु ।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ॥ २२ ॥
चित्रकार इवाऽऽलेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि ।
प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ॥ २३ ॥

मैं तुमसे जीविका भी नहीं चाहता। स्मरण रक्खो कि जिधर भीष्म हैं उधर ही द्रोण हैं। इस कारण जो भीष्म ने कहा है वही करो ॥१३।१४॥ पाण्डवों को आधा राज्य दे दो। मैं तुम लोगों का भी गुरु हूं और पाण्डवों का भी। मुझे दोनों के ऊपर एक सा स्नेह है। अश्वत्थामा के समान ही अर्जुन मुझे प्यारे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। स्मरण रहे, जहां धर्म है वहीं जय है ॥१५।१६॥ महात्मा द्रोणाचार्य जब चुप हो गये तब विदुर ने भीष्म पितामह की ओर देखकर कहा—हे पितामह देवव्रत! मैं जो कहता हूं वह ध्यान देकर सुनिए। पहले आप डूब रहे कुरुवंश को विनाश से बचा चुके हैं, फिर इस समय मेरी बात पर ध्यान क्यों नहीं देते? मैं बार बार चिल्लाकर कह रहा हूं, पर आप उपेक्षा कर रहे हैं। श्रेष्ठ कुरुकुल में इस कुलाङ्गार दुर्योधन को क्या अधिकार है? यह होता कौन है? यह लोभी और कृतघ्न है। प्रकृति इसकी नीच है। लोभ ने इसकी बुद्धि को बिगाड़ दिया है। यह सब जानकर भी आप इसकी पापबुद्धि का विरोध नहीं करते ॥१७।२१॥ यह धर्म और अर्थ के ज्ञान में निपुण पिता के शास्त्रानुकूल उपदेश को भी नहीं सुनता। मैं सत्य कहता हूं कि अकेले इस दुर्योधन

नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम् ।
अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ २४ ॥
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह ।
बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ २५ ॥
शाधीदं राज्यमद्याऽऽशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।
प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विररामैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २७ ॥
ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ॥ २८ ॥
ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवाऽपराधं पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ॥ २९ ॥
राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्राज्यं कुरूणामनयाद्विहंसि ॥ ३० ॥
राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी तस्याऽनुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृप त्वं दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ॥ ३१ ॥

के कारण सब कौरवों का नाश होनेवाला है ॥२२॥ हे महाराज ! आप ऐसा कीजिए जिसमें कुरुकुल सर्वनाश से बच जाय । चित्रकार जैसे बड़े यत्न से रङ्ग भरकर चित्र बनाता है वैसे ही आपने इस राज्य की रचना और रक्षा की है । आपकी ही सहायता से मैं और धृतराष्ट्र दोनों इस राज्य को चलाते रहे हैं । प्रजापति जैसे प्रजा को उत्पन्न करके फिर उसका संहार करते हैं वैसे आपको अपने बढ़ाये इस राज्य और कुल का क्षय न करना चाहिए—अर्थात् कुल का सर्वनाश न होने देना चाहिए । जो आप यह समझते हों कि कुल का नाश होने ही वाला है, और आपकी बुद्धि नष्ट हो गई हो तो मुझे और धृतराष्ट्र को साथ लेकर वन को चल दीजिए; नहीं तो कपटी दुर्मति दुर्योधन को बाँधकर कैद में डाल दीजिए और पाण्डवों के साथ स्वयं इस साम्राज्य की रक्षा कीजिए । हे वीर ! ध्यान देकर कुछ उपाय कीजिए । इस युद्ध में पाण्डवों, कौरवों और अन्य राजाओं का सर्वनाश होता देख पड़ता है । महामति विदुर यों कहकर चुप हो गये और चिन्ता में डूबकर बारम्बार लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे ॥२३।२७॥ अब सुबल की बेटी देवी गान्धारी वंश-नाश के भय से व्याकुल और कुपित होकर सब राजाओं के सामने दुर्योधन से कहने लगीं—हे पापबुद्धि दुर्योधन ! मैं सभा में बैठे हुए इन राजाओं, ब्रह्मर्षियों और अन्य लोगों के आगे तुम्हारे और तुम्हारे मन्त्रियों के दोष कहती हूँ, उन्हें सुनो । हे दुरात्मा ! हमारे कुल का धर्म यही है कि कुल परम्परा से कुलवंश के लोग राज्य करें । पर तुम उस रीति को नहीं मानते और इस राज्य को नष्ट करने पर उतारू हुए हो ॥२८।३०॥ हे मूढ़ ! बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र और उनके भाई

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा न कामयेद्यो नृवरो नदीजः ॥ ३२ ॥
राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नाऽन्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥ ३३ ॥
यद्वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा देवव्रतः सत्यसन्धो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं राज्यं स्वधर्मान्परिपालयद्भिः ॥ ३४ ॥
अनुज्ञया चाऽथ महाव्रतस्य ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत्तत्सुहृद्भिर्नियोज्यं धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ॥ ३५ ॥
न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४८॥

दूरदर्शी विदुर के जीते रहते ही तुम राजा कैसे बनना चाहते हो ? यह तुम्हारा मोह है । महात्मा भीष्म के जीते रहते महानुभाव धृतराष्ट्र और विदुर भी पराधीन हैं, वे भी अपने मन से कुछ नहीं कर सकते । महात्मा भीष्म धर्मज्ञ हैं, इसी से अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर राज्य नहीं करना चाहते । इसी कारण महात्मा पाण्डु को यह राज्य मिला था । पाण्डु के पुत्र पाण्डव और उनके पुत्र-पौत्र ही इस राज्य के सच्चे वारिस हैं । इस समय सत्यप्रतिज्ञ भीष्म, महामति विदुर और महाराज धृतराष्ट्र जो कह रहे हैं वही करना चाहिए । अपने धर्म का पालन करते हुए अर्थ नाश न होने देना—पाण्डवों को राज्य दे देना—ही उचित है । इस समय इन हित-चिन्तक स्वजनों के कहे अनुसार कार्य करने से ही धर्म का सम्मान होगा । महात्मा भीष्म और धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर को राजा बनाकर, न्याय की रक्षा करें और धर्म-राज भी धर्म के अनुसार इस राज्य का पालन करें ॥३१।३६॥

उद्योगपर्व का एक सौ अड़तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४८ ॥

अथ एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

वासुदेव उवाच—एवमुक्ते तु गान्धार्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ॥ १ ॥
दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
तथा तत्कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ॥ २ ॥
सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः ।
सोमाद्बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ३ ॥

एक सौ उनचास अध्याय ॥ १४९ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे धर्मराज ! गान्धारी के कह चुकने पर सब राजाओं के सामने महाराज धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा—हे पुत्र ! जो तुम्हारे जी में कुछ भी पिता की भक्ति हो तो मेरी बातों को मन लगाकर सुनो और उन्हीं के अनुसार कार्य करो ।१।२। प्रजापति सोम इस कुरुवंश के आदि-पुरुष हैं । सोम

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत्प्रभुः ॥ ४ ॥
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः ।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ५ ॥
यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत् ।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्याऽमिततेजसः ॥ ६ ॥
यादवानां कुलकरो बलवान्वीर्यसम्मतः ।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ॥ ७ ॥
न चाऽतिष्ठत्पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातॄंश्चाऽप्यपराजितः ॥ ८ ॥
पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाऽभवद्बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन्न्यवसन्नागसाह्वये ॥ ९ ॥
तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ॥ १० ॥
ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ॥ ११ ॥
यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ॥ १२ ॥
एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ॥ १३ ॥
तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।

से छठी पीढ़ी में महाराज नहुष के पुत्र ययाति हुए ॥३॥ ययाति के पांच पुत्र थे। उनमें महातेजस्वी यदु सबमें बड़े थे ॥४॥ सब में छोटे राजा पुरु से यह कौरव-वंश चला है। दानवों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा के गर्भ से पुरु का जन्म हुआ था ॥५॥ महात्मा यदु देवयानी के पुत्र और शुक्राचार्य के नाती थे। दुर्बुद्धि और घमण्ड के कारण यदु ने पिता की आज्ञा नहीं मानी। वे पिता, भाई और अन्य क्षत्रियों को अपमानित करके, अपने बाहुबल से सब राजाओं को जीतकर, हस्तिनापुर में रहने लगे। ॥८।९॥ हे दुर्योधन! श्रेष्ठ राजा ययाति ने यह देखकर बड़े पुत्र यदु को शाप देकर राज्य के अधिकार से भी अलग कर दिया॥१०॥ यदु के जो और भाई बल के घमण्ड से उनके अनुगामी हुए उन्हें भी, अप्रसन्न होकर, ययाति ने शाप दिया।११। सबसे छोटे पुत्र पुरु ने पिता का कहना माना और वही राजसिंहासन पर बैठे।१२। यदि बड़ा पुत्र बड़ों की आज्ञा न मानता हो और उद्दण्ड हो तो उसे राज्य नहीं मिलता और अच्छे स्वभाववाला छोटा पुत्र बड़े-बूढ़ों की सेवा करने और पिता की आज्ञा मानने से राज्य पा सकता है, जैसा

प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४ ॥
तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ॥ १५ ॥
देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान्मे पितामहः ॥ १६ ॥
देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥ १७ ॥
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयङ्गमः ॥ १८ ॥
वदान्यः सत्यसन्धश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥ १९ ॥
बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ॥ २० ॥
अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥ २१ ॥
कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद्राजा पर्यशोचत चाऽऽत्मजम् ॥ २३ ॥

कि यदु के रहते पुरु का राजा होना प्रसिद्ध है ॥१३॥ इस राज्य पर तुम्हारा या मेरा अधिकार क्यों नहीं है, सो सुनो। मेरे प्रपितामह, जगत्प्रसिद्ध, सब धर्मों के जानकार महाराज प्रतीप धर्मानुसार राज्य करते थे। उनके देवतुल्य तीन पुत्र हुए ॥१४।१५॥ सबसे बड़े देवापि, मझले बाह्लीक और छोटे मेरे बाबा बुद्धिमान् शान्तनु थे। महातेजस्वी देवापि बालक-बूढ़े-जवान स्त्री पुरुष सबके प्रीतिपात्र थे। धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, पिता की सेवा और आज्ञा का पालन करनेवाले, उदार और सच्चरित्र होने के कारण पुर तथा नगर की प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी और प्रसिद्ध प्रतिष्ठित सज्जन लोग उनको मानते थे; परन्तु उनके शरीर में एक दोष यह था कि कोढ़ के चिह्न थे। तीनों भाइयों में परस्पर बड़ा स्नेह था ॥१६।२०॥ यथासमय बूढ़े महाराज प्रतीप ने बड़े पुत्र को राज-सिंहासन देने के लिए सब सामग्री मँगाकर एकत्र की। तब ब्राह्मण लोग, बड़े-बूढ़े और पुरवासी-नगर-निवासी लोग राजा के पास आकर देवापि को सिंहासन पर न बैठाये जाने के लिए कहने लगे—हे महाराज! राजकुमार देवापि में सभी गुण विद्यमान् हैं, परन्तु उनको कोढ़ है। इस कारण वे सिंहासन पर बैठने के अधि-कारी नहीं हैं। अङ्गहीन राजा को देवता बधाई नहीं

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ॥ २४ ॥
हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाऽभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन्द्विजर्षभाः ॥ २५ ॥
ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥ २६ ॥
वाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन्परित्यज्य प्राप्तवान्परमर्धिमत् ॥ २७ ॥
वाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन्राजा राज्यमकारयत् ॥ २८ ॥
तथैवाऽहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ॥ २९ ॥
पाण्डुस्तु राज्यं संप्राप्तः कनीयानपि सन्नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिन्दम ॥ ३० ॥
मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य ।
स कौरवस्याऽस्य कुलस्य भर्ता प्रशासिता चैव महानुभावः ॥ ३२ ॥
स सत्यसन्धः स तथाऽप्रमत्तः शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः ।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता ॥ ३३ ॥

देते। हे दुर्योधन ! प्रजा के द्वारा प्यारे पुत्र का राज्याभिषेक रुकते देखकर महाराज प्रतीप के आंसू भर आये। वे अपने पुत्र के लिए खेद प्रकट करने लगे। ब्राह्मणों ने देवापि का राज्याभिषेक रोक दिया ॥२१।२५॥ दुःख के मारे राजा की मृत्यु हो गई। तब तप करने के लिए देवापि वन को चले गये। मंझले भाई बाह्लीक पहले ही पिता, माता, भाई और राज्य छोड़-छाड़कर नाना के पास रहने लगे थे; क्योंकि नाना ने उन्हें गोद लेकर अपने भरे-पूरे राज्य का वारिस बना दिया था ॥२६।२७॥ इस कारण पिता की मृत्यु पर, मंझले भाई बाह्लीक की सम्मति से, जगत्प्रसिद्ध महाराज शान्तनु राजसिंहासन पर बैठकर धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करने लगे। हे भैया ! वैसे ही अङ्गहीन—अन्धा—होने के कारण मैं भी राजसिंहासन पर नहीं बैठ सका। पाण्डु यद्यपि मुझसे छोटे थे, तो भी उन्हें राजा का पद मिला। इसलिए पाण्डु के पश्चात् उनके पुत्रों के सिवा इस राज्य पर और किसी का अधिकार नहीं रह सकता। ॥२८।३०॥ जब मैंने राज्य नहीं पाया तब तुम भी राजा या राजपुत्र नहीं हो। फिर किस कारण तुम राज्य लेना चाहते हो ! सच तो यह है कि तुम बलपूर्वक दूसरे की सम्पत्ति छीन लेना चाहते हो।

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः ।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः ॥ ३४ ॥
अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः ।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत ॥ ३५ ॥
प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च ।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।१४९

महात्मा युधिष्ठिर राजा के पुत्र हैं और न्याय के अनुसार यह राज्य उन्हीं का है। इस कुरुकुल के शासक और स्वामी वही हैं। देखो, राजा युधिष्ठिर सत्यवादी, सावधान, शास्त्र की आज्ञा पर चलनेवाले, बन्धुओं का उपकार करनेवाले, प्रजा के प्यारे, मित्रों पर दया रखनेवाले, जितेन्द्रिय और सज्जनो के सहायक हैं। क्षमा, सहनशीलता, दम, सरलता, सत्य, शास्त्रज्ञान, सावधानी, विवेक, दया और बड़ों की आज्ञा मानना आदि सभी राजगुण युधिष्ठिर में हैं। किन्तु तुम राजपुत्र न होने के सिवा लोभी, भाइयों और बन्धुओं के प्रति पापबुद्धि रखनेवाले, खोटे स्वभाव के और घमण्डी हो। यह राज्य क्रम से पाण्डवों का ही है। तुम दूसरों का राज्य कैसे ले सकते हो? इसलिए मोह छोड़कर वाहन, वस्त्र, धन आदि के साथ आधा राज्य पाण्डवों को बांट दो, और आधा राज्य लेकर अपने भाइयों के साथ अपना निर्वाह करो। यही उचित है और तुम्हारे लिए हितकर है ॥३१।३६॥

उद्योगपर्व का एक सौ उनचास अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४९ ॥

अथ पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

वासुदेव उवाच—एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुध्यत ॥ १ ॥
अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद्राजानस्त्यक्तजीविताः ॥ २ ॥
आज्ञापयच्च राज्ञस्तान्पार्थिवान्नष्टचेतसः ।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ॥ ३ ॥
ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः ।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः ॥ ४ ॥

एक सौ पचास अध्याय ॥ १५० ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं—हे धर्मराज! भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र और गान्धारी के बहुत समझाने पर भी दुर्योधन सावधान नहीं हुआ। क्रोध से नेत्र लाल किये हुए वह पापी उन सबका अनादर करके वहां से उठकर चल दिया। काल के मुंह के कौर हो रहे अन्य राजा भी उठकर उसके पीछे-पीछे चल खड़े हुए ॥१।२॥ दुर्बुद्धि दुर्योधन ने मोह के वश हो रहे उन राजाओं को आज्ञा दी कि आज पुष्य नक्षत्र है, इसलिए तुम लोग आज ही कुरुक्षेत्र को रवाना हो जाओ ॥३॥ काल के वश हो रहे सब

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः ।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ॥ ५ ॥
यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद्विधत्स्व विशांपते ।
उक्तं भीष्मेण यद्वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ॥ ६ ॥
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत्ते कथितं राजन्यद्वृत्तं कुरुसंसदि ॥ ७ ॥
साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन्सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायाऽस्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥ ८ ॥
पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥ ९ ॥
यदा नाऽऽद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥ १० ॥
अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥ ११ ॥
निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान्सर्वान्वाग्भिर्मन्त्रेण चाऽसकृत् ॥ १३ ॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाऽब्रुवम् ।
अभेदात्कुरुवंशस्य कार्ययोगात्तथैव च ॥ १४ ॥

राजा उसकी आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक भीष्म को सेनापति बनाकर अपनी सब सेना के साथ शीघ्रता से कुरुक्षेत्र को जाने लगे ॥४॥ कौरव पक्ष की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के आगे तालचिह्नयुक्त ध्वजावाले रथ पर बैठे हुए भीष्म पितामह चले ॥५॥ हे राजेन्द्र ! कुरुसभा में जो कुछ हुआ; भीष्म, द्रोण, विदुर, धृतराष्ट्र और गान्धारी ने मेरे सामने दुर्योधन से जो कुछ कहा; सो मैंने तुमसे कह दिया। अब तुमको जो करना हो वह करो । हे महाराज ! मैंने कौरवों और पाण्डवों में सन्धि कराने की इच्छा से, और कुरुवंश में सत्यानाशी फूट को रोकने तथा प्रजा का नाश न होने देने के लिए, पहले देवताओं और मनुष्यों के ऐसे तुम लोगों के कामों का वर्णन करके सामनीति का प्रयोग किया । जब उसमें सफलता प्राप्त न हुई तब भेद डालने की इच्छा से सब राजाओं को एकत्र करके मैंने घोर, दारुण, अलौकिक करतब दिखाये ॥६।११॥ सभा में स्थित सब राजाओं को झिड़ककर, दुर्योधन को तिनके की तरह तुच्छ बताकर, और शकुनि तथा कर्ण को धमकाकर काम निकालना चाहा ॥१२॥ बारम्बार जुए आदि का वर्णन करके मैंने दुर्योधन आदि की निन्दा की और ऐसे वचनों से राजाओं को दुर्योधन के पक्ष से फोड़ने का उपाय

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥ १५ ॥
प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥ १६ ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्चग्रामान्विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥ १७ ॥
एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नाऽन्यथा ॥ १८ ॥
निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत्ते कथितं राजन्यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १९ ॥
न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डवा ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५०॥
समाप्तं च भगवद्यानपर्व।

किया। भेद नीति से भी जब काम नहीं चला तब मैंने दाननीति से काम लिया। वंश का घरेलू क्लेश मिटाने और काम सिद्ध करने के लिए मैंने कहा—"हे दुर्योधन ! पाण्डव लोग बड़े पराक्रमी होकर भी मान और प्रभुता छोड़कर, तुम्हीं को राज्य देकर, धृतराष्ट्र, विदुर और भीष्म के अधीन रहने को तैयार हो जायंगे। राज्य के स्वामी तुम्हीं बने रहो। उन पांचों भाइयों को जीविका और रहने के लिए पांच गांव दे दो। पाण्डवों का पालन करना तुम्हारा और तुम्हारे पिता का कर्तव्य है" ॥१३।१७॥ हे धर्मराज ! दुर्योधन इस पर भी प्रसन्न न हुआ। अब चौथे उपाय दण्ड-नीति के सिवा काम बनने का कोई उपाय नहीं रह गया। काल के वश हो रहे सब राजा अपनी सेना लेकर दुर्योधन की आज्ञा से संग्राम के लिए कुरुक्षेत्र को गये हैं। हे धर्मपुत्र ! कुरुसभा का सब वृत्तान्त मैंने कह दिया। सत्यानाश के लिए उद्योग करनेवाले, काल के वश हो रहे, कौरवगण बिना संग्राम के तुम्हें राज्य न देंगे ॥१८।२०॥

उद्योगपर्व का एक सौ पचास अध्याय समाप्त हुआ॥ १५० ॥
अथ सैन्यनिर्याण पर्व।
अथ एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन उवाच—जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥ १ ॥
श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्याऽपि यद्वाक्यं तत्सर्वमवधारितम् ॥ २ ॥

एक सौ एकयावन अध्याय ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण के वचन सुनकर उनके सामने ही धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों से बोले—हे भाइयो ! कुरुसभा में जो वार्तालाप हुई और श्रीकृष्ण ने जो विचार प्रकट किये,

तस्मात्सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥ ३ ॥
तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान्निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ४ ॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥ ५ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥
इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ॥ ७ ॥
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिःपावकोपमम् ।
तं तावत्सहदेवाऽत्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥ ८ ॥
सहदेव उवाच—संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
मत्स्यो विराटो बलवान्कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच—तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारद ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ॥ ११ ॥

सो सब तुमने अच्छी तरह सुन लिया ॥१।२॥ इसलिए अब तुम लोग संग्राम के लिए मेरी सेना को अलग-अलग भागों में बांटकर तैयार करो। विजय प्राप्त करने के लिए यह सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हुई है ॥३॥ महाराज द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, चेकितान, सात्यकि, शिखण्डी और भीमसेन, ये सात मनुष्य इस सात अक्षौहिणी सेना के भिन्न-भिन्न भागों के सञ्चालक बनाये जायं ॥४।५॥ ये सातों सेनापति वेद के जानकार, युद्धविद्या में निपुण, शूर, वीर, युद्ध में प्राण दे देने के लिए उद्यत, सच्चरित्र, नीति के ज्ञाता, लोकलज्जा से युक्त होने के कारण युद्ध से मुख न मोड़नेवाले, बाण-विद्या और अस्त्र-विद्या के अच्छे ज्ञाता और सब प्रकार के शस्त्रों से युद्ध करने में चतुर हैं। हे सहदेव! अब एक ऐसा मनुष्य बताओ, जो सातों सेनापतियों का मुखिया—प्रधान सेनापति—बनाया जाय; जो बाणरूप चिनगारियां बरसानेवाले भीष्म रूप अग्नि की आंच को युद्ध में सह सकता हो। बतलाओ, ऐसा प्रधान सेनापति कौन बनाया जाय? ॥६।८॥ सहदेव ने कहा—हे राजेन्द्र! जिनका सहारा पाकर हम अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने का उद्योग कर रहे हैं, जो हमारे सुख या दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझते हैं, ऐसे रणबांकुरे अस्त्र-निपुण महावीर मत्स्यराज विराट हम महायुद्ध में भीष्म आदि महारथियों से टक्कर ले सकते हैं ॥९।१०॥

वयसा शास्त्रतो धैर्यात्कुलेनाऽभिजनेन च ।
ह्रीमान्बलान्वितः श्रीमान्सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १२ ॥
वेद चाऽस्त्रं भरद्वाजाद्दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ॥ १३ ॥
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।
पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ॥ १४ ॥
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ॥ १५ ॥
पितेवाऽस्मान्समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ॥ १६ ॥
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद्राजा सखा चाऽङ्गिरसो नृपः ॥ १७ ॥
माद्रीसुताभ्यामुक्ते तु स्वमते कुरुनन्दनः ।
वासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद्वचः ॥ १८ ॥
योऽयं तपःप्रभावेन ऋषिसन्तोपणेन च ।
दिव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ॥ १९ ॥
धनुष्मान्कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः ।
दिव्यैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात्समुत्थितः ॥ २० ॥
गर्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान् ।
सिंहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥ २१ ॥
सिंहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः ।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब नकुल ने कहा—हे महाराज ! अवस्था में बड़े, धीर, शास्त्रज्ञानी, कुलीन, लोकलज्जा रखनेवाले, महाबली, पराक्रमी, महर्षि भरद्वाज से सब अस्त्र सीखनेवाले, बड़े दुर्धर्ष, सत्यपरायण, महावीर भीष्म और द्रोण की बराबरी का दावा रखनेवाले, पिता की तरह सदा हम लोगों की रक्षा और देखरेख करनेवाले, श्रेष्ठ अस्त्रों के जानकार, सैकड़ों शाखाओं से युक्त महावृक्ष की तरह पुत्र-पौत्र-परिवार से पूर्ण और सब राजाओं से मान पानेवाले महाराज द्रुपद हमारे पक्ष के प्रधान सेनापति हों। वे भीष्म और द्रोण के आक्रमण को सहज ही सँभाल सकते हैं ॥११।१७॥ अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! मेरी समझ में अग्नि-तुल्य दिव्य पुरुष महाबाहु धृष्टद्युम्न प्रधान सेनापति होने योग्य हैं। वे ऋषियों की प्रसन्नता और तपोबल के प्रभाव से दिव्य घोड़ोंवाले रथ पर सवार, धनुष और कवच धारण किये अग्निकुण्ड से प्रकट हुए हैं ॥१८।२०॥ उनके रथ का शब्द मेघ के गरजने के समान गम्भीर है। उनका डीलडौल, पराक्रम, हृदय, भुजा, कन्धे और गरजना सिंह का सा है। वे वीर, बली और तेजस्वी

सिंहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ॥ २२ ॥
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः ।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः ।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद्भीष्मस्य सायकान् ।
वज्राशनिसमस्पर्शान्दीप्तास्यानुरगानिव ॥ २५ ॥
यमदूतसमान्वेगे निपाते पावकोपमान् ।
रामेणाऽऽजौ विषहितान्वज्रनिष्पेषदारुणान् ॥ २६ ॥
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥ २७ ॥
क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान्मातङ्ग इव यूथपः ॥ २८ ॥
भीमसेन उवाच—वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ॥ २९ ॥
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः ।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ॥ ३० ॥
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात्तु शिखण्डिनम् ।
शस्त्रेण समरे राजन्सन्नद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नाऽन्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम् ।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ ॥

हैं। भौंहें, दांत, ठोढ़ी, बाहु, मुख, नेत्र, चरण आदि उनके सब अङ्ग सुडौल हैं। गजराज-सदृश धृष्टद्युम्न पर कोई शस्त्र कारगर होने का नहीं। फुर्तीले, विचित्र युद्ध करनेवाले, सत्यवादी और जितेन्द्रिय धृष्टद्युम्न का जन्म आचार्य द्रोण को मारने के लिए ही हुआ है। मेरी समझ में भीष्म के वज्र जैसे, सर्पसदृश, मन्त्रित और यमदूत के समान बाणों को धृष्टद्युम्न ही सह सकते हैं। भीष्म पितामह के भयङ्कर बाणों को या तो परशुराम ने सहा था, और या अभेद्य कवच पहननेवाले धृष्टद्युम्न सह सकते हैं। और कोई ऐसा वीर नहीं जो भीष्म के पराक्रम को सह सके। मेरी समझ में दलपति मस्त हाथी के समान धृष्टद्युम्न को ही प्रधान सेनापति बनाना उचित होगा।२१।२८। अब भीमसेन ने कहा—हे राजेन्द्र! सिद्धों और महर्षियों का कहना है कि शिखण्डी का जन्म भीष्म पितामह को मारने के लिए ही हुआ है। वे जब संग्राम में अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करेंगे तब महात्मा परशुराम के समान जान पड़ेंगे ॥२९।३०॥ हे राजेन्द्र! मुझे ऐसा कोई वीर नहीं देख पड़ता जो शिखण्डी को घायल कर सके या संग्राम से विचलित कर सके।

युधिष्ठिर उवाच—सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम् ।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ॥ ३३ ॥
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥ ३४ ॥
एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।
अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे ॥ ३५ ॥
एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ॥ ३६ ॥
ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ॥ ३७ ॥
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षो धनञ्जयमवेक्ष्य ह ॥ ३९ ॥
ममाऽप्येते महाराज भवद्भिर्य उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ॥ ४० ॥
सर्व एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुं ।
इन्द्रस्याऽपि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ॥ ४१ ॥

द्वन्द्वयुद्ध में भीष्म को मारनेवाला शिखण्डी के सिवा और कोई नहीं। मेरी सम्मति यह है कि शिखण्डी को प्रधान सेनापति बनाया जाय ॥३१।३२॥ सबकी सम्मति सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—महात्मा वासुदेव सारे संसार के बल और पराक्रम को जानते हैं। इस समय वे जिसे बतावेंगे उसी को मैं अपना प्रधान सेनापति बनाऊँगा। चाहे अस्त्रविद्या में निपुण हो और चाहे अस्त्रकला को बिल्कुल न जानता हो, बूढ़ा हो चाहे जवान, जिसे श्रीकृष्ण बतावेंगे उसी को मैं प्रधान सेनापति का पद दूँगा। श्रीकृष्ण ही हमारी जय या पराजय की जड़ हैं। हमारे प्राण, राज्य, भाव-अभाव, सुख-दुःख और सिद्धि या असिद्धि सब कुछ श्रीकृष्ण के ही हाथ में है। हमारे लिए यही धाता और विधाता हैं। श्रीकृष्ण जिसे कहें वही हमारा सेनापति हो। अब रात्रि हो गई। हम लोग श्रीकृष्ण के अधीन हैं; इन्हीं के बताये हुए पुरुष को अपना सेनापति बनाकर प्रातःकाल स्वस्त्ययन करके पूजे हुए शस्त्र-अस्त्र लेकर हम युद्ध-भूमि को चलेंगे ॥३३।३८॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धर्मराज के वचन सुनकर, अर्जुन की ओर देखकर, श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजेन्द्र! इन लोगों ने सेनापति बनाने के लिए जिन पुरुषों के नाम लिये वे सब सेनापतिपद के योग्य, युद्ध में निपुण और शत्रुओं को हराने में समर्थ हैं। लोभी और पापी धृतराष्ट्र के पुत्रों की तो कोई बात ही नहीं, संग्राम में इन्हें देखकर इन्द्र आदि देवता भी

किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।
मयाऽपि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ॥ ४२ ॥
कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ॥ ४३ ॥
कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ॥ ४४ ॥
युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनञ्जयम् ॥ ४५ ॥
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ ४६ ॥
अभिमन्युं द्रौपदेयान्विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चाऽन्यान्नरेन्द्रान्भीमविक्रमान् ॥ ४७ ॥
सारवद्बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिन्दम ।
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ॥ ४९ ॥
तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।
योग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ॥ ५० ॥
हयवारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ॥ ५१ ॥

भयभीत हो जायँगे ॥३९।४१॥ हे भरतकुलतिलक! शान्ति स्थापित करने के लिए यद्यपि मैंने कोई बात उठा नहीं रक्खी, पर कुछ फल नहीं हुआ। इतना लाभ अवश्य हुआ कि हम अपने धर्म का पालन कर चुके और इसी कारण हम संग्राम के लिए लोग हमें बुरा न कहेंगे ॥४२।४३॥ अबोध और बाल-प्रकृति दुर्योधन अपने को अस्त्र-शस्त्र-विद्या का बेजोड़ जानकार और बलवान् समझता है। मृत्यु उसके सिर पर नाच रही है, इसी से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। अब तुम अपनी सेना सजाओ। महावीर अर्जुन, क्रोधी भीमसेन, काळसदृश नकुल, यमराज-तुल्य सहदेव, युयुधान, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, राजा विराट, द्रुपद, द्रौपदी के पांचों पुत्रों और अन्य अनेक अक्षौहिणीपति नरेन्द्रों से धृतराष्ट्र के पुत्रों का युद्ध करना कैसा, इन लोगों की ओर वे आंख उठाकर देख तक भी न सकेंगे। हमारे पक्ष के बलवान् दुर्धर्ष योद्धाओं की सेना युद्ध-भूमि में कौरवों को और उनकी सेना को मारकर विजय प्राप्त करेगी ही। मैं भी धृष्टद्युम्न को प्रधान सेनापति बनाने की सम्मति देता हूं ॥४४।४९॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण की सम्मति सुनकर सब लोग प्रसन्नता से आनन्द-कोलाहल करने लगे। यह कोला-

तदुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
रथपत्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाऽऽकुलम् ॥ ५२ ॥
धावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाऽभिभुः ।
प्रयास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ॥ ५३ ॥
गङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।
अग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ॥ ५४ ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
प्रभद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ॥ ५५ ॥
ततः शब्दः समभवत्समुद्रस्येव पर्वणि ।
हृष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवाऽस्पृशत् ॥ ५६ ॥
प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५७ ॥
शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥ ५८ ॥
फल्गु यच्च बलं किञ्चित्तच्चाऽपि कृशदुर्बलम् ।
तत्संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥ ५९ ॥
उपप्लव्ये तु पांचाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सहस्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ॥ ६० ॥

हल चारों ओर फैल गया। फुर्ती से इधर-उधर दौड़-कर सब सैनिक "तैयारी करो, युद्ध की तैयारी करो" कहते हुए अपना उत्साह प्रकट करने लगे। घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघार, रथों के पहियों की घरघराहट, शङ्ख और नगाड़ों का शब्द चारों ओर दूर तक गूँज उठा। पैदल, रथ, हाथी, घोड़े आदि से भरी वह सेना लहरोंवाले और उमड़ रहे समुद्र के समान जान पड़ने लगी। कुछ लोग इधर से उधर दौड़े जा रहे थे, कुछ एक दूसरे को नाम पर चलने के लिए बुला रहे थे, और कुछ लोग कवच पहन रहे थे। युद्ध के लिए रवाना हो रहे पाण्डवों की दुर्धर्ष सेना गङ्गा की बाढ़ के समान जान पड़ने लगी। बस सेना के अगले भाग में भीमसेन, कवच पहने नकुल, सहदेव, अभिमन्यु, द्रौपदी के पाचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, प्रभद्रक और पाञ्चाल देश के वीर चले। प्रसन्नतापूर्वक जा रहे वीरों के सिंहनाद का शब्द, पौर्णिमा के दिन बढ़े हुए समुद्र के गर्जन के समान, आकाश तक भर गया ॥५०।५६॥ कवच पहने हुए, प्रसन्नचित्त, शत्रुसेना का नाश करनेवाले योद्धाओं के बीच में राजा युधिष्ठिर चले। छकड़े, बाज़ार, डेरे, छोलदारिया, कनातें, वेश्याओं के डेरे, सवारिया, वाहन, कोष, यन्त्र (तोप वगैरह), शस्त्र-अस्त्र, घावों का इलाज करनेवाले वैद्य आदि उस फौज के साथ थे। नौकर-चाकर, निकम्मे और दुबले

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ६१ ॥
ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन्रथैर्मणिविभूषितैः ॥ ६२ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाऽभिभुः ।
श्रेणिमान्वसुदानश्च शिखण्डी चाऽपराजितः ॥ ६३ ॥
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥
जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सौमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चाऽऽत्मजाः ॥ ६५ ॥
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ॥ ६६ ॥
अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः ।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनञ्जयौ ॥ ६७ ॥
आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥ ६८ ॥
तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान्दध्मुररिन्दमाः ।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनञ्जयौ ॥ ६९ ॥
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाऽशनेः ।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ॥ ७० ॥
शङ्खदुन्दुभिसंहृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम् ।
पृथिवीं चाऽन्तरिक्षं च सागरांश्चाऽन्वनादयत् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५१॥

सैनिक, सत्य बोलनेवाली द्रौपदी और उनके दास-दासी आदि सबको राजा युधिष्ठिर ने उपप्लव्य नगर में ही रहने दिया ॥५७।६०॥ स्थान-स्थान पर दीवार, खाई और शूरसेना के प्रबन्ध द्वारा धन और स्त्री आदि की रक्षा का बन्दोबस्त करके सेना लेकर पाण्डव युद्ध के लिए रवाना हुए। उन्होंने ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कराया और उन्हें गाय, सुवर्ण, रत्न आदि देकर प्रसन्न किया। फिर ब्राह्मणों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते हुए वे मणियों और सुवर्ण से सजे हुए रथों पर सवार हुए ॥६१।६२॥ केकयदेश के राजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराज, विभूतिमान् और अजेय शिखण्डी आदि योद्धा आभूषण, अस्त्र शस्त्र, कवच आदि पहनकर प्रसन्नता से महाराज युधिष्ठिर के साथ चले। सेना के पिछले भाग में राजा विराट, महाराज द्रुपद, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्न के सब पुत्र चले। इस सेना में चालीस हजार रथ, साठ हजार हाथी, दो लाख घोड़े और चार लाख पैदल थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण के साथ अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु और सात्यकि

यज्ञ करनेवाले, ब्रह्मचर्य में रहकर विद्या पढ़नेवाले राजा लोग—सेना और वाहन साथ लेकर—पाण्डवों को विजयी बनाने के लिए उनकी सहायता करने को वहां आने लगे ॥१६।१८॥

उद्योगपर्व का एक सौ बावन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५२ ॥

अथ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

जनमेजय उवाच—युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
सन्निविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ॥ १ ॥
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ॥ २ ॥
महेन्द्रमिव चाऽऽदित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन्यदासीत्कुरुजाङ्गले ॥ ४ ॥
व्यथयेयुरिमे देवान्सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ॥ ६ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कुरूणां पाण्डवानां च यद्यदासीद्विचेष्टितम् ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाऽब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

एक सौ तिरपन अध्याय ॥ १५३ ॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन्! अपने पुत्रों के साथ विराट और द्रुपद, केकय, वृष्णिगण और आदित्यों के समान तेजस्वी अन्य अनेक राजाओं के साथ, सूर्य से रक्षित इन्द्र की तरह, श्रीकृष्ण द्वारा पालित राजा युधिष्ठिर को संग्राम के लिए सेना *लेकर कुरुक्षेत्र में आये हुए सुनकर राजा दुर्योधन* ने क्या किया? युधिष्ठिर की सहायता के लिए एकत्र हुए सब महावीर क्षत्रिय इन्द्र को भी नीचा दिखाने में समर्थ थे; उन्हें संग्राम के लिए उद्यत देखकर इन्द्र आदि देवता भी भयभीत हो सकते थे। पाण्डव, श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, युधामन्यु और अभिमन्यु आदि लोक-प्रसिद्ध वीरों के ऊपर देवता भी आक्रमण करने में असमर्थ थे। इसलिए उस समय कुरुक्षेत्र में भयङ्कर युद्ध की तैयारी होने पर आगे जो कुछ हुआ सो मैं विस्तार के साथ सुनना चाहता हूं ॥१।७॥ *वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण* के लौट जाने पर राजा दुर्योधन ने कर्ण, दुःशासन और शकुनि से कहा—हे वीरो! श्रीकृष्ण जो काम करने आये थे उसमें सफलता न प्राप्त होने के कारण वे क्रोधित होकर पाण्डवों के पास लौट गये हैं। इसमें

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः ।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥
इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ॥ १० ॥
अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः ।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ॥ ११ ॥
विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह ।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ॥ १२ ॥
भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः ।
तस्मात्सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ १३ ॥
शिविराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः ।
स्वपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ॥ १४ ॥
आसन्नजलकोष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छेद्याहारमार्गाणि वन्धोच्छ्रयचितानि च ॥ १५ ॥
विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च ।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद्बहिः ॥ १६ ॥
प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम् ।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ॥ १७ ॥
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम् ।

सन्देह नहीं कि वे अब हमारे पक्ष को अपने क्रोध की अग्नि में भस्म करने की पूरी तैयारी करेंगे। पूरे तौर पर श्रीकृष्ण की इच्छा यही है कि मेरे साथ पाण्डवों का संग्राम हो। भीमसेन और अर्जुन उन्हीं के कहे पर चलते हैं ॥८।१०॥ राजा युधिष्ठिर भीमसेन को बहुत मानते हैं। मैं उन्हें और उनके भाइयों का कपट के जुए में धोखा देकर कष्ट पहुँचा चुका हूँ ॥११॥ विराट और द्रुपद से भी मेरी पुरानी शत्रुता है। श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी द्रुपद और विराट ही इस समय पाण्डवों की सेना के सञ्चालक हैं ॥१२॥ इसलिए यह भयानक संग्राम बहुत शीघ्र होगा। अब तुम लोग भी आलस्य छोड़कर बड़ी लगन के साथ युद्ध की तैयारियां करो ॥१३॥ कुरुक्षेत्र के मैदान में बहुत से लम्बे-चौड़े डेरे बनवाओ। वे ऐसे हों कि शत्रु लोग उन पर चढ़ाई न कर सकें। उनमें तरह-तरह के असंख्य शस्त्र भरवा दो ॥१४॥ चारों ओर ऊँची पक्की दीवारें और खाइयां बनवाओ। प्रत्येक छावनी पर ध्वजा-पताकाएं लगवा दो। ऐसे स्थान पर छावनियां बनाओ जहां जल पास हो। उन शिविरों में युद्ध का सामान और रसद पहुंचाने के रास्ते ऐसे हों कि शत्रु चढ़ करके उन्हें बन्द न कर सकें। उन शिविरों में जाने के लिए नगर के बाहर चौड़ी और समतल सड़कें बनाओ। इस बात की घोषणा शीघ्र कर दो कि प्रातःकाल ही युद्ध के लिए कूच कर

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ॥ १८ ॥
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः ।
बाहून्परिघसङ्काशान्संस्पृशन्तः शनैः शनैः ॥ १९ ॥
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान् ।
उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः ।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ॥ २० ॥
ते रथान्रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥
अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ॥ २२ ॥
पदातयश्च पुरुषा शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजन्हुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ॥ २३ ॥
तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारताऽऽसीत्समाकुलम् ॥ २४ ॥
जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसञ्चयरत्नवान् ॥ २५ ॥
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ॥ २६ ॥
योधचन्द्रोदयोद्भूत. कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजश्चन्द्रोदय इवोदधिः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय

दिया जायगा ॥१५।१७॥ कर्ण आदि मन्त्रियों ने 'जो आज्ञा' कहकर प्रातःकाल लाम पर जाने की घोषणा करा दी और कुरुक्षेत्र में राजाओं के रहने के लिए शिविर बनवाने का भी प्रबन्ध कर दिया। इधर राजा की आज्ञा सुनते ही अन्य राजा लोग अपने सिंहासनों से उठ खड़े हुए। वे लोग सुवर्ण के बजुल्ला आदि पहने, चन्दन अगरु आदि सुगन्धित वस्तुओं से सुवासित, बेलन ऐसी दृढ़ भुजाओं को मलते हुए युद्ध के लिए उत्साह प्रकट करने लगे। सब वीर श्रेष्ठ वस्त्र, आभूषण पहनकर और कवच तथा तरह तरह की पगड़ियाँ बाँधकर कूच की तैयारी करने लगे ॥१८।२०॥ रथी लोग रथों को, घोड़ों के सवार घोड़ों को और हाथियों के सवार हाथियों को सजाने लगे ॥२१॥ राजाओं के नौकर-चाकर लोग विचित्र सुवर्ण के कवच और अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध का सामान पहुँचाने में लग गये। पैदल सिपाही सुवर्ण से चित्रित अनेक शस्त्र बाँधकर युद्ध के लिए तैयार होने लगे ॥२२॥ महाराज धृतराष्ट्र की राजधानी में प्रसन्न मुखवाले लोगों की इतनी भीड़ भाड़ हुई कि उत्सव सा जान पड़ने लगा। योद्धाओं से भरी दुर्योधन की राज-

धानी पूर्णिमा को बढ़े हुए समुद्र के समान जान पड़ने लगी। इधर-उधर आ-जा रहे लोग आवर्त (भंवर) के समान देख पड़ते थे। रथ, हाथी और घोड़े मछलियों के समान जान पड़ते थे। शङ्ख और नगाड़े आदि का शब्द समुद्र के गर्जन का सा शब्द जान पड़ता था। धन-रत्नों का कोष ही समुद्र के भीतर के रत्नों का ढेर था। विचित्र आभूषण और कवच तरङ्गों के समान थे। बहुत से चमकीले शस्त्र फेन की जगह थे। बड़े-बड़े महल समुद्र के भीतर की पर्वतों की कतार जान पड़ते थे। नगर की सड़कें और बाज़ार समुद्र में मिलनेवाली नदियों के समान देख पड़ते थे ॥२३।२७॥

उद्योगपर्व का एक सौ तिरपन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५३ ॥

अथ चतुःपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

वैशम्पायन उवाच—वासुदेवस्य तद्वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ॥ ३ ॥
विदुरस्याऽपि तद्वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कार्त्स्न्येन ते श्रुता ॥ ४ ॥
सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद्ब्रवीह्यविचारयन् ॥ ५ ॥
श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाऽब्रवीत् ॥ ६ ॥
कृष्ण उवाच—उक्तवानस्मि यद्वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

एक सौ चौवन अध्याय ॥ १५४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के मुख से सुनी हुई बातें स्मरण करके फिर उनसे कहा—हे श्रीकृष्ण! दुर्योधन ने सन्धि के प्रस्ताव के उत्तर में ऐसी-ऐसी बातें क्यों कहीं ॥१॥ कृपा करके बताओ, इस समय हमें क्या करना चाहिए? क्या करने से हम धर्म की रक्षा कर सकेंगे? ॥२॥ दुर्योधन, कर्ण और शकुनि का, मेरा और मेरे भाइयों का तात्पर्य तुम अच्छी तरह जानते हो ॥३॥ बुद्धिमान् विदुर और महावीर भीष्म की बातें भी तुमने सुनी हैं। आर्या कुन्ती की इच्छा तुम्हें अच्छी तरह विदित है ॥४॥ सब बातों पर अच्छी तरह विचार करके, और युद्ध के सिवा जो और कोई कल्याण का उपाय सूझ पड़े तो उस पर भी विचार करके, तुम मुझे कर्तव्य का उपदेश करो जिसमें हमारा भला हो और धर्म की हानि न हो ॥५॥ युधिष्ठिर के वचन सुनकर वासुदेव ने ऊँचे स्वर से गम्भीर वाणी में कहा—हे धर्मराज! मैंने आपसे और से धर्मार्थयुक्त जो हितकारी वचन कहे, उन्हें कपटी

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः श्रृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित्सर्वमेवाऽतिवर्तते ॥ ८ ॥
नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥ ९ ॥
बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान्कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥ १० ॥
न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राऽऽहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥ ११ ॥
शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ॥ १२ ॥
किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्माऽसौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥ १३ ॥
पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत्पापं यन्न कल्याणं सर्वं तस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥
न चाऽपि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम् ।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ॥ १६ ॥
युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम् ।

दुर्योधन ने नहीं माना ॥६।७॥ बुद्धिमान् विदुर ने पितामह भीष्म ने और मैंने उसे बहुत समझाया पर उसने ध्यान ही नहीं दिया । वह सबका अनादर करके अपने हठ पर अड़ा हुआ है । ॥८॥ हे युधिष्ठिर! वह दुरात्मा न तो धर्म ही चाहता है और न यश ही । वह समझता है कि एक कर्ण के बल से ही मैं सबको सहज में जीत लूंगा ॥९॥ उस पापी ने मुझे पकड़ लेने की आज्ञा दी थी, पर कुछ नहीं कर सका ॥१०॥ उस समय भीष्म या द्रोण ने भी कुछ युक्तिसङ्गत खण्डन नहीं किया । एक विदुर को छोड़कर और सब लोग दुर्योधन के वश में हैं ॥११॥ असहनशील दुर्योधन के पिछलग्गू शकुनि, कर्ण, दुःशासन आदि मूर्खों ने आपके सम्बन्ध में बहुत सी अनुचित बातें कहीं ॥१२॥ दुर्योधन आदि ने आपके लिए जो कटु वचन कहे हैं उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं । मैं आपसे संक्षेप में यह कह देता हूँ कि दुर्योधन आपसे अच्छा वर्ताव नहीं करता और न कभी करेगा ॥१३॥ आपके सैनिक राजाओं में जो पाप और अकल्याण नहीं है वह सब दुरात्मा दुर्योधन में विद्यमान् है ॥१४॥ मेरी सम्मति यही है कि राज्य छोड़कर सन्धि करना या चुप रहना उचित न होगा; इसलिए युद्ध करना ही ठीक है —यही धर्म है ॥१५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा लोग श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर चुप-

योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ॥ १७ ॥
ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह ।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ॥ १८ ॥
अवध्यानां वधं पश्यन्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निःश्वसन्भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥
यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया ।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ॥ २० ॥
तस्मिन्यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः ।
अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ॥ २१ ॥
कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून्वृद्धान्विजयो नो भविष्यति ॥ २२ ॥
तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परन्तपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद्वचः ॥ २३ ॥
उक्तवान्देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत्त्वया राजन्निखिलेनाऽवधारितम् ॥ २४ ॥
न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नाऽपि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ॥ २५ ॥
तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद्वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ॥ २६ ॥
ततस्ते धृतसङ्कल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५४

चार राजा युधिष्ठिर के मुख की ओर ताकने लगे; किसी ने कुछ नहीं कहा ॥१६॥ राजा युधिष्ठिर ने राजाओं के अभिप्राय को समझकर और भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि की इच्छा जानकर युद्ध के लिए तयारी करने की आज्ञा दे दी ॥१७॥ युद्ध की आज्ञा पाते ही पाण्डव-सेना में आनन्द और उत्साह का कोलाहल छा गया; चारों ओर हर्षसूचक शब्द और किलकारियां सुन पड़ने लगी ॥१८॥ जिनको न मारना चाहिए उन जाति-भाइयों को मारना होगा; यह सोच-

कर युधिष्ठिर ने लम्बी सांस लेकर भीम और अर्जुन से कहा—हे भाइयो ! जिस अनर्थ से बचने के लिए हमने वनवास आदि के अनेक दुःख सह लिये, वही अनर्थ आज सामने आ गया है ॥१९।२०॥ इस भयङ्कर युद्ध को रोकने के लिए बारम्बार बहुत उपाय करके भी मैं कुछ नहीं कर सका । मैंने अपनी ओर से युद्ध की तयारी नहीं की, फिर भी भयङ्कर संग्राम होनेवाला है ॥२१॥ पूजनीय, मारे जाने के अयोग्य पुरुषों से हम लोग कैसे युद्ध करेंगे ! यदि

बड़े-बूढ़े पितामह गुरु, गुरुपुत्र आदि को मारकर जय प्राप्त करेंगे भी तो हमें उसमें क्या सुख मिलेगा ॥२२॥ वैशम्पायन ने कहा— हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर को यों चिन्ता से व्याकुल देखकर, श्रीकृष्ण के वचनों को स्मरण दिलाते हुए, अर्जुन ने कहा—हे महाराज ! महात्मा वासुदेव के मुख से आर्या कुन्ती और विदुर जी की बातें सुनकर उन पर आप विचार कर चुके हैं। मुझे निश्चय जान पड़ता है कि उनका कहना सब तरह धर्म-सङ्गत है। इस कारण इस समय संग्राम से मुख मोड़ना कदापि आपके योग्य काम नहीं है। अर्जुन के ये वचन सुनकर मुसकाते हुए श्रीकृष्ण ने उनका अनुमोदन किया। अब युद्ध का दृढ़ निश्चय करके पाण्डव उस रात्रि सुख से सो रहे ॥२३।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चौवन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५४ ॥

अथ पंचपचाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन उवाच—व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत्तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ १ ॥
नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु सन्दिदेश नराधिपः ॥ २ ॥
सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः ॥ ३ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः ॥ ४ ॥
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ॥ ५ ॥
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ६ ॥
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्रांकुशतोमराः ॥ ७ ॥

एक सौ पचपन अध्याय ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उधर प्रातःकाल होने पर राजा दुर्योधन ने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना के मनुष्य, रथ, हाथी, घोड़े आदि को एकत्र करके उन्हें—योग्यता के अनुसार—अगले, पिछले और बीच के भाग में रहने की आज्ञा दी। ग्यारहों अक्षौहिणी सेना भिन्न-भिन्न भागों में बंट गई; सब सैनिक लोग युद्ध की सजावट के साथ कूच करने के लिए तैयार होने लगे। अनुकर्ष (रथ के नीचे की लकड़ी), बड़े-बड़े बाण-कोष, वरूथ (शस्त्र-विशेष), तोमर, उपासङ्ग (घोड़ों और हाथियों पर लदे जानेवाले बाणों के तरकस), शक्ति, निषङ्ग (पैदलों की कमर में रहनेवाले छोटे तरकस), तलवार, ध्वजा, पताका, बाण, धनुष, विचित्र रस्सियाँ, पाश, परिच्छद, कचग्रहक्षेप (वे शस्त्र, जिनसे शत्रु के बाल पकड़कर उसे पटक देते हैं), तेल, गुड़, बालू, सर्पों से भरे हुए घड़े, राल, जिनके अगले भाग में घण्टियाँ

सकीलकवचाः सर्वे वाशीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ॥ ८ ॥
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ॥ ९ ॥
रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ॥ १० ॥
तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेशिताः ॥ ११ ॥
बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ॥ १२ ॥
चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥ १३ ॥
धुर्ययोर्हययोरेकस्तथाऽन्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित्तथा ॥ १४ ॥
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन्रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ १५ ॥
यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः ।
बभूवुः सप्त पुरुषा रत्नवन्त इवाऽद्रयः ॥ १६ ॥

लगी रहती हैं ऐसे शस्त्र, पट्टिश, छुरे आदि लोहे के शस्त्र, गुड़ का गर्म शरबत (शत्रुओं पर फेंकने के लिए), यन्त्र से फेंके जानेवाले पत्थर के गोले, भिन्दिपाल (गोफिये), शूल, मोम, मुद्गर, बर्छी, हल के आकार के शस्त्र, ज़हर के बुझे तोमर, अंकुश और कुल्हाड़ी के आकार के तोमर, सूप (गर्म तेल आदि शत्रुओं पर डालने के लिए), पिटारियां (शस्त्र आदि रखने के लिए), कांटेदार कवच, काठ के भीतर छिपे हुए शस्त्र, लोहे के कांटे और कीलें, पाश, कुल्हाड़ी, कुदाल, पुराना घी और तेल में तर रेशमी वस्त्र (जिन्हें जलाकर उनकी राख घाव में भरी जाय), सींग, ऋष्टि, भाले आदि अनेक प्रकार के असंख्य युद्ध के सामान से सजे हुए योद्धा लोग, चमकदार मणि और आभूषण पहनकर, अपने शरीर पर सुवर्ण के जाल डालकर, प्रज्वलित अग्नियों के समान, व्याघ्रचर्म से मढ़े हुए रथों पर सवार हुए ॥१।११॥ श्रेष्ठ कुलों में उत्पन्न, शस्त्र-कला में कुशल, अश्वविद्या के जानकार, कवचधारी वीर पुरुष सारथी के काम पर नियुक्त हुए। धनुष-बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों से भरे, पताकाओं से शोभित, ढाल-तलवार, पट्टिश, घण्टा, चामर आदि से युक्त और बढ़िया चार-चार घोड़ों से जुते असंख्य रथ देख पड़ने लगे। योद्धा लोग उन रथों में अशुभ हटानेवाले यन्त्र और ओषधियां बांधने लगे। घोड़ों के मस्तकों पर कलँगी और मोतियों के गुच्छे आदि लगाये गये। वे बड़े-बड़े रथ सुरक्षित सजे हुए नगरों के समान जान पड़ते थे। प्रत्येक रथ

द्वावंकुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ १७ ॥
गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सवर्मायुधकोशकैः ।
तद्बभूव बलं राजन्कौरव्यस्य महात्मनः ॥ १८ ॥
आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलंकृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चाऽयुतशो हयाः ॥ १९ ॥
असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ॥ २० ॥
नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥ २१ ॥
रथस्याऽऽसन्दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्याऽऽसन्पादरक्षाः समन्ततः ॥ २२ ॥
रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्याऽऽसञ्शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसन्धानकारिणः ॥ २३ ॥
सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दश वाहिनी ॥ २४ ॥
सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ॥ २५ ॥

में एक-एक अश्वविद्या में चतुर सारथी और आस पास दो दो अच्छे वीर चक्ररक्षक थे । हाथियों का शृङ्गार किया गया और रत्न जड़े आभूषण पहनाये गये । वे रत्नों की खानोंवाले पर्वतों के समान जान पड़ने लगे ॥१२।१६॥ प्रत्येक हाथी की रक्षा के लिए दो अंकुश लिये, दो धनुष बाण लिये, दो तलवारें लिये, एक त्रिशूल लिये और एक शक्ति लिये, इतने मनुष्य नियुक्त हुए । दुर्योधन की सेना में चारों ओर हाथियों के दल ही दल देख पड़ने लगे । उन हाथियों पर तरह-तरह के शस्त्र भी भरे हुए थे । कवच पहने सवार लोग असंख्य घोड़ों पर सवार हुए । उनकी पताकाओं में फरहरा फहरा रही थी । उनके घोड़े सब तरह की चालें चलनेवाले, अच्छी तरह सिखाये गये, सुवर्ण के आभूषण पहने और शक्तिशाली थे ॥१७।२०॥ तरह-तरह के वस्त्र पहने, कवचधारी, हथियार बाँधे, सुवर्ण की माला पहने पैदलों के दल भी युद्ध के लिए सज-धज-कर तैयार हो गये । प्रत्येक रथ के साथ दस हाथी, हर हाथी के साथ दस सवार और हर सवार के साथ दस पैदल उसकी रक्षा के लिए नियुक्त हुए । कहीं-कहीं ऐसा क्रम था कि प्रत्येक रथ के साथ पचास हाथी, प्रत्येक हाथी के साथ सौ घोड़े और प्रत्येक घोड़े के साथ सात पैदल उसकी रक्षा करने को खड़े थे । पाँच सौ हाथियों, पाँच सौ रथों, पाँच सौ घोड़ों और पचीस सौ पैदलों की एक 'सेना' होती है । दस सेनाओं की एक 'पृतना' और दस पृतनाओं की एक 'वाहिनी' होती है । साधारण रूप से सेना

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ॥ २६ ॥
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद्बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद्बलम् ॥ २७ ॥
नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ॥ २८ ॥
त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद्गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥
तत्र दुर्योधनो राजा शूरान्बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥ ३० ॥
पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन्नरसत्तमान् ।
विधिवत्पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥ ३२ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥ ३३ ॥
दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥
तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पंचपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय. १५५

को सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, अक्षौहिणी और वरूथिनी कहते हैं ॥२१।२५॥ इसी तरह अठारह अक्षौहिणी सेना सजकर युद्ध के लिए तैयार हो गई। दुर्योधन की ओर ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवों की ओर सात अक्षौहिणी सेना थी। पचपन पैदलों की टुकड़ी को 'पत्ति' कहते हैं। तीन पत्तियों का एक 'सेनामुख' होता है। उसे 'गुल्म' भी कहते हैं ॥२६।२८॥ तीन 'गुल्मों' का एक 'गण' होता है। कुरु सेना में इस तरह के दस-दस हज़ार गण थे। पराक्रमी राजा दुर्योधन ने बुद्धिमान् राजा लोगों को छाँट-छाँटकर सेनापति बनाया। दुर्योधन ने पहले से ही अलग-अलग अच्छे वीर सेनापतियों को बुलाकर अपने यहाँ रख लिया था। इस समय वह नित्य सबके सामने दोनों समय भीष्म, कृप, द्रोण, जयद्रथ, शल्य, काम्बोजनरेश सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शकुनि और महारथी बाह्लीक, इन ग्यारह जनों का विशेष सत्कार और आदर करने लगा। इन वीर पुरुषों के साथी और अनुगामी लोग भी दुर्योधन की भलाई के लिए कौरव-सेना के साथ हो गये ॥२९।३५॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ पचपन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५५ ॥

अथ षट्पंचाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
ऋते सेनाप्रणेतारं पृतनासु महत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥
नहि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ॥ ३ ॥
श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ॥ ४ ॥
तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥
ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः ।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ॥ ६ ॥
ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।
तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ॥ ७ ॥
वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे ।
भवन्तस्तु पृथक्सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ॥ ८ ॥
ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम् ।
नये सुकुशलं शूरमजयन्क्षत्रियांस्ततः ॥ ९ ॥

एक सौ छप्पन अध्याय ॥ १५६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब राजा दुर्योधन अन्य राजाओं के साथ पितामह भीष्म के पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—हे पितामह ! मेरी सेना युद्ध के लिए तैयार है, किन्तु एक उपयुक्त सेनापति के बिना वह शिथिल हो रही है। सेना कितनी ही अधिक क्यों न हो, योग्य सेनापति के बिना वह संग्राम में चींटियों के दल की तरह नष्ट हो जाती है। दो पुरुषों की बुद्धि कभी समान नहीं होती। यदि दोनों ओर योग्य और शूर सेनापति होते हैं तो वे परस्पर स्पर्धा करके अधिक वीरता और पराक्रम दिखाते हैं। सुना जाता है कि पूर्व समय में कुशमयी ध्वजा लिये हुए ब्राह्मण लोग हैहयवंश के क्षत्रियों से युद्ध करने गये थे। उन ब्राह्मणों के साथ वैश्य और शूद्र भी थे। एक ओर तीनों वर्ण थे और दूसरी ओर केवल क्षत्रिय थे ॥१।५॥ उनमें परस्पर संग्राम होने पर तीनों वर्ण क्षत्रियों से हारकर बारम्बार युद्धभूमि से भागने लगे। तब ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से ही इसका कारण पूछा। धर्म के जानकार क्षत्रियों ने उनको ठीक बात बता दी। क्षत्रियों ने कहा—हम लोग युद्ध में एक बुद्धिमान् पुरुष को अगुआ बनाकर उसी की सम्मति से सब काम करते हैं; किन्तु तुम लोग अलग अलग अपनी इच्छा

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम् ।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥ १० ॥
भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम ।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ११ ॥
रश्मिवतामिवाऽऽदित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः ।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा ।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ॥ १३ ॥
भवता हि वयं गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः ।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥
प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः ।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥ १५ ॥
भीष्म उवाच—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ १६ ॥
अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप ।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ १७ ॥
न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि ।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात्कुन्तीपुत्राद्धनञ्जयात् ॥ १८ ॥

के अनुसार काम करते हो। यही तुम्हारे हारने का कारण है। हे पितामह! तब ब्राह्मणों ने एक नीति-विशारद पराक्रमी ब्राह्मण को सेनापति बना लिया। अन्त को ब्राह्मणों की जय हुई। इसी प्रकार जो लोग चतुर, शूर, हितचिन्तक और सत्यप्रतिज्ञ व्यक्ति को अपना सेनापति बनाते हैं वे युद्ध में सहज ही अपने शत्रु को जीत लेते हैं ॥६।१०॥ हे पितामह! आप दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य के समान रण-नीति के जानकार धर्मात्मा, मेरे हितचिन्तक और दुर्धर्ष हैं। शत्रुओं में से कोई आपको मार नहीं सकता; क्योंकि मृत्यु आपकी इच्छा के अधीन है। जैसे किरणवाले तेजस्वी पदार्थों के सूर्य, वृक्ष-ओषधियों के चन्द्रमा, यक्षों के कुबेर, देवताओं के इन्द्र, पर्वतों के सुमेरु, पक्षियों के गरुड़, सब देवयोनियों के कार्तिकेय और वसुगण के अग्निदेव स्वामी और रक्षक हैं, वैसे ही आप हमारे रक्षक और सेनापति बनिए। इन्द्र द्वारा रक्षित देवताओं की तरह आपके द्वारा रक्षित हम लोगों पर सब देवता भी आक्रमण करने में समर्थ न होंगे। देवताओं की सेना के आगे कार्तिकेय की तरह आप हमारी सेना के आगे चलिए। हम लोग बड़े सांड़ के पीछे बलवान् बैलों की तरह आपके पीछे चलेंगे ॥११।१५॥ दुर्योधन की प्रार्थना सुनकर भीष्म ने कहा—हे भरतकुलश्रेष्ठ! तुम्हारा कहना ठीक है। मेरी दृष्टि में जैसे तुम हो वैसे ही पाण्डव भी हैं। मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पाण्डवों को अच्छा उपदेश देना और तुम्हारी ओर से युद्ध करना अपना

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युद्ध्येत पाण्डवः ॥ १९ ॥
अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत् ।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ॥ २० ॥
न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप ।
तस्माद्योधान्हनिष्यामि प्रयोगेणाऽयुतं सदा ॥ २१ ॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन ।
न चेत्ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ २२ ॥
सेनापतिस्त्वहं राजन्समयेनाऽपरेण ते ।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहाऽर्हसि ॥ २३ ॥
कर्णो वा युद्ध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदाऽत्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ २४ ॥
कर्ण उवाच—नाऽहं जीवति गाङ्गेये राजन्योत्स्ये कथञ्चन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद्भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ २६ ॥
ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥ २७ ॥

काम समझता हूँ और ऐसा ही करूँगा। पुरुषसिंह अर्जुन के सिवा पृथ्वी पर मेरे समान योद्धा कोई नहीं है। बुद्धिमान् अर्जुन यद्यपि बहुत से दिव्य अस्त्रों को जानते हैं, तथापि आमने-सामने वे मुझसे युद्ध नहीं करेंगे। देवता-असुर-राक्षस-मनुष्य आदि से भरे इस जगत् को मैं और वह, दोनों, अस्त्र-बल से क्षण भर में जीवहीन कर सकते हैं, किन्तु मैं प्रीतिपात्र पाण्डवों में से किसी की हत्या न करूँगा ॥१६।२०॥ हे दुर्योधन! यदि पाण्डव मुझे पहले ही युद्ध में मार न डालेंगे तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अस्त्र चलाकर नित्य उनके पक्ष के दस हज़ार योद्धाओं को मारूँगा। इसके सिवा मैं एक प्रतिज्ञा से तुम्हारा सेनापति होना भी अङ्गीकार कर सकता हूँ। प्रतिज्ञा यह है कि पहले चाहे कर्ण युद्ध कर ले और चाहे मैं कर लूँ, क्योंकि वह सदा युद्ध में मुझसे लाग-डाट दिखाया करता है ॥२१।२४॥ कर्ण ने कहा—हे राजेन्द्र! मैं पितामह भीष्म के जीवन-काल में युद्ध न करूँगा। इनके मारे जाने पर अर्जुन से युद्ध करूँगा ॥२५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब राजा दुर्योधन ने विधि से सेनापति के पद पर पितामह भीष्म का अभिषेक किया और ब्राह्मणों को धन-रत्नों की दक्षिणा दी। उस समय भीष्म बहुत ही अच्छे प्रतीत होने लगे। राजा की आज्ञा से सावधान बाजे बजानेवाले लोग सैकड़ों-हज़ारों शङ्ख, तुरही और नगाड़े आदि बजाने लगे। वीरों के सिंह नाद और वाहनों के गम्भीर शब्द से चारों दिशाएँ

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ॥ २८ ॥
निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ॥ २९ ॥
वाचश्चाऽप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ॥ ३० ॥
सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ॥ ३१ ॥
ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान्गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः ॥ ३२ ॥
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ ३३ ॥
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ ३४ ॥
परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरव ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥ ३५ ॥
मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५६॥

गूंज उठीं। उस समय हाथियों की चिंघाड़ के साथ ही आकाश में बिना मेघ के बिजली की सी कड़क सुन पड़ी जिसे सुनकर योद्धा लोग मूर्च्छित से हो गये। बिना बादल के ही आकाश से रक्त की वर्षा हुई ॥२६।२८॥ आकाश से उल्का-पात हुआ और अशुभ आकाशवाणी सुनाई पड़ी। पृथ्वी में बारम्बार भूकम्प होने लगा। भय की सूचना देनेवाली सियारनियां बारम्बार अशुभ शब्द करने लगीं। राजा दुर्योधन ने जिस समय सेनापति के पद पर पितामह का अभिषेक किया उसी समय ये भयङ्कर उत्पात होने लगे ॥२९।३१॥ राजा दुर्योधन ने ब्राह्मणों को गाय सुवर्ण-रत्न आदि देकर सन्तुष्ट किया। वे लोग स्वस्त्ययन पढ़कर उसे जय के आशीर्वाद देने लगे। भीष्म को सेनापति बनाकर, सबके आगे करके, कुरुक्षेत्र के लिए दुर्योधन चल पड़ा। उसके भाई और वह असंख्य सेना उसके साथ चली ॥३२।३४॥ राजा दुर्योधन ने कुरुक्षेत्र में पहुंचकर, कर्ण के साथ इधर-उधर देख-भाल करके, समतल मैदान में सेना के रहने के लिए छावनी की रचना कराई। सुहावने, बहुत सी घास और ईंधन से भर पूरे स्थान में नाप-जोख के साथ डेरे खड़े किये गये। ऊपर स्थान छोड़-दिये गये। राजा दुर्योधन की सेना का महाशिविर दूसरा हस्तिनापुर सा बस गया ॥३५।३६॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ छप्पन अध्याय समाप्त हुआ॥ १५६ ॥

अथ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

जनमेजय उवाच—आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ॥ १ ॥
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ॥ २ ॥
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ॥ ३ ॥
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान्भ्रातॄन्समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिता ॥ ७ ॥
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात्सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन्मम पश्यत ॥ ८ ॥
कृष्ण उवाच—यथाऽर्हति भवान्वक्तुमस्मिन्काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद्वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

एक सौ सत्तावन अध्याय ॥ १५७ ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन्! शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, भारतवंश के पितामह, राजाओं में ध्वजा के समान उच्च, बृहस्पति के समान बुद्धिमान्, पृथ्वी के समान क्षमा करनेवाले, समुद्र के समान गम्भीर, हिमालय के समान अचल, प्रजापति के समान उदार, सूर्य के समान तेजस्वी, इन्द्र के समान बाण-वर्षा करके शत्रु का नाश करने में समर्थ महात्मा भीष्म को भयानक रोमहर्षण रण-यज्ञ की दीक्षा लेते सुनकर महाबाहु राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और श्रीकृष्ण ने परस्पर क्या कहा? ॥१।५॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! आपत्ति-काल के धर्म और अर्थ को अच्छी तरह जाननेवाले बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को और भगवान् वासुदेव को बुलाकर धैर्य के साथ कहा—हे वासुदेव! हे भीमसेन अर्जुन-नकुल और सहदेव! तुम लोग कवच पहनकर सावधान रहो और चारों ओर घूम फिरकर अपनी सेना की देख-भाल करते रहो। पहले हम लोगों को पितामह भीष्म से संग्राम करना होगा। इसलिए अब सातों अक्षौहिणियों के सात सेनापति निश्चित कर लो। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजेन्द्र! आपने इस समय के अनुकूल और अपने योग्य बात कही है।

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ११ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान्सप्त महाभागान्वीरान्युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १२ ॥
सेनाप्रणेतॄन्विधिवदभ्यषिञ्चद्युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चाऽत्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥ १३ ॥
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।
सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ॥ १४ ॥
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनञ्जयम् ।
अर्जुनस्याऽपि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ॥ १५ ॥
सङ्कर्षणानुजः श्रीमान्महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ॥ १६ ॥
प्राविशद्भवनं राजन्पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाऽक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ १७ ॥
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ॥ १८ ॥

आपकी यह सावधानी उचित और काम सिद्ध करनेवाली होने के कारण मुझे भी पसन्द है । इसलिए आप शीघ्र अपनी सेना के सात दलों में सात सेनापति नियुक्त कर दीजिए ॥६।१०॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब राजा युधिष्ठिर ने महावीर द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखण्डी और जरासन्ध के पुत्र सहदेव को सेनापति के पद पर स्थापित किया । ये सब महावीर, युद्ध के बारे में विशेष उत्साह रखनेवाले क्षत्रिय, सेनापति के पद पर अभिषेक होने से, बड़े अच्छे जँचने लगे। फिर द्रोणाचार्य को मारने के लिए अग्नि-कुण्ड से उपजे हुए धृष्टद्युम्न को राजा युधिष्ठिर ने प्रधान सेनापति बनाया। वीर अर्जुन इन सब सेनापतियों की देखभाल करनेवाले सेनापति-पति (सेनापतियों के अधिपति) बनाये गये। धृष्टद्युम्न भी उनके अनुयायी हुए। अर्जुन को भी सम्मति देने का भार कृष्णचन्द्र को दिया गया। महाबाहु श्रीकृष्ण ने इसके सिवा अर्जुन का रथ हाँकने का काम करना भी स्वीकार कर लिया। इस तरह सात सेनापतियों के ऊपर धृष्टद्युम्न, धृष्टद्युम्न के ऊपर अर्जुन और उन पर भी देख-रेख करने के लिए श्रीकृष्ण नियुक्त हुए ॥११।१५॥ हे राजा जनमेजय ! इसी समय नीलाम्बर पहने, कैलास पर्वत के समान गोरे, मदिरा पान से लाल हो जानेवाले नेत्रों से मनोहर बलरामजी, वंश का नाशक भयङ्कर युद्ध उपस्थित देखकर, पाण्डवों के डेरे में पहुँचे। इन्द्र के साथ जैसे देवता होते हैं वैसे ही बलदेवजी के साथ अक्रूर,

यः किम्पुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ॥ ३ ॥
यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ॥ ४ ॥
त्रीण्येवैतानि दिव्यानि धनूंषि दिविचारिणाम् ।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः ।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः ॥ ५ ॥
धारयामास तत्कृष्णः परसेनाभयावहम् ।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः ॥ ६ ॥
द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत ।
सञ्छिद्य मौरवान्पाशान्निहत्य मुरुमोजसा ॥ ७ ॥
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
षोडशस्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम् ।
रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम् ॥ ९ ॥
विभीषयन्निव जगत्पाण्डवानभ्यवर्तत ।
नाऽमृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ॥ १० ॥
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ।
कृत्वा प्रतिज्ञां नाऽहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम् ॥ ११ ॥
ततोऽन्वधावद्वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया ॥ १२ ॥

वाले एक श्रेष्ठ किंपुरुष से धनुर्वेद के चारों अङ्ग सीखे थे। संसार में गाण्डीव, विजय और शार्ङ्ग, यही तीन धनुष सबसे श्रेष्ठ हैं। गाण्डीव धनुष वरुण का, विजय धनुष महेन्द्र का और शार्ङ्ग धनुष विष्णु का, यही तीनों दिव्य धनुष हैं। विजय धनुष शार्ङ्ग और गाण्डीव से किसी बात में कम नहीं है। खाण्डव-दाह में गाण्डीव धनुष अग्नि से अर्जुन को मिला था। दिव्य लक्षणोंवाला विजय धनुष कुबेर से रुक्मी को मिला था। शार्ङ्ग धनुष श्रीकृष्ण को उस समय मिला था जब उन्होंने मुर-असुर के फन्दों को काट-कर मुर और भौम नाम के दानवों को मारा था। वहाँ उन्हें सोलह हजार श्रेष्ठ स्त्रियाँ और मणि-मय कुण्डल आदि रत्न भी मिले थे। रुक्मी उसी मेघ-सदृश गम्भीर ध्वनिवाले विजय धनुष को लिये सारे जगत् को कपाते हुए पाण्डवों के पास आये। रुक्मी की बहन रुक्मिणी को जब श्रीकृष्ण हर लाये थे तब रुक्मी ने श्रीकृष्ण को जीता न छोड़ने की प्रतिज्ञा करके उनका पीछा किया था ॥१।११॥ रुक्मी के साथ असंख्य वीरोंवाली चतुरङ्गिणी सेना भी, बढ़ी हुई गङ्गा के प्रवाह की तरह, श्रीकृष्ण पर चढ़ आई

विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया ।
स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम् ॥ १३ ॥
व्यंसितो व्रीडितो राजन्नाजगाम स कुण्डिनम् ।
यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा ॥ १४ ॥
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम् ।
सैन्येन महता तेन प्रभूतगजवाजिना ॥ १५ ॥
पुरं तद्भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप ।
स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ॥ १६ ॥
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान्क्षिप्रमागमत् ।
ततः स कवची धन्वी तली खड्गी शरासनी ॥ १७ ॥
ध्वजेनाऽऽदित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम् ।
विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याऽभ्यपूजयत् ।
स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तान्सर्वान्विश्रान्तः सहसैनिकः ।
उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥ २० ॥
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ॥ २१ ॥
न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ॥ २२ ॥
अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।

थी। परन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने रुक्मी को ओवकर पकड़ लिया और फिर छोड़ दिया। तब, प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सकने से लजाकर, रुक्मी अपने पिता की राजधानी कुण्डिन नगर में नहीं गये ! जहा श्रीकृष्ण ने उन्हें हराया था वहीं भोजकट नाम का नूतन नगर बसाकर वे रहने लगे। उसी भोजकट नगर से एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर रुक्मी आये। कवच, धनुष, तन्त्राण, खड्ग, सूर्य के रङ्ग का रथ और ध्वजा आदि युद्ध के सामान समेत रुक्मी, कृष्णचन्द्र का प्रिय करने के लिए, पाण्डवों के पास उपस्थित हुए ॥१२।१८॥ धर्मराज युधिष्ठिर ने आसन से उठकर उनका सत्कार किया। पूजा और प्रशंसा हो चुकने पर, पाण्डवों को बधाई देकर और कुछ विश्राम करके, रुक्मी ने सब वीर राजाओं के आगे अर्जुन से कहा—हे अर्जुन ! जो तुम युद्ध से भयभीत होते हो तो तुम्हारी सहायता करने के लिए मैं उपस्थित हू। मैं तुम्हारी ओर से ऐसा युद्ध करूंगा कि शत्रु के छक्के छूट जायगे। बल और पराक्रम में मेरे समान और कोई पुरुष नहीं है। जिन वीरों को तुम मेरे भाग में कर दोगे उन्हें मैं अवश्य मारूंगा ॥१९।२२॥

अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ॥ २३ ॥
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।
इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च सन्निधौ ॥ २४ ॥
शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ २५ ॥
उवाच धीमान्कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।
कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ॥ २६ ॥
द्रोणं व्यपदिशञ्शिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः॥ २७ ॥
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदासीत्सखा मम ॥ २८ ॥
तथा प्रतिभये तस्मिन्देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युद्ध्यमानस्य कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ २९ ॥
निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।
तत्र मे युद्ध्यमानस्य कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ ३० ॥
तथा विराटनगरे कुरुभिः सह सङ्गरे ।
युद्धयतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥ ३१ ॥
उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ॥ ३२ ॥
धारयन्गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।

द्रोणाचार्य कृपाचार्य, भीष्म या कर्ण, जिसे कहोगे उसे मैं सहज ही यमलोक भेज दूंगा। अथवा इन सब राजाओं को बैठे रहने दो, मैं अकेला ही तुम्हारे शत्रुओं को मारकर पृथ्वीमण्डल का राज्य तुम्हें दिला दूंगा। धर्मराज, कृष्णचन्द्र और अन्य राजाओं के आगे रुक्मी के ये वचन सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर की ओर देखा। फिर वे मित्रता का भाव प्रकट करके, हँसते हुए, रुक्मी से कहने लगे—हे भोजराज! मैंने कुरुवंश में जन्म लिया है। मैं वीर पाण्डु का पुत्र और द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ। भगवान् वासुदेव मेरे सहायक हैं; गाण्डीव मेरा धनुष है। मुझ सरीखा यशस्वी पुरुष इस अयश के देनेवाले वाक्य को कैसे जिह्वा पर ला सकता है कि मैं युद्ध से भयभीत होता हूँ? घोष यात्रा के समय बड़े बली गन्धर्वों से जब मैंने युद्ध किया था तब किसने मेरी सहायता की थी? खाण्डव-दाह के समय जब मैंने भयङ्कर युद्ध करके इन्द्र आदि देवताओं को हराया था तब मेरा कौन सहायक हुआ था? निवातकवच और कालकेय नाम के दानवों से युद्ध करते समय मुझे किसने सहायता दी थी? ॥२३।३०॥ विराट नगर में जब कौरव-वीरों के साथ अकेले मैंने संग्राम किया था तब मेरी सहायता करनेवाला कौन था?

अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ॥ ३३ ॥
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद्भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥ ३४ ॥
नाऽस्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नाऽस्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वाऽन्यत्र तिष्ठ वा ॥ ३५ ॥
विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसन्निभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत्तथैव भरतर्षभ ॥ ३६ ॥
तथैव चाऽभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनाऽपि स तदा शूरमानिना ॥ ३७ ॥
द्वावेव तु महाराज तस्माद्युद्धादपेयतुः ।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥
गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा ।
उपाविशन्पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ॥ ३९ ॥
समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला ।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥१५८॥

मैंने रुद्र, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और माधव से युद्ध की कला और अस्त्र-विद्या सीखी है। मेरे पास दिव्य गाण्डीव धनुष, कभी शून्य न होनेवाले तरकस और दिव्य अस्त्र हैं। फिर मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि युद्ध से मुझे भय लगता है ? हे महाबाहु ! न मैं युद्ध से भयभीत होता हूँ और न मुझे सहायता की आवश्यकता ही है। आप अपनी इच्छा के अनुसार चाहे यहां ठहरिए चाहे जाइए ॥३१।३५॥ हे राजा जनमेजय ! तब रुक्मी अपनी समुद्र-तुल्य अपार सेना उधर से लौटाकर राजा दुर्योधन के पास गये। दुर्योधन से भी रुक्मी ने वैसी ही बातें कीं जैसी पाण्डवों से की थीं। अपने को वीर समझनेवाले दुर्योधन ने भी वैसा ही उत्तर दिया जैसा अर्जुन ने दिया था। तब रुक्मी भी बलराम की तरह युद्ध से व्याकुल होकर तीर्थ-यात्रा के लिए चले गये। रुक्मी और बलभद्र के जाने पर पाण्डव लोग फिर आपस में युद्ध के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रबन्ध और सम्मति करने लगे। राजमण्डली से भरी हुई पाण्डवों की सभा चन्द्रमा और तारागणों से शोभित आकाश के समान देख पड़ती थी ॥३६।४०॥

उद्योगपर्व का एक सौ अट्ठावन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५८ ॥

अथ ऊनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

जनमेजय उवाच—तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाऽभिप्रचोदिताः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ ।
धृतराष्ट्रो महाराज सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

एहि सञ्जय सर्वं मे आचक्ष्वाऽनवशेषतः ।
सेनानिवेशे यद्‌वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ३ ॥
दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाऽप्यनर्थकम् ।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान्क्षयोदयान् ॥ ४ ॥
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ॥ ५ ॥
भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ॥ ६ ॥
एवङ्गते वै यद्भावि तद्भाविष्यति सञ्जय ।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ॥ ७ ॥
सञ्जय उवाच—त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि ।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ ८ ॥
शृणुष्वाऽनवशेषेण वदतो मम पार्थिव ।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ॥ ९ ॥
महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत् ।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ १० ॥

एक सौ उनसठ अध्याय ॥ १५९ ॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! काल के वश हो रहे कौरवों ने कुरुक्षेत्र में दोनों ओर की सेनाएँ एकत्र होने पर फिर क्या किया ? कृपा करके आगे का समाचार कहिए ॥१॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उधर कुरुक्षेत्र में संग्राम के लिए सब सेना एकत्र हुई, इधर राजा धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कहा—हे सञ्जय ! कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ एकत्र होने पर आगे जो कुछ हुआ सो मुझसे कहो। मेरी समझ में उपाय व्यर्थ है, दैव (होनी) ही मुख्य है। युद्ध का फल मृत्यु अर्थात् विनाश जानकर भी जुए में फँस रहे दुर्योधन को मैं रोक नहीं सका और अपने वंश का हित करने में भी असमर्थ हो रहा हूँ। हे सूत ! मेरी बुद्धि दोषों को देखकर भी दुर्योधन के आगे कुन्द हो जाती है। दुर्योधन के पास आ जाने पर पुत्र-स्नेह के मारे मेरी बुद्धि मोहित हो जाती है और मैं उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता। अब जो कुछ होना है वह होगा ही। युद्ध में मरना क्षत्रिय का उत्तम धर्म माना गया है ॥२।७॥ सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! आपने जो कहा और जो कुछ आप चाहते हैं सो आपके योग्य ही है। इस कुल-क्षय का दोष दुर्योधन के सिर मढ़ना भी ठीक नहीं। हे महाराज ! जो मैं आपसे कहता हूँ उसे ध्यान देकर सुनिए। जो मनुष्य अपने बुरे आचरण से अशुभ फल पाता है वह दैव को या देवताओं को दोष नहीं दे सकता। जो व्यक्ति मनुष्यों के साथ

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ॥ ११ ॥
हयानां च गजानां च राज्ञां चाऽमिततेजसाम् ।
वैशसं समरं वृत्तं यत्तन्मे शृणु सर्वशः ॥ १२ ॥
स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम् ।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ॥ १३ ॥
न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥
केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया ।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत्प्रदृश्यते ।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि सञ्जयवाक्यं ऊनषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १५९ ॥
समाप्तं च सैन्यनिर्याणपर्व ।

अनुचित व्यवहार करता है वह सब लोगों का वध्य है ॥८।१०॥ हे राजेन्द्र ! अनुचरों-सहित पाण्डवों ने केवल आपके खयाल से अथवा यों कहो कि आपके न बोलने के कारण जुए में हारकर तरह-तरह के तिरस्कार सहे थे। इस समय आप स्थिर और एकाग्र होकर घोड़े, हाथी, राजा, सैनिक आदि के विनाश का हाल मुझसे सुनिए। युद्ध में नष्ट होने की घटनाएँ सुनकर अब व्याकुल न हूजिए। देखिए, यह जीव पाप-पुण्य कर्मों का स्वाधीन कर्ता नहीं है। सूत में बँधी हुई कठपुतली की तरह विवश होकर प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम करता है। कुछ काम ईश्वर के बनाये नियम के अनुसार अर्थात् ईश्वर की इच्छा से किये जाते हैं; कुछ काम मनुष्य अपनी इच्छा से करता है और कुछ काम पूर्व-संस्कार के अनुसार होते हैं। इस तरह काम तीन प्रकार के होते हैं। इस कारण इस समय अनर्थरूप विपत्ति के आ पड़ने पर भी आप खेद न कीजिए और स्थिर होकर आगे का सब हाल सुनिए ॥११।१५॥

उद्योगपर्व का एक सौ उनसठ अध्याय समाप्त हुआ॥ १५९ ॥

अथ उलूकदूतागमनपर्व ।
अथ षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

सञ्जय उवाच—हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ १ ॥
तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्मानयित्वा नृपतीन्न्यस्य गुल्मांस्तथैव च ॥ २ ॥

एक सौ साठ अध्याय ॥ १६० ॥

सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! महात्मा पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र में हिरण्वती नदी के किनारे अपनी सेना ठहराई और फिर कौरवों ने भी कुरुक्षेत्र में पहुँचकर दूसरी ओर अपनी सेना के डेरे डाल दिये। राजा दुर्योधन

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ३ ॥
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत ।
तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ॥ ४ ॥
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ५ ॥
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान्सहसोमकान् ॥ ६ ॥
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।
इदं तत्समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ॥ ७ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयङ्करम् ।
यदेतत्कत्थनावाक्यं सञ्जयो महदब्रवीत् ॥ ८ ॥
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते ।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत्सर्वं क्रियतामिति ।
ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ॥ १० ॥
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः ।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥ ११ ॥
य इच्छसि जगत्सर्वं नश्यमानं नृशंसवत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ॥ १२ ॥

ने छावनी स्थापित करके आये हुए राजाओं को सम्मान के साथ ठहराया और अवसर-अवसर पर रक्षा के लिए सिपाहियों की चौकियां बिठा दीं। रसद और शस्त्र-अस्त्र आदि की रक्षा का प्रबन्ध करके कर्ण, शकुनि और दुःशासन को बुलाकर उनसे आगे के काम के बारे में सम्मति की। कर्ण आदि की सम्मति से दुर्योधन ने एकान्त में उलूक को बुलाया। उलूक के आने पर उससे दुर्योधन ने कहा—हे कैतव्य ! तुम सोमकों (पाञ्चालों) और पाण्डवों के पास जाकर वासुदेव के आगे युधिष्ठिर से कहो कि बहुत दिनों का सोचा हुआ संसार के लिए भयङ्कर कौरवों और पाण्डवों का युद्ध इस समय होनेवाला है। सञ्जय ने कौरवों के आगे वासुदेव की, तुम्हारी और तुम्हारे भाइयों की अपने मुख की गई अपनी प्रशंसा सुनाई थी; उसे ज्यों की त्यों कर दिखाने का समय आ गया है। इस समय तुम लोग अपनी प्रतिज्ञाएं पूरी करो। हे उलूक ! तुम बड़े पाण्डव युधिष्ठिर से कहना कि आप धर्मात्माओं में श्रेष्ठ होकर भी पाञ्चालों, केकयों और अपने भाइयों के साथ अधर्म करने पर क्यों उतारू हैं ?॥१-११॥ आप निर्दय पुरुष की तरह सारे जगत् का विनाश कैसे पसन्द करते हैं ! मैं तो समझता था कि आप सब प्राणियों के रक्षक और उन्हें अभय

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ॥ १३ ॥
यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुराध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ १४ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम् ।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ॥ १५ ॥
मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु ।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन्गङ्गातीरे कदाचन ॥ १६ ॥
स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम् ।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ॥ १७ ॥
तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः ।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ॥ १८ ॥
पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः ।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ॥ १९ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः ।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ॥ २० ॥
कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत ।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत्तत्र विनिश्चये ॥ २१ ॥
बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम् ।
[illegible]

उपगम्य तु ते सर्वे विडालमिदमब्रुवन् ।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ॥ २३ ॥
भवान्नो गतिरव्यग्रा भवान्नः परमः सुहृत् ।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ २४ ॥
भवान्धर्मपरो नित्यं भवान्धर्मे व्यवस्थितः ।
स नो रक्ष महाप्रज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ॥ २५ ॥
एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते ।
प्रत्युवाच ततः सर्वान्मूषिकान्मूषिकान्तकृत् ॥ २६ ॥
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च ।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ॥ २७ ॥
युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः ।
तपसाऽस्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ॥ २८ ॥
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित्पश्यामि चिन्तयन् ।
सोऽस्मि नेयः सदा ताता नदीकूलमितः परम् ॥ २९ ॥
तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ॥ ३० ॥
ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन् ।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ॥ ३१ ॥
मूषिकाणां गणश्चाऽत्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः ।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ॥ ३२ ॥

और हम इनके पास बड़े आनन्द में रहेंगे। इससे पास आकर उन्होंने उस बिलाव से कहा—हे मामाजी! आप धर्मात्मा हैं; धर्म कर्म किया करते हैं। आपको हम अपना शुभचिन्तक और आश्रयदाता समझते हैं। हम आपके भरोसे यहां सुख से रहना और विचरना चाहते हैं। इसी लिए हम लोग आपकी शरण में आये हैं। अब आप देवताओं की रक्षा करनेवाले इन्द्र की तरह हमारी रक्षा कीजिए ॥२१।२४॥ मूसों के वैरी बिलाव ने उन मूसों की ये बातें सुनकर उनसे कहा—तपस्या और दूसरों की रक्षा, ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। किन्तु तुम लोग शरण में आये हो, इसलिए तुम्हारी रक्षा करना मेरा धर्म है। मैं एक प्रतिज्ञा पर तुम्हारी रक्षा करूँगा। दृढ़ अहिंसा का व्रत करने से और कठिन तप करने से मैं इतना निर्बल हो गया हूं कि चल-फिर तक नहीं सकता। इसलिए तुम्हें मेरा एक काम यह करना होगा कि नित्य मुझे लादकर नदी किनारे तक पहुंचाना पड़ेगा। मूसों ने यह शर्त स्वीकार कर ली और अपने परिवार को उस बिलाव के हाथ में सौंप दिया ॥२५।३०॥ अब वह पापी बिलाव नित्य मूसों को खाने लगा और दिन-दिन मोटा, दृढ़, बलवान् और सुन्दर होने लगा। उधर मूसों की सङ्ख्या दिन-दिन कम होने

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्याऽन्योन्यमब्रुवन् ।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ॥ ३३ ॥
ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद्वचनं राजन्मूषिकाणां महागणम् ॥ ३४ ॥
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः ।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ॥ ३५ ॥
साधु साध्विति ते सर्वे पूजयाञ्चक्रिरे तदा ।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ॥ ३६ ॥
अविज्ञानात्ततः सोऽथ डिण्डिक ह्युपभुक्तवान् ।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ३७ ॥
तत्र वृद्धतमः कश्चित्कोलिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद्वचनं राजञ्ज्ञातिमध्ये यथातथम् ॥ ३८ ॥
न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा ।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ॥ ३९ ॥
अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते ।
अद्य सप्ताष्टदिवसान्डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ॥ ४० ॥
एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
विडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ॥ ४१ ॥
तथा त्वमपि दुष्टात्मन्वैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा विडालो मूषिकेष्विव ॥ ४२ ॥

लगी। तब मूसे मिलकर तब परस्पर में कहने लगे—देखो, हमारे मामा बिलावराम दिन दिन मोटे होते चले जा रहे हैं, और हमारा परिवार क्षीण हुआ जा रहा है। यह सुनकर डिण्डिक नाम के एक बुद्धिमान् और चतुर मूसे ने कहा—तुम सब मिलकर नदी के किनारे चलो। आज मैं अकेला बिलाव के साथ जाऊंगा ॥३१।३४॥ सब मूसे उसकी प्रशंसा करके उसकी आज्ञा से गङ्गातट पर गये। बिलाव को यह कुछ हाल विदित न था। वह डिण्डिक को भी खा गया। तब मूसे फिर आपस में सम्मति करने लगे। उस समय एक बूढ़े कोलिक नाम के मूसे ने कहा—हे भाइयो! हमारे मामा में धर्म का नाम तक नहीं है। वह कपट की मित्रता में अपने दुराचार को छिपाये हुए है। धोखा देने के लिए उसने बड़ी बड़ी जटाएं बढ़ा रक्खी हैं। मूल फल खानेवाले की विष्ठा में रोएं नहीं होते। बिलाव नित्य बढ़ता जाता है और हम मूसे दिन दिन क्षीण हुए जाते हैं। आज सात आठ दिन से डिण्डिक का भी पता नहीं है ॥३५।४०॥ कोलिक की बातें सुनकर सब मूसे भाग लेकर इधर उधर भाग गये। दुरात्मा बिलाव भी, भण्डाफोड़ हो जाने से, अपने स्थान को चला गया। हे युधिष्ठिर! आप भी बिडालव्रत धारण किये हुए

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥
त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन्क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥
बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥
क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाऽश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥
पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नाऽस्माभिरपवर्जिताः ।
युद्ध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥
त्वत्कृते दुष्टभावस्य सन्त्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥
यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजञ्शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्याऽयमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५० ॥
किं नु युद्धात्परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

हैं। बिलाव ने मूसों के साथ जो व्यवहार किया था, वही आप अपनी जातिवालों के साथ कर रहे हैं। आपकी बातें और तरह की हैं और काम और तरह के हैं। आपका वेद पढ़ना और शान्ति की निष्ठा बाहरी आडम्बर या दिखावा है। आप धर्मात्मा समझे जाते हैं, इसलिए कपट-व्यवहार छोड़कर, क्षत्रिय धर्म को ग्रहण कीजिए और अपने योग्य काम कीजिए। बाहुबल से पृथ्वी जीतकर ब्राह्मण-पितरों को दान आदि से सन्तुष्ट कीजिए। आप माता के हितैषी हैं। आपकी माता कई वर्षों से कष्ट पा रही हैं। इस समय युद्ध में शत्रुओं को जीतकर सपूत की तरह उनके आंसू पोंछिए और उनका हित तथा सम्मान कीजिए। आपने हमसे पांच गांव मांगे थे, किन्तु हमने दिये नहीं; यही आपके क्रोध और युद्ध की तैयारी का कारण है। ॥४१।४७॥ मैंने आपके ही कारण दुष्ट भाववाले बिदुर को त्याग दिया है। इस समय आप लाक्षाभवन में जलाये जाने का स्मरण करके वीरों की तरह पराक्रम दिखाइए। आपने कृष्ण के मुख से हमारे पास कहला भेजा था कि मैं शान्ति और युद्ध दोनों के लिए तैयार हूं। इस समय उसी युद्ध का समय आ गया है। युद्ध ही क्षत्रिय के लिए परम लाभ और उसका धर्म है। यही सोचकर मैंने संग्राम की सब सामग्री एकत्र कर ली है और युद्ध करने को मैं तैयार हूं। आप क्षत्रिय हैं। आपने भी द्रोणाचार्य और कृपाचार्य से अस्त्रविद्या सीखी है। समझ में नहीं आता कि तुल्य बलवाले और तुल्य वंश में उत्पन्न

द्रोणादस्त्राणि सम्प्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥
ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रतियोधय ॥ ५३ ॥
सभामध्ये च यद्रूपं मायया कृतवानसि ।
तत्तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥
इन्द्रजालं च मायां वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥
वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥
दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि ।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥
मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे ।
यद्ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम् ।
आचचक्षे च मे सर्वं सञ्जयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥
मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना ।
स सत्यसङ्गरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥
युद्ध्यस्वाऽद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव ।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥

होकर भी आपने वासुदेव का आसरा क्यों लिया है ॥४८।५१॥ हे उलूक ! तुम पाण्डवों के आगे ही वासुदेव से कहना कि हे केशव ! आप अपने लिए और पाण्डवों के लिए मुझसे जी खोलकर युद्ध कीजिए। कुरुसभा में जैसे माया का रूप दिखाया था वैसे ही वह रूप रखकर अर्जुन के साथ युद्ध-भूमि में मेरे सामने आइए। इन्द्रजाल, माया या भयानक कपट-विद्या आदि बातें संग्राम में हथियारबन्द वीर का कोप बढ़ाने के सिवा उसे भयभीत करा नहीं सकतीं। हम भी माया के प्रभाव से इसी शरीर से बहुतेरे बहुरूप दिखाकर स्वर्ग, आकाश, रसातल और इन्द्र की पुरी आदि में जा सकते हैं। परन्तु यह कोई वीरता नहीं। माया से या भय दिखाने से सिद्धि नहीं प्राप्त होती और न कोई भयभीत हो सकता है। एक विधाता ही इच्छा करने से सब प्राणियों को अपने वश में कर सकते हैं। हे यादव ! आप जो कहा करते हैं कि मैं युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाश कराकर पाण्डवों को राज्य दिलाऊँगा; मैं जिनका सहायक हूँ उन्हीं अर्जुन के साथ दुर्योधन का वैर हुआ है; सो आपकी ये बातें मैं संजय के मुख से सुन चुका हूँ। हे कृष्ण ! समय आ गया है, अब आप सब प्रकार की तैयारी के साथ युद्ध में जुटकर,

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥
त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन्क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥
बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥
क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाऽश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥
पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नाऽस्माभिरपवर्जिताः ।
युद्ध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥
त्वत्कृते दुष्टभावस्य सन्त्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥
यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजञ्शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्याऽयमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५० ॥
किं नु युद्धात्परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

हैं। बिलाव ने मूसों के साथ जो व्यवहार किया था, वही आप अपनी जातिवालों के साथ कर रहे हैं। आपकी बातें और तरह की हैं और काम और तरह के हैं। आपका वेद पढ़ना और शान्ति की निष्ठा बाहरी आडम्बर या दिखावा है। आप धर्मात्मा समझे जाते हैं, इसलिए कपट-व्यवहार छोड़कर, क्षत्रिय धर्म को ग्रहण कीजिए और अपने योग्य काम कीजिए। बाहुबल से पृथ्वी जीतकर ब्राह्मण-पितरों को दान आदि से सन्तुष्ट कीजिए। आप माता के हितैषी हैं। आपकी माता कई वर्षों से कष्ट पा रही हैं। इस समय युद्ध में शत्रुओं को जीतकर सपूत की तरह उनके आंसू पोंछिए और उनका हित तथा सम्मान कीजिए। आपने हमसे पांच गांव मांगे थे, किन्तु हमने दिये नहीं; यही आपके क्रोध और युद्ध की तैयारी का कारण है। ॥४१।४७॥ मैंने आपके ही कारण दुष्ट भाववाले विदुर को त्याग दिया है। इस समय आप लाक्षाभवन में जलाये जाने का स्मरण करके वीरों की तरह पराक्रम दिखाइए। आपने कृष्ण के मुख से हमारे पास कहला भेजा था कि मैं शान्ति और युद्ध दोनों के लिए तैयार हूं। इस समय उसी युद्ध का समय आ गया है। युद्ध ही क्षत्रिय के लिए परम लाभ और उसका धर्म है। यही सोचकर मैंने संग्राम की सब सामग्री एकत्र कर ली है और युद्ध करने को मैं तैयार हूं। आप क्षत्रिय हैं। आपने भी द्रोणाचार्य और कृपाचार्य से अस्त्रविद्या सीखी है। समझ में नहीं आता कि तुल्य बलवाले और तुल्य वंश में उत्पन्न

द्रोणादस्त्राणि सम्प्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥
ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रतियोधय ॥ ५३ ॥
सभामध्ये च यद्रूपं मायया कृतवानसि ।
तत्तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥
इन्द्रजालं च मायां वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥
वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥
दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि ।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥
मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे ।
यद्ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम् ।
आचचक्षे च मे सर्वं सञ्जयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥
मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना ।
स सत्यसङ्गरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥
युद्ध्यस्वाऽद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव ।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥

होकर भी आपने वासुदेव का आसरा क्यों लिया है ॥४८।५१॥ हे उलूक ! तुम पाण्डवों के आगे ही वासुदेव से कहना कि हे केशव ! आप अपने लिए और पाण्डवों के लिए मुझसे जी खोलकर युद्ध कीजिए। कुरुसभा में जैसे माया का रूप दिखाया था वैसे ही वह रूप रखकर अर्जुन के साथ युद्ध-भूमि में मेरे सामने आइए। इन्द्रजाल, माया या भयानक कपट-विद्या आदि बातें संग्राम में हथियारबन्द वीर का कोप बढ़ाने के सिवा उसे भयभीत करा नहीं सकतीं। हम भी माया के प्रभाव से इसी शरीर से बहुतेरे बहुरूप दिखाकर स्वर्ग, आकाश, रसातल और इन्द्र की पुरी आदि में जा सकते हैं। परन्तु यह कोई वीरता नहीं। माया से या भय दिखाने से सिद्धि नहीं प्राप्त होती और न कोई भयभीत हो सकता है। एक विधाता ही इच्छा करने से सब प्राणियों को अपने वश में कर सकते हैं। हे यादव ! आप जो कहा करते हैं कि मैं युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाश कराकर पाण्डवों को राज्य दिलाऊँगा; मैं जिनका सहायक हूँ उन्हीं अर्जुन के साथ दुर्योधन का वैर हुआ है; सो आपकी ये बातें मैं संजय के मुख से सुन चुका हूँ। हे कृष्ण ! समय आ गया है, अब आप सब प्रकार की तैयारी के साथ युद्ध में जुटकर,

करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम् ।
अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद्यशः ॥ ६२ ॥
अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सशृङ्गकाः ।
मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ॥ ६३ ॥
सन्नाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः ।
तं च तूवरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ॥ ६४ ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम् ।
विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ॥ ६५ ॥
वल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम् ।
प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ॥ ६६ ॥
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ।
यद्ब्रवीपि च कौन्तेय धार्त्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ६७ ॥
निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः ।
त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ॥ ६८ ॥
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युद्धस्व पुरुषो भव ।
शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ॥ ६९ ॥
तद्वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर ।
उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ॥ ७० ॥

पराक्रम दिखाकर, अपना कहा पूरा कर दिखाइए ॥५२।६०॥ अब अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करना और पौरुष दिखाना आपका काम है। जो व्यक्ति पौरुष दिखाकर शत्रुओं के शोक को बढ़ाता है उसी का जन्म सफल है। हे कृष्ण! अभी तक तो आपका यश अकारण ही सब जगह फैल गया है, आपने उसके योग्य कोई काम नहीं किया है। हमें तो यह जान पड़ता है कि जिन लोगों में आपके बल और यश की प्रसिद्धि है वे पुरुषचिह्न धारण करनेवाले नपुंसक हैं। आप कंस राजा के भृत्य हैं, इस कारण मुझ सरीखा चक्रवर्ती राजा आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता। वह तो उसके लिए सब तरह अपमान की बात होगी। हे उलूक! तुम उस बे-मूंछवाले, मूर्ख, पेटू, भीमसेन से बारम्बार कहना कि हे पार्थ! तुमको विराट नगर में बल्लव नाम से रसोइया बनकर जो रहना पड़ा था वह मेरी ही करामात थी। तुमने सभा में जो प्रतिज्ञा की थी वह देखो असत्य न होने पावे। इस समय हो सके तो दुःशासन का रुधिर पियो। हे कुन्तीपुत्र! तुम कहा करते थे कि मैं धृतराष्ट्र के पुत्रों को युद्ध में मारूंगा। अब उसका समय आ गया है, अपना कहना सत्य कर दिखाओ। तुम खाने-पीने में वीरता दिखा सकते हो, यह सत्य है; परन्तु कहां युद्ध और कहां खाना-पीना! अब वीर बनकर युद्ध करो और शक्ति दिखाओ। स्मरण रक्खो, मेरे हाथ से मरकर छाती से गदा लगाकर तुम्हें युद्ध-भूमि में सोना पड़ेगा। तुमने सभा में जो डींग मारी थी

युद्ध्यस्वाऽद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम् ।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ॥ ७१ ॥
ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम ।
युद्ध्येदानीं रणे यत्तः क्लेशान्स्मर च पाण्डव ॥ ७२ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः ॥ ७३ ॥
तथाऽर्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टा प्रजास्ततः ।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चाऽऽगतम् ॥ ७४ ॥
ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह ॥ ७५ ॥
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयाऽपि सः ॥ ७६ ॥
द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम् ।
युद्ध्यस्व ससुहृत्पापं कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ७७ ॥
शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम ।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः ॥ ७८ ॥
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भय ।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव ॥ ७९ ॥

वह निष्फल होगी । हे कैतव्य ! तुम मेरी आज्ञा से कहना कि हे नकुल ! तुम जमकर युद्ध करो । हम तुम्हारा बल देखेंगे ॥६९।७०॥ तुम इस समय युधिष्ठिर पर अनुराग, मेरे साथ अपना द्वेष और द्रौपदी के क्लेश स्मरण करो । हे उलूक ! तुम राजाओं के बीच में सहदेव से कहना कि हे सहदेव ! तुमने अब तक जो बहुत से क्लेश सहे हैं उन्हें स्मरण करके युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । हे दूत ! विराट और द्रुपद से भी मेरा यह सन्देशा कहना कि जब से संसार में प्रजा उपजी है तब से आज तक महागुणी सेवकों ने स्वामियों को और स्वामियों ने सेवकों को नहीं पहचाना । इसी कारण तुम लोग मुझे निन्दा के योग्य समझकर गुणहीन युधिष्ठिर के पक्ष में चले गये हो । मेरे मारने और हराने के लिए तुम एकत्र हुए हो तो अच्छी बात है । अपनी ओर से और पाण्डवों की ओर से मेरे साथ युद्ध करने में कोई त्रुटि न रखना । हे उलूक ! मेरी ओर से तुम धृष्टद्युम्न से कहना कि हे पाञ्चालराजकुमार ! तुम्हें समर में द्रोणाचार्य के सामने पहुंचने पर अपने हित का ज्ञान होगा । तुम्हें प्रतीत हो जायगा कि तुमने पाण्डवों का पक्ष लेकर अपनी बुराई ही की है । अपने मित्र पाण्डवों सहित मुझसे युद्ध करो और गुरु के मारने का कठिन पाप करने को तैयार रहो । हे कैतव्य ! इसके पश्चात् शिखण्डी से कहना कि धनुषधारियों में श्रेष्ठ, महाबाहु भीष्म

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत् ।
धनञ्जयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ८० ॥
अस्मान्वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि ॥ ८१ ॥
राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन्पुरुषो भव ॥ ८२ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम् ।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम् ॥ ८३ ॥
पौरुषं दर्शयन्युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ।
परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च ।
हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च ॥ ८४ ॥
कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृद्ध्यतः ।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत् ॥ ८५ ॥
यत्तदुक्तं महद्वाक्यं कर्मणा तद्विभाव्यताम् ।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः ॥ ८६ ॥
अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर ।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात्तत्कुरु पौरुषम् ॥ ८७ ॥
पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चाऽऽनायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ८८ ॥

तुमको स्त्री समझकर युद्ध में नहीं मारेंगे। इसलिए तुम निर्भय होकर युद्ध करो। हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। अब दुर्योधन ने हंसकर उलूक से कहा— हे कैतव्य ! तुम वीर होने का दम भरनेवाले अर्जुन से वासुदेव के सामने कहना कि हे धनञ्जय ! तुम या तो हमें हराकर निष्कण्टक साम्राज्य करो और या हमारे हाथ से मरकर पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाओ॥७९।८०॥ इस समय नगर से निकाले जाने, वनवास और द्रौपदी के दुःख आदि का स्मरण करके कुछ कर दिखाओ। क्षत्रियों की स्त्रियां जिस समय के लिए पुत्र उत्पन्न करती हैं वह समय आ गया है। इस समय तुम बल, वीर्य, शूरता और अस्त्रकला दिखाकर युद्ध में अपना क्रोध शान्त करो। ऐश्वर्य से भ्रष्ट, क्लेशों से दुःखित, दीन और बहुत दिन तक अपनी जन्म-भूमि से निकाले जाने पर किसकी छाती नहीं फटेगी? पुश्तैनी राज्य छिन जाने पर किस कुलीन, पराई सम्पत्ति लेने से विमुख, पराक्रमी पुरुष के हृदय में क्रोध की अग्नि नहीं जल उठेगी? तुम पहले जो डींग हांक चुके हो उसे पूरा कर दिखाओ। जो पुरुष कहने के अनुसार काम न करके केवल अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है, उसे अच्छे लोग कायर कहते हैं। इस समय तुम शत्रुओं के हाथ में पड़े हुए राज्य को, और स्थान को फिर प्राप्त करो। युद्ध की इच्छा रखनेवाले के यही दो

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद्विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८९ ॥
राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन्पुरुषो भव ॥ ९० ॥
अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः ।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ॥ ९१ ॥
क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम् ।
इह ते दृश्यतां पार्थ युध्यस्व पुरुषो भव ॥ ९२ ॥
लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युध्यस्व सकेशवः॥ ९३ ॥
असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ९४ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन्पुरुषो भव ।
सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ ९५ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ ९६ ॥
ब्राह्मे धनुषि चाऽऽचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ ९७ ॥

प्रयोजन होते हैं, इस कारण इनके लिए तुम पौरुष दिखाओ। जुए में तुम लोग हारे और द्रौपदी भी दुर्दशा के साथ सभा में लाई गई। जो अपने को वीर समझता है वह इन बातों को नहीं सह सकता। निकाले जाने के कारण तुम बारह वर्ष वन में और एक वर्ष छिपकर राजा विराट के यहां रहे हो। इस समय राज्य से निकाले जाने के क्लेश, वनवास के दुःख और द्रौपदी के अपमान को स्मरण करके कुछ कर दिखाओ। जो लोग बारम्बार तुम्हारे लिए कड़वे वचन कहते हैं उन पर क्रोध दिखाओ; क्योंकि क्रोध ही पौरुष है ॥८९।९०॥ हे पार्थ ! तुम पौरुष के साथ हिम्मत करके युद्ध करो। संसार के सब लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञान, उद्योग और अस्त्र-कौशल को देखें। पुरुष बनकर युद्ध करो और पौरुष दिखाओ। सब अस्त्र-शस्त्र स्वच्छ किये जा चुके हैं। उनकी पूजा भी की जा चुकी है; कुरुक्षेत्र का मैदान स्वच्छ पड़ा हुआ है—कीचड़ आदि का नाम तक भी नहीं, तुम्हारे घोड़े मोटे-ताजे हैं और सहायक योद्धा एकत्र हो चुके हैं। इसलिए तुम कल प्रातःकाल केशव के साथ युद्ध के मैदान में उतरो। अभी संग्राम में पितामह भीष्म से तुम्हारा सामना नहीं हुआ। फिर तुम गन्धमादन की चोटी पर चढ़ने की इच्छा रखनेवाले किसी मन्दबुद्धि मनुष्य की तरह वृथा अपनी प्रशंसा अपने आप क्या कर रहे हो ! इस समय डींग हांकना छोड़कर युद्ध में पौरुष दिखाओ। तुम दुर्धर्ष वीर कर्ण, श्रेष्ठ बली शल्य और इन्द्रतुल्य

द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
नहि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ ९८ ॥
अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वाऽपि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद्यथाऽऽत्थ माम् ॥ ९९ ॥
को ह्यस्ति जीविताकांक्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यः स्वस्ति गृहान्व्रजेत् ॥ १०० ॥
कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन्प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १०१ ॥
किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ १०२ ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यैरुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यैर्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः ॥ १०३ ॥
नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ १०४ ॥
अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम् ।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ॥ १०५ ॥
अकत्थमानो युद्धयस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात्सिद्धिरेतस्य नैतत्सिद्धयति कत्थनात् ॥ १०६ ॥

द्रोणाचार्य को परास्त किये बिना कैसे राज्य पाने की इच्छा कर रहे हो ? धनुर्वेद और वेद के आचार्य, युद्ध करने में चतुर, अजेय, सेनापति द्रोणाचार्य को हराने की इच्छा बिलकुल ही निष्फल है । हमने कभी यह नहीं सुना कि पर्वतराज सुमेरु को वायु ने गिरा दिया । तुम द्रोण आदि वीरों को हराने की डींग हाकते हो, किन्तु जो तुम्हारा यह कथन सत्य हो तो सुमेरु का वायु के वेग से उड़ जाना, आकाश का पृथ्वी पर गिर पड़ना और असमय में ही दूसरा युग हो जाना भी सम्भव समझा जायगा। हे अर्जुन! चाहे तुम हो चाहे और कोई हो, युद्ध में द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म के सामने जाकर जीवन की इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष घर को लौट सकता है ? जिसे ये लोग मारना चाहें, या जिसको बाण मारें वह पृथ्वी पर रहकर कभी जीता नहीं बच सकता ॥९९।१००॥ हे मूढ़ ! तुम कुएँ के मेढक की तरह क्या यह नहीं जानते कि—देवताओं द्वारा रक्षित सुरपुरी के समान—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा के, काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, मध्य-कुरु, म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्ची आदि देशों के नरेशों द्वारा रक्षित, देवसेना के समान जीती न जानेवाली, महासेना एकत्र हुई है ? हम युद्ध में तुम्हारे शून्य न होनेवाले तरकस, अग्नि के दिये हुए रथ और दिव्य केतु की महिमा देखेंगे । तुम व्यर्थ का अहङ्कार छोड़कर युद्ध करो । वृथा अपनी प्रशंसा आप क्यों कर रहे हो ? डींग हाकने

यदीदं कत्थनाल्लोके सिद्ध्येत्कर्म धनञ्जय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ १०७ ॥
जानामि ते वासुदेवं सहायं जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ १०८ ॥
न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।
मनसैवाऽनुकूलानि धातैव कुरुते वशे ॥ १०९ ॥
त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ॥ ११० ॥
क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूयत्त्वं दासपणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ १११ ॥
सगदाद्भीमसेनाद्वा फाल्गुनाद्वा सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद्विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥ ११२ ॥
सा वो दास्ये समापन्नान्मोचयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान्दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ११३ ॥
अवोचं यत्षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ११४ ॥
सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यत्तु तन्मम पौरुषम् ॥ ११५ ॥
एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ११६ ॥

से कुछ प्रयोजन नहीं निकल सकता। प्रत्येक पुरुष स्वयं अपनी प्रशंसा कर सकता है, किन्तु जो ऐसा करने से ही कोई काम सिद्ध हो सकता तो सभी लोग वाहवाहीं लूट लेते। यद्यपि तुम्हारे सहायक वासुदेव, चार हाथ के लम्बे गाण्डीव धनुष और अप्रतिम प्रभाव को मैं जानता हूं, तो भी देखो कि तुम्हारा राज्य तुमसे छीनकर उसे भोग रहा हूँ। एकमात्र विधाता में ही यह सामर्थ्य है कि वो चाहते हैं कर लेते हैं, मनुष्य कभी सङ्कल्पमात्र से प्रत्येक काम को सिद्ध नहीं कर सकता। मैंने तेरह वर्ष तक तुम्हारे राज्य का भोग किया, तुम केवल विलाप करते हुए उसे देखते रहे, कुछ कर नहीं सके। इस समय तुम्हें तुम्हारे भाइयों सहित यमलोक को भेजकर फिर वह निष्कण्टक राज्य करूंगा ॥१०१।११०॥ जब तुम दासभाव का दाव लगाकर हार गये थे, तब तुम्हारा गाण्डीव धनुष और भीमसेन का बल कहां चला गया था? उस समय तुम्हें द्रौपदी ने ही छुटकारा दिलाया था। मैंने जो तुमको निस्सार तिल कहा था, सो असत्य नहीं था; क्योंकि तुम लोगों ने विराट राजा के यहां सेवकों की नौकरी की। भीमसेन को जो विराट के यहां रसोइये का काम करके थकना पड़ा सो मेरे ही पौरुष का फल था।

न भयाद्वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥ ११७ ॥
न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ११८ ॥
वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ११९ ॥
संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ १२० ॥
शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ १२१ ॥
भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ १०२ ॥
दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ १२३ ॥
शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं यदाऽवगाह्यश्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धवस्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ १२४ ॥
तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाऽशुचेर्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया बुभूषितः स्वर्ग इवाऽतपस्विना ॥ १२५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६०॥

तुम भी राजा विराट की नाट्यशाला में हिजड़े के वेष से चोटी रखाकर उत्तरा को नाचना-गाना सिखाते रहे। क्षत्रिय लोग क्षत्रिय को ऐसा ही दण्ड देते हैं। मैं तुम्हारे या वासुदेव के भय से कभी तुम लोगों को राज्य न दूंगा। तुम केशव को साथ लेकर मुझसे युद्ध करो। संग्राम में शस्त्र लिये हुए पुरुष को माया, इन्द्रजाल, कुहक या और तरह की विभीषिका कभी नहीं भयभीत करा सकती। हज़ार कृष्ण या सौ अर्जुन भी युद्ध में मेरे सामने नहीं ठहर सकते। मेरे अमोघ बाणों से पीड़ित होकर उन्हें इधर-उधर भागना पड़ेगा। तुम चाहे भीष्म से युद्ध करो, चाहे सिर की टक्कर से पर्वत तोड़ डालो और चाहे हाथों के सहारे अपार सेना-सागर के पार पहुंचने की चेष्टा करो, परन्तु मेरे हाथ से कदापि छुटकारा न पा सकोगे ॥ ११९।१२० ॥ हे अर्जुन! मेरी सेना समुद्र के समान है। इसमें कृपाचार्य महामीन हैं। विविंशति महासर्प हैं। भीष्म इसका वेग है। द्रोणाचार्य महाग्राह के तुल्य हैं। कर्ण तिमिङ्गिल के समान हैं। शल्य भँवर के तुल्य हैं। काम्बोज-नरेश बड़वानल के समान हैं। बृहद्बल उबाल (ज्वार) के समान हैं। भगदत्त तूफान के समान हैं। सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा तिमि आदि भयानक जलचर जीवों के तुल्य हैं। श्रुतायु, कृतवर्मा और दुःशासन इस सागर का महाप्रवाह हैं। शल, सुषेण और चित्र शस्त्र-अस्त्र नाग और घड़ियाल के समान

है। युयुत्सु और दुर्मर्षण जल हैं। जयद्रथ पर्वत के तुल्य हैं। पुरुमित्र इसकी गहराई और शकुनि इसकी उत्पत्ति का स्थान है। तुम जब शस्त्र प्रवाहवाले इस अक्षय महासागर में उतरोगे तब तुम्हारे बन्धु-बान्धव नष्ट होंगे और तुम थक जाओगे; इससे तुम्हें बहुत सन्ताप होगा। स्वर्ग से लौटाये गये पापी की तरह तुम्हारा मन पृथ्वी का राज्य पाने की आशा से फिर जायगा। जिसने तप नहीं किया वह जैसे स्वर्ग को नहीं पा सकता वैसे ही तुम्हें राज्य मिलना भी अत्यन्त दुष्कर और असम्भव है ॥१२१।१२५॥

उद्योगपर्व का एक सौ साठ अध्याय समाप्त हुआ॥ १६० ॥

अथ एकषष्ट्योत्तरशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

सञ्जय उवाच—सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥
अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्याऽदीर्घदर्शिनः ॥ ३ ॥
ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च सन्निधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ॥ ५ ॥
उलूक उवाच—इदं त्वामब्रवीद्राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चाऽऽनायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ७ ॥
द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद्विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८ ॥

एक सौ इकसठ अध्याय ॥ १६१ ॥

सञ्जय कहते हैं कि हे महाराज! अब कैतव्य उलूक पाण्डवों के सेनानिवेश में गया और उनसे मिलकर युधिष्ठिर से कहने लगा—हे राजेन्द्र! आप जानते हैं कि दूत लोग अपनी ओर से कुछ नहीं कहते; स्वामी जो कुछ कहने को कहता है, वही कहते हैं। मैं आपके आगे महाराज दुर्योधन की बातें जैसी की तैसी कहता हूँ; सुनकर मुझ पर क्रोध न कीजिएगा ॥१।२॥ धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—हे उलूक! तुम भयभीत होओ नहीं। तुम निर्भय होकर उस महा-लोभी अदूरदर्शी दुर्योधन की बातें कहो ॥३॥ तब उलूक ने यशस्वी श्रीकृष्ण, महात्मा पाण्डव, सृञ्जय, मत्स्य, पुत्र-सहित विराट, द्रुपद और अन्य राजा लोगों के सामने कहा—हे युधिष्ठिर! आप जुए में हार और द्रौपदी भी सभा में सबके सामने लाई गई। इसके लिए प्रत्येक पुरुष, जिसे पौरुष का अभिमान है, क्रोध कर सकता है। आप लोगों ने बारह वर्ष

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन्पुरुषो भव ॥ ९ ॥
अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥ १० ॥
लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः॥ ११ ॥
असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १२ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन्पुरुषो भव ।
सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ १३ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ १४ ॥
ब्राह्मे धनुषि चाऽऽचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम ॥ १५ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
नहि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ १६ ॥
अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद्यथाऽऽत्थ माम् ॥ १७ ॥

वनों में घूमकर व्यतीत किये; और एक वर्ष तक राजा विराटके घर में दास बनकर आप लोग छिपे रहे। इस समय पहले के क्रोध, राज्य-हरण, वनवास के कष्ट और द्रौपदी के अपमान तथा कष्ट को स्मरण करके अपना पौरुष दिखाइए। भीमसेन ने असमर्थ होकर भी दुःशासन का रक्त पीने की प्रतिज्ञा की थी। इस समय हो सके तो वे उस प्रतिज्ञा को पूरी करें ॥९।१०॥ अस्त्र-शस्त्र स्वच्छ किये जा चुके हैं, उनकी पूजा भी हो चुकी है। कुरुक्षेत्र के मैदान में कीचड़ नहीं है। सब मार्ग समतल हैं। आप लोगों के घोड़े आदि वाहन भी नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हैं। इसलिए कृष्ण को साथ लेकर कल से ही युद्ध आरम्भ कर दीजिए। हे कुन्ती-नन्दन! आपने युद्ध के मैदान में भीष्म को नहीं देखा, फिर गन्धमादन पर चढ़ने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख (लंगड़े) मनुष्य की तरह वृथा अपने मुख अपनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? अहङ्कार छोड़कर पौरुष दिखाइए। अत्यन्त दुर्धर्ष कर्ण, श्रेष्ठ बली शल्य और इन्द्रतुल्य द्रोणाचार्य को युद्ध में हराये बिना आप कैसे राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं? ॥११।१४॥ ब्रह्मविद्या और धनुर्वेद के आचार्य, दोनों विद्याओं में पारदर्शी, युद्ध सञ्चालन में समर्थ, क्षोभ से रहित, अक्षय बल से पूर्ण महात्मा द्रोणाचार्य को हराने की आपकी इच्छा वृथा और असम्भव है। सुमेरु को वायु के वेग से उखड़ जाते हमने कभी नहीं सुना। आपका कहना सत्य हो तो सुमेरु वायु के झोंकों से उखड़ जायगा, आकाशमण्डल पृथ्वी पर गिर पड़ेगा और असमय में ही दूसरा युग आ जायगा। द्रोण के हाथ में पड़कर कौन

को ह्यस्ति जीविताकांक्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान्व्रजेत् ॥ १८ ॥
कथमाभ्यामभिध्यातः संसृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन्विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १९ ॥
किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां न बुद्ध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ २० ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यैरुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यैर्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः २१ ॥
नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ २२ ॥
इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥
अकत्थमानो युद्ध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात्सिद्धिरेतस्य नैतत्सिद्ध्यति कत्थनात् ॥ २४ ॥
यदीदं कत्थनाल्लोके सिद्ध्येत्कर्म धनञ्जय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ २५ ॥
जानामि ते वासुदेवं सहायं जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत्त्वादृशो नास्ति योद्धा जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ २६ ॥
न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।
मनसैवाऽनुकूलानि विधाता कुरुते वशे ॥ २७ ॥

पुरुष जीवन की आशा रख सकता है ? घोड़े का सवार, हाथी का सवार या रथ का सवार, कोई भी योद्धा द्रोण के सामने पड़कर कुशल के साथ घर लौटकर नहीं जा सकता ॥१५।१८॥ भीष्म या द्रोण जिसे मारना चाहें, या बाणों से जिस पर चोट करें वह जीता नहीं बच सकता। आप लोग कुएँ के भीतर रहनेवाले मेंढक की तरह क्या यह नहीं जानते कि देवताओं द्वारा सुरक्षित सुरपुरी की तरह पूर्व, पश्चिम, दाक्षिणात्य और उत्तर के काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्ची आदि देशों के नरेशों से सुरक्षित, देवसेना-सदृश, अजेय महासेना मेरी ओर से युद्ध को एकत्र हुई है ? हे अल्पबुद्धि पाण्डव ! आप गङ्गा प्रवाह की तरह असह्य असंख्य योद्धाओं और भयङ्कर हाथियों के दल से बलशाली मुझसे क्या समझकर युद्ध करना चाहते हैं ? ॥१९।२२॥ हे महाराज ! युधिष्ठिर से इतना कहकर उलूक ने फिरकर अर्जुन से कहा—हे अर्जुन ! तुम भी वृथा अहङ्कार छोड़कर युद्ध करो। व्यर्थ अपनी प्रशंसा क्यों कर रहे हो ? डींग मारना अनुचित है। यदि आप ही अपनी प्रशंसा करने से कार्य सिद्ध हो सकता तब सभी लोग निहाल हो जाते ॥२३।२५॥ तुम्हारे सहायक वासुदेव, चार हाथ का धनुष और अप्रतिम प्रभाव मुझसे छिपा नहीं है। मैं जानता हूँ कि तुम बेजोड़ योद्धा हो। किन्तु इतने पर भी

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ॥ २८ ॥
क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूयत्त्वं दासपणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २९ ॥
सगदाद्भीमसेनाद्वा पार्थाद्वाऽपि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद्विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥ ३० ॥
सा वो दास्ये समापन्नान्मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान्दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ३१ ॥
अवोचं यत्षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ३२ ॥
सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ॥ ३३ ॥
एवमेतत्सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ३४ ॥
न भयाद्वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युध्यस्व सहकेशवः ॥ ३५ ॥
न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ३६ ॥
वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ३७ ॥

मैं तुम्हारा राज्य छीनकर उसे भोग रहा हूं । एक मात्र विधाता में ही सङ्कल्प से सब कार्य सिद्ध करने की सामर्थ्य है । मनुष्यों में यह शक्ति नहीं कि वे जो चाहें, कर लें । मैं तेरह वर्ष से तुम्हें शोक के समुद्र में डालकर तुम्हारा राज्य भोग रहा हूं । इस समय तुम्हें और तुम्हारे भाइयों को मारकर आगे भी निष्कण्टक राज्य करता रहूंगा । जब तुम लोग जुए में हारकर दास हो गये थे तब तुम्हारा गाण्डीव धनुष, भीमसेन की गदा और बल पराक्रम कहां चला गया था ? उस समय द्रौपदी ने ही तुम्हें छुटकारा दिलाया था ॥२९। ३०॥ मैंने तुम लोगों को निरवार तिल कुछ असत्य नहीं कहा था; क्योंकि तुम लोग विराट के भवन में वीर क्षत्रिय के अयोग्य एक वर्ष तक सेवकों का काम करते रहे हो । भीमसेन जो विराट के घर में रसोई का काम करके चूर-चूर हो जाते थे सो मेरे बल का ही परिणाम था । तुमने भी नपुंसक का वेष बनाकर, चोटी रखाकर, कुमारी उत्तरा को नाचने गाने की शिक्षा दी है । क्षत्रिय लोग क्षत्रिय को ऐसा ही दण्ड देते हैं । मैं तुम्हारे या वासुदेव के भय से कभी राज्य न दूंगा । तुम केशव को साथ लेकर युद्ध की तैयारी करो ॥३१।३५॥ माया, इन्द्रजाल, कुहक या अन्य प्रकार की विभीषिका आदि बातें युद्ध में हथियारबन्द

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ ३८ ॥
शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ ३९ ॥
भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ ४० ॥
दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ ४१ ॥
शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं यदाऽवगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धवस्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ ४२ ॥
तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाऽशुचेर्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया बुभूषितः स्वर्ग इवाऽतपस्विना ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

पुरुष को कभी भयभीत नहीं करा सकती। हजारों वासुदेव और सैकड़ों अर्जुन भी मेरे सामने ठहर नहीं सकते। वे मेरे अचूक बाणों की चोट न सह सकने के कारण इधर-उधर भाग खड़े होंगे ॥ ३६।३७ ॥ तुम चाहे भीष्म से युद्ध करो, चाहे सिर की टक्कर से पर्वत तोड़ डालो और चाहे हाथों के सहारे अपार सेना-समुद्र के पार जाने की चेष्टा करो, परन्तु मेरे सामने आने पर जीते न बचोगे। हे कुन्ती के पुत्र! मेरी सेना समुद्र के समान है। उसमें कृपाचार्य महा-मीन, विविंशति महासर्प, भीष्म वेग, द्रोण महाग्राह, कर्ण तिमिङ्गिल, शल्य भंवर, काम्बोज बड़वानल, बृहद्बल उछाल (तरङ्ग), भूरिश्रवा तिमि-तुल्य, युयुत्सु और दुर्मर्षण जल, भगदत्त आंधी (तूफान), श्रुतायु, कृतवर्मा और दुःशासन महाप्रवाह, सुषेण, शल और विचित्र शस्त्र नाग और नक्र, जयद्रथ पर्वत, पुरुमित्र गहराई और शकुनि प्रपात हैं। तुम जब शस्त्रप्रवाह से भरे इस अपार समुद्र में उतरोगे—जब तुम्हारे भाई-बन्धु मारे जायगे और तुम्हारा पौरुष शिथिल होगा, तब तुम्हें बहुत पछतावा होगा। स्वर्ग से भ्रष्ट अशुद्ध पापी की तरह तुम्हारा मन राज्य पाने की आशा को छोड़ देगा। जिसने तप नहीं किया वह जैसे स्वर्ग को नहीं पा सकता वैसे ही तुम्हें राज्य मिलना भी अत्यन्त कठिन और असम्भव है। ३८।४३।

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ इकसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६१ ॥

अथ द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

सञ्जय उवाच—उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन्वाक्यशलाकया ॥ १ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम् ।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनाऽपि धर्षिताः ॥ २ ॥

आसनेभ्यः समुत्तस्थुर्बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः ।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षाञ्चक्रुः परस्परम् ॥ ३ ॥
अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम् ।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ॥ ४ ॥
आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाऽभिहतं भृशम् ।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥
प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम् ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्ते तथाऽस्तु तत् ॥ ६ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम ।
पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ॥ ७ ॥
सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः ।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च सन्निधौ ॥ ८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन्वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान्सर्वान्यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥
उलूकस्य तु तद्वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाऽप्यमार्जयत् ॥ ११ ॥

एक सौ बासठ अध्याय ॥ १६२ ॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे महाराज! क्रोधित सर्प के समान अर्जुन को वाक्य बाणों से पीड़ा पहुंचाते हुए उलूक ने इस तरह संदेशा कह सुनाया। पाण्डव लोग पहले से ही क्रोधित हो रहे थे, इस समय दुर्योधन का संदेशा सुनकर उनके क्रोध की सीमा नहीं रही ॥१।२॥ सभी मारे क्रोध के अपने आसनों से उठ खड़े हुए, हाथ मसलने और क्रोधित सर्प की तरह एक दूसरे के मुख की ओर ताकने लगे ॥३॥ क्रोधित सर्प की तरह सांसें ले रहे भीमसेन सिर झुकाये, लाल-लाल नेत्र किये, टेढ़ी दृष्टि से शकुनि के पुत्र उलूक की ओर देखने लगे ॥४॥ केशव ने भीमसेन को क्रोध से अत्यन्त विह्वल देख मुसकाकर कहा—"हे उलूक! तुम शीघ्र जाकर दुर्योधन से कहो कि हम उनकी बातें सुनकर उनका प्रयोजन समझ गये। जो उनकी इच्छा है उसी के अनुसार काम होगा।" अब श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिर की ओर देखने लगे ॥५।७॥ उलूक ने सृञ्जयगण, श्रीकृष्ण, पुत्रों-सहित राजा द्रुपद, राजा विराट और अन्य राजाओं के सामने अर्जुन से दुर्योधन के बाण-सदृश तीखे वचन कहे। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण और भीमसेन आदि को भी उसने वे वचन सुनाये जो उनसे कहने के लिए दुर्योधन ने कहे थे ॥८।१०॥ क्रुद्ध विषैले सर्प के समान उत्तेजित हो रहे अर्जुन उसके भयङ्कर पापमय वचन सुनकर बहुत ही बिगड़े और अपने माथे का पसीना

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नाऽमृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ॥ १२ ॥
अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्ज्वलुरच्युत ॥ १३ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ १४ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ १५ ॥
उत्पेतुरासनात्सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून्प्रगृह्य रुचिरान्रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ॥ १६ ॥
दन्तान्दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।
तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ १७ ॥
उदतिष्ठत्स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।
उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान्कटकटाय्य च ॥ १८ ॥
हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।
अशक्तानामिवाऽस्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ॥ १९ ॥
श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत्त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।
तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
सर्वक्षत्रस्य मध्ये त्वं यद्वक्ष्यसि सुयोधनम् ।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

पोंछने लगे ॥११॥ महारथी पाण्डवों की सभा में स्थित सब लोग अर्जुन की वह दशा देखकर क्रोध से अधीर हो उठे ॥१२॥ महात्मा वासुदेव और अर्जुन के लिए दुर्योधन ने जिन आक्षेपमय शब्दों का प्रयोग किया था उन्हें सुनकर उस सभा के सब शूरवीर क्रोध से जल उठे।१३। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, केकय देश के पांचों राजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदी के पांचों पुत्र, अभिमन्यु, धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन और महारथी नकुल-सहदेव की आंखें क्रोध के मारे लाल हो गईं। वे सब लाल चन्दन लगे और बजुला आदि से सुशोभित हाथ उठाकर आसनों से उठ खड़े हुए और क्रोध के मारे ओठ चाटते हुए दांत पीसने लगे ॥१४।१७॥ उन सबके आकार और भाव को जाननेवाले भीमसेन क्रोध के मारे अग्नि के समान लाल होकर वेग से खड़े हो गये,और नेत्र निकाल कर दांत कटकटाते तथा हाथ मसलते हुए कहने लगे—हे मूर्ख कैतव्य ! दुर्योधन ने हमें निर्बल समझ-कर भड़काने के लिए जो वचन कहे उन्हें हमने सुन लिया।१८।२०। सुन मन्दमति ! मैं जो कहता हूँ उसे अपने पिता शकुनि, दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण और अन्य

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
मर्षितं ते दुराचार तत्त्वं न बहु मन्यसे ॥ २२ ॥
प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकांक्षी कुरून्प्रति ।
कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ २३ ॥
त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाऽऽहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ॥ २४ ॥
मयाऽपि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ २५ ॥
वेलामतिक्रमेत्सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ २६ ॥
सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चाऽस्मि यथेप्सितम् ॥ २७ ॥
यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माऽभियास्यति ।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ॥ २८ ॥
यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि ।
यथैतद्भविता सत्यं तथैवाऽऽत्मानमालभे ॥ २९ ॥
भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः ।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ३० ॥

राजाओं के सामने दुर्योधन से कहना कि हे दुष्ट ! हम अपने बड़े भाई की प्रसन्नता के खयाल से आज तक तुम्हारे अनुचित व्यवहारों को सहते रहे; इसे तुम अपना सौभाग्य तो समझते नहीं और हमें असमर्थ मानते हो। बुद्धिमान् महात्मा धर्मराज ने वंश की भलाई के लिए शान्ति स्थापित करने की इच्छा से वासुदेव को तुम्हारे पास भेजा, पर तुमने उसका कहना भी न माना। तुम्हारे सिर पर मृत्यु सवार है। कल प्रातःकाल युद्ध छिड़ेगा ॥२१।२४॥ मैंने तुम्हें और तुम्हारे भाइयों को मारने की प्रतिज्ञा की है। हे पापी ! मैं अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण करूंगा। तुम इसमें तनिक भी सन्देह न करो ॥२५॥ समुद्र चाहे अपनी मर्यादा को छोड़ दे, पर्वत चाहे फट जायँ, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा कभी असत्य न होगी ॥२६॥ यदि यमराज, कुबेर या साक्षात् रुद्र भी तुम्हारी सहायता करें, तो भी पाण्डव लोग अपनी प्रतिज्ञाओं के अनुसार काम किये बिना न रहेंगे ॥२७॥ मैं जी भरकर दुःशासन का रक्त पियूंगा। उस समय कोई भी क्षत्रिय, साक्षात् भीष्म की सहायता लेकर, यदि मुझे रोकने आवेगा तो मैं उसे मारे बिना नहीं छोडूंगा। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि क्षत्रियों के बीच मैंने जो वचन कहे थे उन्हें मैं अवश्य पूर्ण करूँगा ॥२८॥ भीमसेन के ये वचन सुनकर असहनशील सहदेव ने भी क्रोध से नेत्र लाल करके वीर

शौटीर शूरसदृशमनीकजनसंसदि ।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ॥ ३१ ॥
नाऽस्माकं भविता भेदः कदाचित्कुरुभिः सह ।
धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात्त्वया सह ॥ ३२ ॥
त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च ।
उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ॥ ३३ ॥
जन्मप्रभृति चाऽस्माकं पिता ते पापपूरुषः ।
अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ॥ ३४ ॥
तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम् ।
अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्मि शकुनिं हन्ता मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ॥ ३६ ॥
उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव ।
भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ३७ ॥
मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः ।
उलूकश्च न ते वाच्यः पुरुषं पुरुषोत्तम ॥ ३८ ॥
दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्याऽनुभाषिणः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ३९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखान्वीरान्सुहृदः समभाषत ।
श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ॥ ४० ॥

सैनिकों के सामने शूरवीरों के समान वचन कहे— हे पापी उलूक ! सुन, अपने पापी पिता शकुनि से यह कहना कि तुम्हारे साथ यदि राजा धृतराष्ट्र का सम्बन्ध न होता तो हम सब कुरुवंशियों में यह फूट और विरोध कभी न होता ॥२९।३२॥ तुम बड़े पापी और कुलघातक हो। धृतराष्ट्र के कुल और संसार के विनाश के लिए ही तुम साक्षात् वैर और पाप का अवतार उत्पन्न हुए हो ॥३३॥ हे उलूक ! *तुम्हारा पापी पिता जन्म से ही हम लोगों के साथ* बुराई और क्रूर व्यवहार करता चला आता है। अब मैं उस शत्रुता का अन्त कर दूंगा। पहले तुम्हें तुम्हारे *पिता के सामने ही मारूँगा; इसके पश्चात् सब क्षत्रिय सैनिकों के सामने उस दुष्ट शकुनि की हत्या करूंगा* ॥३४।३६॥ भीमसेन और सहदेव के कह चुकने पर अर्जुन ने तनिक मुसकाकर भीमसेन से कहा— हे वीर ! जिन लोगों के साथ आपकी शत्रुता है वे यहां पर उपस्थित नहीं हैं। वे मृत्यु के फन्दे में फंसे होने पर भी इस समय अपने घरों में सुखपूर्वक हैं। दूत अपने स्वामी की बात ही कहता है। इस *लिए उलूक को कुछ कठोर वचन कहना उचित नहीं।* भयङ्कर पराक्रमवाले भीमसेन से यों कहकर अर्जुन ने धृष्टद्युम्न आदि अपने वीर मित्रों से कहा-आप

कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः ।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४१ ॥
प्रभावाद्वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः ।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ॥ ४२ ॥
भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम् ।
उलूके प्रापयिष्यामि यद्वक्ष्यति सुयोधनम् ॥ ४३ ॥
श्वोभूते कत्थितस्याऽस्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे ।
गाण्डीवेनाऽभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४४ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनञ्जयम् ।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ४५ ॥
अनुनीय च तान्सर्वान्यथामान्यं यथावयः ।
धर्मराजं तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥
आत्मानमवमन्वानो नहि स्यात्पार्थिवोत्तमः ।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ॥ ४७ ॥
उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम् ।
दुर्योधनस्य तद्वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ॥ ४८ ॥
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।
स्मयमान इव क्रोधात्सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४९ ॥
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ ५० ॥

लोगों ने उस दुर्योधन के वचन, विशेषकर वे वचन जो उसने मेरा और वासुदेव का तिरस्कार करके कहे हैं, सुन लिये ॥३७।४०॥ हमारे हितैषी होने के कारण उन वचनों को सुनकर आप लोग क्रोध से अधीर हो उठे हैं ॥४१॥ मैं वासुदेव के प्रभाव और आप लोगों की सहायता से सब राजाओं और क्षत्रियों को कुछ भी नहीं गिनता ॥४२॥ मैं आप लोगों से अनुमति लेकर दुर्योधन को उसके वाक्यों का उत्तर उलूक के द्वारा भेजता हूं ॥४३॥ हे उलूक ! तुम दुर्योधन से कहना कि अर्जुन ने कहा है—तुमने अपने मुख अपनी प्रशंसा करके जो दुर्वचन कहे हैं उनका उत्तर मैं कल युद्ध-भूमि में गाण्डीव धनुष के द्वारा ही दूँगा। ऐसी बातों का उत्तर ऐसी ही बातों से देना वीरों का नहीं, कायरों का काम है ॥४४॥ अर्जुन का यह उत्तर सुनकर सब राजाओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उनकी प्रशंसा करने लगे ॥४५॥ फिर क्रोध से लाल नेत्र करके, बारम्बार सांस लेते और ओठ चाटते हुए, श्रीकृष्ण और भाइयों की ओर देखकर, हाथ उठाकर युधिष्ठिर ने कहा—हे उलूक ! जो राजा अपने को तुच्छ समझ लेता है वह श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। इसलिए दुर्योधन से कहने के वास्ते मैं जो उनकी बातों का उत्तर देता हूं उसे सुनो ॥४६।५०॥ हे

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम् ।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥ ५१ ॥
पांडवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तते ।
स्ववीर्याद्यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान् ।
अभीतः पूरयन्वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥ ५२ ॥
स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे ।
मान्यामान्यान्पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥ ५३ ॥
आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव ।
आह्वयस्व रणे पार्थान्सर्वथा क्षत्रियो भव ॥ ५४ ॥
परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥ ५५ ॥
स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे ।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान्समभिगर्जसि ॥ ५६ ॥
कृष्ण उवाच—मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥ ५७ ॥
मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥ ५८ ॥
जघन्यकालमप्येतन्न भवेत्सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात्तृणानीव हुताशनः ॥ ५९ ॥

उलूक ! तुम कुरुसभा में जाकर, सब सभासदों को उनकी अवस्था के अनुसार मेरी ओर से सम्मानित करके, कृतघ्न दुर्मति कुलघातक और वैर-विरोध के अवतार दुर्योधन से कहना कि हे पापरूप ! तुम पाण्डवों के साथ सदा से नीच और क्रूर व्यवहार करते आ रहे हो। जो पुरुष निर्भय होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ अपने बल बूते पर शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारता है वही सच्चा क्षत्रिय है। हे कुलकलङ्क ! तुम वैसे ही क्षत्रिय की तरह हमें युद्ध के लिए ललकारो। माननीय और अमाननीय लोगों को आगे करके युद्ध के लिए ललकारना उचित नहीं। अपने और अपने भृत्य-सहचरों के बल बूते पर युद्ध के लिए पाण्डवों को ललकारो और क्षत्रिय के योग्य काम करो। जो पुरुष आप असमर्थ होकर दूसरे के भरोसे पर शत्रु से भिड़ना चाहता है वही हिजड़ा है। तुम पराये बल-बूते पर अपने को बहुत कुछ समझते हो। इस कारण तुम ऐसे अशक्त को हम ऐसे बलवानों के आगे गरजना और हमें बुरा-भला कहकर युद्ध के लिए ललकारना बिलकुल कायरपन है ॥५१।५६॥ अब श्रीकृष्ण ने कहा—हे उलूक ! इसके उपरान्त तुम दुर्योधन से मेरे ये वचन कहना कि हे दुर्योधन ! प्रातःकाल ही युद्ध आरम्भ होगा। उसमें तुम अपना बल दिखाकर अपनी वीरता प्रकट करना। हे दुर्मति ! हे मूढ़ !

युधिष्ठिरनियोगात्तु फाल्गुनस्य महात्मनः ।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः ॥ ६० ॥
यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन्यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्राऽर्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ॥ ६१ ॥
यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमप्याऽवधारय ॥ ६२ ॥
न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः ।
न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६२॥

तुम यही सोचकर नहीं भयभीत होते कि श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करेंगे, अर्जुन का रथ हाकेंगे। मैं चाहूं तो क्रुद्ध होकर दम भर में तुम्हारे दल के सब राजाओं को, अग्नि जैसे घास के ढेर को जला देती है वैसे ही, नष्ट कर सकता हूं। यह निश्चय समझो कि अन्त को तुम्हारे दल का कोई भी राजा जीता न बचेगा। मैं युधिष्ठिर की आज्ञा से वीर अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए उनका रथ हाकूंगा॥५७।६०॥ स्मरण रक्खो, जो तुम तीनों लोकों में भागे भागे फिरोगे, या पाताल में भी प्रवेश होओगे तो तुमको प्रातःकाल वहां भी अर्जुन का रथ देख पड़ेगा। तुम भीमसेन की प्रतिज्ञा को केवल बकवास समझते हो, यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है। तुम समझ लो कि भीमसेन दुःशासन का रक्त पीकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके। तुम सदा से प्रतिकूल और कठोर वचन बोलते आ रहे हो; किन्तु अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल या सहदेव, कोई भी तुम्हें कुछ नहीं समझता ॥६१।६३॥

उद्योगपर्व का एक सौ बासठ अध्याय समाप्त हुआ॥ १६२ ॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

सञ्जय उवाच—दुर्योधनस्य तद्वाक्यं निशम्य भरतर्षभ ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत ॥ १ ॥
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ २ ॥
स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान् ।
अभीतो युध्यते शत्रून्स वै पुरुष उच्यते ॥ ३ ॥
परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।

एक सौ तिरसठ अध्याय ॥ १६३ ॥

सञ्जय कहते हैं—हे महाराज! दुर्योधन ने अर्जुन के लिए जो कठोर वचन कहला भेजे थे उन्हें उलूक के मुख से सुनकर अर्जुन की आंखें लाल हो आईं। वे टेढ़ी दृष्टि से उलूक की ओर देखने लगे। फिर वासुदेव की ओर देखकर और उलूक का हाथ पकड़कर अर्जुन ने कहा—तुम दुर्योधन से कहना कि जो मनुष्य अपने बल पर भरोसा करके निर्भय होकर शत्रुओं को संग्राम के लिए ललकारता

क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ॥ ४ ॥
स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः ।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ॥ ५ ॥
यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम् ।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ॥ ६ ॥
भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन ।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ॥ ७ ॥
यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे ।
हन्ताऽस्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ ८ ॥
कैतव्य गत्वा भरतान्समेत्य सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व ।
तथेत्युवाचाऽर्जुनः सव्यसाची निशाव्यपाये भविता विमर्दः ॥ ९ ॥
यद्वाऽब्रवीद्वाक्यमदीनसत्वो मध्ये कुरून्हर्षयन्सत्यसन्धः ।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः ।
कैतव्य गत्वा भरतान्समेत्य सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व ॥ १० ॥
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्यमापन्नताः पांडवाश्चेति भावः ॥ ११ ॥
स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्वमनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम् ।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ॥ १२ ॥

और उनसे भिड़ जाता है वही वीर है ॥१।३॥ जो अधम क्षत्रिय दूसरों के बल-भरोसे पर शत्रु को संग्राम के लिए बुलाता है वह असमर्थ होने के कारण संसार में अधम गिना जाता है । हे दुर्योधन ! तुम पराये बल पर अपने को बलवान् समझते हो और स्वयं कायर असमर्थ होकर भी दूसरों को नपुंसक कहते हो। सब राजाओं का हित चाहनेवाले, जितेन्द्रिय, माननीय, बुद्धिमान् , बूढ़े पितामह भीष्म को मरण की दीक्षा देकर (अर्थात् सेनापति बनाकर) तुम इस तरह बढ़-बढ़कर बातें कर रहे हो ॥४।६॥ हे दुर्मति! हे कुल घातक ! तुम्हारे अन्त-करण का भाव हम समझ गये हैं । तुमने सोचा है कि पाण्डव लोग दया और खेद के मारे वृद्ध पितामह की हत्या नहीं करेंगे। यही समझकर तुमने उन्हें युद्ध में आगे कर दिया है । किन्तु हे दुर्योधन ! जिन भीष्म के बल पर तुम डींग मार रहे हो उन्हें सब क्षत्रिय वीरों के सामने सबसे पहले मैं मारूँगा । हे उलूक ! तुम जाकर कौरवों के सामने दुर्योधन से कहना कि तुमने जो प्रातःकाल युद्ध आरम्भ होने की बात कही है वह अर्जुन को स्वीकार है ॥७।९॥ कौरव सभा के बीच कौरवों को प्रसन्न करते हुए महापराक्रमी भीष्म ने दुर्योधन को सुनाकर कहा है—"हे उलूक ! तुम पाण्डवों से जाकर मेरा सन्देश कहो कि सृञ्जय-सेना और शाल्वेय सेना को मारने का भार मैंने लिया है । मैं द्रोणाचार्य के बिना भी सारी सेना अथवा जगत् को नष्ट कर सकता हूँ । हे दुर्योधन ! तुम

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य ध्वजी रथी रक्षत सत्यसन्धम् ।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं भीष्मं रथात्पातयिष्यामि बाणैः ॥ १३ ॥
श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः ।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ॥ १४ ॥
यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ॥ १५ ॥
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसवत् ।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ॥ १६ ॥
अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा ।
नैष्ठुर्यस्याऽवलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ॥ १७ ॥
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च ।
अधर्मस्याऽतिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ॥ १८ ॥
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्याऽपनयस्य च ।
द्रक्ष्यसि त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ॥ १९ ॥
वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम ।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ॥ २० ॥
शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥ २१ ॥

पाण्डवों से मत भयभीत होओ ।" भीष्म के ये वचन सुनने से ही तुम समझ रहे हो कि पाण्डव विपत्ति में पड़ गये और तुम्हें राज्य मिल गया । इसी से हमें तुच्छ समझकर, अहङ्कार में आकर, तुम अपने ऊपर आई हुई विपत्ति को देखकर भी नहीं देखते । हे दुर्योधन ! मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सब लोगों के सामने सबसे पहले ही कौरवों के एकमात्र आश्रय वृद्ध पितामह को मारकर रथ से गिरा दूंगा ॥१०।१२॥ इसलिए तुम सूर्योदय के पश्चात् ध्वजा लगे रथ पर बैठकर, अपनी सारी सेना साथ लेकर, यत्न के साथ वृद्ध पितामह की रक्षा करना । कल जब तुम पितामह के शरीर को मेरे तीक्ष्ण बाणों से घायल और जर्जर देखोगे तभी तुम्हें प्रतीत होगा कि मेरा यह कहना सत्य था या केवल डींग ही थी । और, कुरु सभा के बीच में कुपित भीमसेन ने तुम्हारे भाई अदूरदर्शी, अधर्मी, नित्य वैर का भाव रखनेवाले, पापी, पुरुषाभिमानी दुःशासन के बारे में जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी तुम शीघ्र ही सफल होते देखोगे ॥१३।१६॥ हे दुर्योधन ! तुम भी अपने अभिमान, क्रोध, कठोरता निठुरता, आत्मसम्भावना (अपने को सबसे बढ़कर समझना), नीचता, क्रूरता, धर्मद्वेष, अधर्म औरों की निन्दा, बड़े-बूढ़ों की बात न मानना, कर्ण आदि के विजय पाने की आशा पर विश्वास, अपनी सेना अधिक देखकर अकड़ना और सारी अनीति आदि दुर्गुणों का तीव्र फल देखोगे ॥१७।१९॥ वासुदेव मेरे सहायक

भ्रातॄणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ॥ २२ ॥
न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत्सर्वं सत्यं भविष्यति ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ॥ २४ ॥
स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाऽधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ॥ २५ ॥
न चाऽहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथञ्चन ॥ २६ ॥
एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्ष्ये व्यसनं महत् ॥ २७ ॥
स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ २८ ॥
किञ्चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।
मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ॥ २९ ॥
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्ते तथाऽस्तु तत् ।
भीमसेनस्ततो वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ॥ ३० ॥

हैं। हे नराधम ! मैं जब क्रोधित हूं तब तुम अपने जीवन की या राज्य पाने की आशा किस तरह कर रहे हो ! ॥२०॥ जब तुम भीष्म, द्रोणाचार्य और सूतपुत्र कर्ण को वीरों की तरह सब मर्म मरते देखोगे तब तुम्हें अपने जीवन, अपने पुत्रों के जीवन और राज्य लाभ की ओर से निराशा हो जायगी। हे दुर्योधन ! तुम अपने भाइयों और पुत्रों के मरने की सूचना सुनकर और स्वयं भी भीमसेन के हाथ से मारे जाकर मृत्यु की सेज पर अपने कुकर्मों को स्मरण करके पछताओगे। हे उलूक ! मैं कभी किसी बारे में दुबारा प्रतिज्ञा नहीं करता। मैं सत्य कहता हूं, जो कुछ मैंने कहा है वह सब सत्य करके दिखा दूंगा ॥२१।२३॥ युधिष्ठिर ने कहा—हे उलूक ! तुम जाकर मेरी ओर से कहना कि हे दुर्योधन ! तुम अपने चरित्र के समान मेरे चरित्र को मत समझो। असत्य और सत्य में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर तुम्हारे और मेरे चाल-चलन में है। मैं तो चींटी और कीड़े मकोड़ों का भी अनिष्ट करना नहीं चाहता। फिर मैं जाति वध ऐसा भयङ्कर काम कैसे करना चाहता ! ॥२२।२६॥ इसी लिए मैंने पहले तुमसे केवल पांच ही गांव मांगे थे कि तुम्हारी और सारे कुल की हत्या न करनी पड़े। किन्तु तुम अपनी मूर्खता के कारण राज्य के लोभ के वश होकर अपनी प्रशंसा, और बढ़ बढ़कर बातें, करते हो। तुमने वासुदेव की हित की बातें भी नहीं मानीं ॥२७।२८॥ अब बहुत कहना व्यर्थ है, अपनी इच्छा पूरी करने के लिए भाई-बन्धुओं से युद्ध करो। हे उलूक ! तुम

उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम् ।
शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ॥ ३१ ॥
गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये ।
प्रतिज्ञातं मया यच्च सभामध्ये नराधम ॥ ३२ ॥
कर्ताऽहं तद्वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते ।
दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ॥ ३३ ॥
सक्थिनी तव भंक्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान् ।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ॥ ३४ ॥
सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम् ।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ॥ ३५ ॥
हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः ।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥
नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते ।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३७ ॥
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम् ।
तथा कर्ताऽस्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ॥ ३८ ॥
सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत् ।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ॥ ३९ ॥
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः ।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत्त्वं विकत्थसे ॥ ४० ॥

मेरा अहित करने में तत्पर दुर्योधन से कहना कि हे दुर्योधन ! तुम्हारी बातें सुनकर मैं तुम्हारा तात्पर्य समझ गया। तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही काम होगा ॥२९॥ अब राजकुमार भीमसेन ने कहा—हे उलूक ! तुम पापी, दुर्बुद्धि, शठ, कपट-चतुर, दुराचारी दुर्योधन से कहना कि तुम या तो हस्तिनापुर के महलों में ही रहोगे या मरकर गिद्धों के पेट में जाओगे। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं कुरु-सभा में जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ उसे अवश्य पूर्ण करूंगा। समर में दुःशासन को मारकर उसका रक्त पियूँगा और तुम्हारी जांघ तोड़कर तुम्हारे और भाइयों की भी हत्या करूँगा। हे मूढ़ ! मैं धृतराष्ट्र के सब पुत्रोंकी और अभिमन्यु सब राजपुत्रों की साक्षात् मृत्यु है। अधिक क्या कहूँ, मैं तुमको तुम्हारे भाइयों सहित मार-कर धर्मराज के सामने तुम्हारे सिर पर पांव रक्खूंगा ॥३०।३६॥ नकुल ने कहा—हे उलूक ! तुम दुर्योधन से कहना कि मैंने तुम्हारा संदेशा सुन लिया; जैसा तुमने कहा है वैसा ही मैं सब काम करूंगा॥३७।३८॥सहदेव ने कहा—हे उलूक ! तुम दुर्योधन से कहना कि हे धार्तराष्ट्र ! तुम जो चाहते हो वही होगा। इस समय तुम जैसे प्रसन्नता से अपने मुख अपनी प्रशंसा करते हुए कड़वी बातें कह रहे हो वैसे ही पुत्र, जातिवाले,

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः ।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा ।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ॥ ४१ ॥
शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ॥ ४२ ॥
पश्य त्वं मां रणे राजन्कुर्वाणं कर्म दारुणम् ।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ॥ ४३ ॥
तमहं पातयिष्यामि रथात्तव पितामहम् ।
अहं भीष्मवधात्सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ॥ ४४ ॥
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः ।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ॥ ४६ ॥
अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत् ।
कर्ता चाऽहं तथा कर्म यथा नाऽन्यः करिष्यति ॥ ४७ ॥
तमब्रवीद्धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत् ।
नाऽहं ज्ञातिवधं राजन्कामयेयं कथञ्चन ॥ ४८ ॥
तवैव दोषाद्दुर्बुद्धे सर्वमेतत्त्वनावृतम् ।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ॥ ४९ ॥
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः ।
उलूकस्तु ततो राजन्धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥

भाई और अनुचर आदि के साथ मरते समय तुम्हें शोक के समुद्र में डूबना पड़ेगा ॥३९।४०॥ वृद्ध राजा विराट और द्रुपद ने कहा—सज्जनों की सेवा करना हमें सदा रुचता है। कल यह बात प्रकट हो जायगी कि हम दास हैं या प्रभु। सबका पौरुष भी कल प्रकट हो जायगा ॥४१॥ शिखण्डी ने कहा—हे उलूक! सदा पाप विचार में डूबे हुए दुर्योधन से तुम कहना कि मैं युद्ध में जो भयानक और असाध्य काम करूंगा वह तुम प्रत्यक्ष देखोगे। जिनके बल पर तुम युद्ध में विजय का निश्चय किये हुए हो उन तुम्हारे वृद्ध पितामह को मारकर मैं रथ से गिराऊंगा। विधाता ने भीष्म को मारने के लिए ही मुझे उत्पन्न किया है। इसलिए मैं सब वीरों के सामने ही महात्मा भीष्म को मारूंगा ॥४२।४५॥ धृष्टद्युम्न ने कहा—तुम मेरी आज्ञा के अनुसार दुर्योधन से कहना कि मैं युद्ध में अनुचरों-बान्धवों-सहित द्रोणाचार्य को अवश्य मारूंगा ॥४५।४६॥ सबके पीछे युधिष्ठिर ने करुणा के भाव से कहा—हे उलूक! तुम दुर्योधन से कहना कि भाइयों को मारने की मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं थी, किन्तु तुम्हारी दुर्बुद्धि से यही होगा। धृष्टद्युम्न आदि

आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।
उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ५१ ॥
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ॥ ५२ ॥
नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत ।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ॥ ५३ ॥
कैतव्यस्य तु तद्वाक्यं निशम्य भरतर्षभ ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ॥ ५४ ॥
आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा ।
यथा प्रागुदयात्सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्यनीकिनः ॥ ५५ ॥
ततः कर्णसमादिष्टा दूताः सन्त्वरिता रथैः ।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ॥ ५६ ॥
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात् ।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ॥ ५७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥१६३॥

प्रधान पुरुषों ने जो प्रतिज्ञाएं की हैं, उनका अनुमोदन मुझे विवश होकर करना पड़ेगा। हे उलूक! अब तुम जाओ, अथवा यहां रहना चाहो तो रह सकते हो। हम तुम्हारे हितैषी बान्धव हैं। अब युधिष्ठिर से अनुमति लेकर उलूक चल दिया ॥४७।५०॥ उसने दुर्योधन के पास जाकर उससे वासुदेव, भीमसेन, धर्मराज, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और अर्जुन के उत्तर तथा पौरुष आदि का समाचार विस्तारपूर्वक कहा। उलूक के मुख से सब समाचार सुनकर दुर्योधन ने शकुनि, दुःशासन और कर्ण से कहा—तुम लोग सब राजाओं की, अपनी और मित्रों की सेना को आज्ञा दे दो कि वे सूर्योदय के पहले ही युद्ध के लिए तैयार रहें। कर्ण ने उसी समय राजा की यह आज्ञा दूतों के हाथ सब सेना के पास भेज दी। दूत लोग रथ, ऊंट, घोड़े, खच्चर आदि पर बैठकर, छावनी भर मे घूम-घूमकर सब राजाओं से कहने लगे कि आप सूर्योदय के पहले युद्ध की तैयारी कर दें ॥५१।५७॥

उद्योगपर्व का एक सौ तिरसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६३ ॥

अथ चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय. ॥ १६४ ॥

सञ्जय उवाच—उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ॥ १ ॥

एक सौ चौसठ अध्याय ॥ १६४ ॥

सञ्जय कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ! इधर उलूक के जाने पर युधिष्ठिर ने भीमसेन आदि महारथी सेनापतियों के अधीन अपनी सेनाको युद्धकी तैयारी के लिए आज्ञा दे दी। उस समय सेना की टुकड़िया समुद्र

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम् ।
चतुर्विधबलां भीमामकम्पां पृथिवीमिव ॥ २ ॥
भीमसेनादिभिर्गुप्तां साऽर्जुनैश्च महारथैः ।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ॥ ३ ॥
तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ॥ ४ ॥
यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत् ।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ॥ ५ ॥
धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम् ।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैव्यं च कृतवर्मणे ॥ ६ ॥
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत् ।
शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ॥ ७ ॥
सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै ।
द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ॥ ८ ॥
वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम् ।
स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ॥ ९ ॥
एवं विभज्य योधांस्तान्पृथक्च सह चैव ह ।
ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः ।
विधिवद्व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ॥ ११ ॥
यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत् ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥
समाप्तं चोलूकदूतागमनपर्व

की लहरों के समान जान पड़ने लगी। अग्निवर्ण धृष्टद्युम्न सेना के अग्र भाग में द्रोणाचार्य से युद्ध करने के लिए स्थिर हुए ॥१-४॥ धृष्टद्युम्न ने बल और उत्साह के अनुसार रथियों को उनके कर्तव्य का उपदेश किया। उन्होंने द्वन्द्वयुद्ध के लिए जोड़ियां बना दीं। कर्ण से अर्जुन का, दुर्योधन से भीमसेन का, शल्य से धृष्टकेतु का, कृपाचार्य से उत्तमौजा का, अश्वत्थामा से नकुल का, कृतवर्मा से शैव्य का, जयद्रथ से सात्यकि का, भीष्म से शिखण्डी का, शकुनि से सहदेव का, शल से चेकितान का, त्रिगर्त-गण के साथ द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का, वृषसेन और अन्य राजाओं के साथ अभिमन्यु का युद्ध निश्चित हुआ। धृष्टद्युम्न अभिमन्यु को अर्जुन से भी बढ़कर समझते थे। सेनापति बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न ने इस तरह अलग-अलग सेनाओं

का विभाग करके अपने भाग में द्रोणाचार्य को कल्पित किया। युद्ध के लिए इस तरह निश्चय करके, व्यूह-रचना और सैन्य संस्थापन करके, पाण्डवों की विजय की इच्छा से धृष्टद्युम्न युद्ध-भूमि में तैयार हो रहे ॥५।१२॥

उद्योगपर्व का एक सौ चौसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६४ ॥

अथ रथातिरथसंख्यानपर्व ।

अथ पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे ।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥ १ ॥
हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे ।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ॥ २ ॥
स चाऽपरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम् ।
किमुक्तवान्महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ३ ॥
सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धर. ।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततस्तत्सञ्जयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत् ।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणाऽमिततेजसा ॥ ५ ॥
सञ्जय उवाच—सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप ।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥ ६ ॥
नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये ।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥ ७ ॥
सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ॥ ८ ॥
यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥

एक सौ पैंसठ अध्याय ॥ १६५ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! महावीर अर्जुन जब युद्ध में भीष्म के वध की प्रतिज्ञा कर चुके तब मन्दमति दुर्योधन आदि मेरे पुत्रों ने क्या किया? ॥१॥ मैं पिता भीष्म को युद्ध में वासुदेव की सहायता से अर्जुन के बाणों से मरा पड़ा सा देख रहा हूँ ॥२॥ महा बुद्धिमान् भीष्म ने अर्जुन की यह प्रतिज्ञा सुन कर क्या कहा? ॥३॥ कौरव श्रेष्ठ भीष्म ने सेनापति होकर आगे क्या यत्न किया? ॥४॥ सञ्जय महातेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्म की बातें धृतराष्ट्र को यों सुनाने लगे कि हे राजेन्द्र ! महापराक्रमी भीष्म ने सेनापति का पद स्वीकार करके दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कहा—हे दुर्योधन ! आज मैं देवताओं के सेनापति शक्तिपाणि कुमार को नमस्कार करके तुम्हारा सेनापति होता हूँ ॥५।७॥ मैं सेना के सञ्चालन का जानकार और तरह तरह के व्यूहों की रचना में निपुण हूँ। वृत्ति लेकर काम करनेवाले और अवैतनिक, दोनों

व्यूहानां च समारम्भान्दैवगान्धर्वमानुषान् ।
नैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान्व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥
सोऽहं योरस्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच—विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥
किंपुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥ १३ ॥
भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥
रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवाऽतिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥ १५ ॥
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ १६ ॥
भीष्म उवाच—गान्धारे श्रृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवाऽतिरथाश्च ये ॥ १७ ॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे श्रृणु ॥ १८ ॥
भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दु:शासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसंमितैः ॥ १९ ॥

तरह के सिपाहियों को काम में लगाना या उनसे काम लेना मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं ॥८॥ हे कुरुनन्दन ! मैं बृहस्पति के समान चढ़ाई, युद्ध और शत्रुओं के अस्त्रों को निष्फल करना पूर्ण रूप से जानता हूं। ॥९॥ देवता, गन्धर्व और मनुष्य, इन तीनों की व्यूह-रचना मुझे अच्छी तरह विदित है। मैं अपने व्यूहों की सहायता से पाण्डवों को भ्रम में डालकर शास्त्र विधि के अनुसार तुम्हारी सेना की रक्षा और शत्रुसेना से युद्ध करूंगा। अब तुम सब तरह की चिन्ता मन से हटा दो॥१०।११॥ दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! आपको सेनापति पाकर देवताओं और दैत्यों से भी मैं नहीं भयभीत होता ॥१२॥ आप और द्रोण मेरे पक्ष में हैं, इसलिए मैं अवश्य विजय पाऊंगा ॥१३॥ मैं आपकी सहायता से देवताओं का राज्य भी प्राप्त कर सकता हूं ॥१४॥ हे सेनापति ! आप शत्रुओं की और हमारी सब बातें जानते हैं। मैं अपने और शत्रुपक्ष के रथी और अतिरथी योद्धाओं की संख्या सुनना चाहता हूं। कृपा करके कहिए ॥१५।१६॥ पितामह ने कहा—हे दुर्योधन ! तुम्हारी सेना में हजारों लाखों रथी और अनेक अतिरथी हैं। उनकी संख्या सुनो। हे राजेन्द्र ! तुम, दुःशासन आदि भाइयों सहित, सबसे श्रेष्ठ रथी हो। तुम्हारे

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।
रथोपस्थे गजस्कंधे गदाप्रासासिचर्मणि ॥ २० ॥
संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ २१ ॥
एते हनिष्यंति रणे पञ्चालान्युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ॥ २२ ॥
तथाऽहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून्विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥ २३ ॥
न त्वात्मनो गुणान्वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥ २४ ॥
अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः ।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः ॥ २५ ॥
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव ।
मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः ॥ २६ ॥
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे ।
भागिनेयान्निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः॥
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान् ॥ २७ ॥
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान् ।
भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ॥ २८ ॥

सब भाई वार करना और उससे बचना अच्छी तरह जानते हैं। अस्त्र-विद्या में सभी द्रोणाचार्य के प्रिय शिष्य हैं और रथ या हाथी पर बैठकर गदा, प्रास, ढाल-तलवार आदि शस्त्रों का युद्ध कर सकते हैं ॥१७।२०॥ वे शत्रुसेना को रोक सकते हैं, उस पर प्रहार कर सकते हैं और अपनी सेना को संभाल सकते हैं। इनका पाण्डवों से घोर वैमनस्य है। वे लड़ाके वीर पाञ्चालों की सेना को मारेंगे ॥२१।२२॥ मैं तुम्हारी सेना का सञ्चालक हूं। मैं पाण्डवों को तुच्छ समझकर शत्रु-सेना का नाश करूंगा। मेरे गुणों को तुम जानते ही हो। अपने मुख से अपने गुणों का वर्णन करना उचित नहीं। भोजपति कृत-वर्मा श्रेष्ठ योद्धा और अतिरथी हैं ॥२३॥ वे निस्सन्देह तुम्हारा कार्य सिद्ध करेंगे। बड़े बड़े योद्धा उन पर आक्रमण नहीं कर सकते। उनका बाण बहुत दूर तक जाता है और उनका धनुष भी दृढ़ है ॥२४॥ इन्द्र जैसे दानवों की सेना को मारते हैं वैसे ही कृत-वर्मा पाण्डवों की सेना का विनाश करेंगे। मद्रराज शल्य भी अतिरथी हैं ॥२५॥ वे प्रत्येक युद्ध में श्रीकृष्ण की बराबरी का दावा रखते हैं। अपने सगे भानजों को छोड़कर वे तुम्हारे पक्ष में आये हैं। वे समुद्र की लहरों के समान शत्रुओं को बाण-वर्षा में बहाते हुए पाण्डवों से निकट युद्ध करेंगे। तुम्हारे परम हितचिन्तक मित्र और अस्त्रविद्या में निपुण भूरिश्रवा

सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः ।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ॥ २९ ॥
सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः ।
योत्स्यते समरे राजन्विक्रान्तो रथसत्तमः ॥ ३० ॥
द्रौपदीहरणे राजन्परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः ।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा ॥ ३१ ॥
एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम् ।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान्योद्धुमाहवे ॥ ३२ ॥
स एष रथशार्दूलस्तद्वैरं संस्मरन्रणे ।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् । ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

भी अतिरथी हैं ॥२६।२७॥ वे रथों के रक्षकों के भी समूह की रक्षा करनेवाले बड़े वीर हैं और युद्ध में शत्रुओं की बहुत सी सेना मार गिरावेंगे। सिन्धुराज जयद्रथ रथी से दो गुनी शक्ति रखते हैं। वे भी पाण्डवों से घोर युद्ध करेंगे। वन में द्रौपदी-हरण करने पर पाण्डवों ने जयद्रथ को जीतकर बड़ा अपमान किया था। जयद्रथ ने घोर तप करके महादेव से दुर्लभ वर प्राप्त किया है। वे भी उस पिछले वैर को स्मरण करके पाण्डवों से भयङ्कर युद्ध करेंगे॥२८।३३॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ पैंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६५॥

अथ षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

भीष्म उवाच—सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः ।
तवार्थसिद्धिमाकांक्षन्योत्स्यते समरे परैः ॥ १ ॥
एतस्य रथसिंहस्य तवाऽर्थे राजसत्तम ।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि ॥ २ ॥
एतस्य रथवंशो हि तिग्मवेगप्रहारिणः ।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवाऽऽयतिः ॥ ३ ॥
नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव ।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति ॥ ४ ॥

एक सौ छाछठ अध्याय ॥ १६६ ॥

भीष्म पितामह ने कहा—हे राजेन्द्र! काम्बोज देश के राजा सुदक्षिण एकरथ हैं। वे तुम्हारे लिए शत्रुओं से विकट युद्ध करेंगे। उस समय कौरव लोग युद्ध के मैदान में उन्हें, वसुदेव के समान, पराक्रम प्रकट करते देखेंगे॥१।२॥ उनके साथ काम्बोज देश के, बहुत शीघ्र चलनेवाले, विचित्र शस्त्रों से युद्ध करनेवाले दुर्धर्ष वीर हैं। माहिष्मती पुरी के राजा नील रथी हैं। वे बहुत से वीरों के साथ शत्रुओं

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष ।
योत्स्यते सततं राजंस्तवाऽर्थे कुरुनन्दन ॥ ५ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सम्मतौ रथसत्तमौ ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ॥ ६ ॥
एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः ।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ॥ ७ ॥
युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ॥ ८ ॥
त्रिगर्त्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम ।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ॥ ९ ॥
मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम् ।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ॥ १० ॥
ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम् ।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुरा कृतम् ॥ ११ ॥
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह ।
दिशो विजयता राजञ्श्वेतवाहेन भारत ॥ १२ ॥
ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान् ।
वरान्वरान्महेष्वासान्क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ॥ १३ ॥
लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च ।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ॥ १४ ॥

से युद्ध करेंगे ॥३।४॥ सहदेव के साथ उनकी पुरानी शत्रुता है । इस कारण इस समय वे तुम्हारा कार्य सिद्ध करने के लिए विशेष यत्न करेंगे ॥५॥ हे महाराज ! जैसे क्रीड़ा कर रहे यूथपति दो गजराज हाथियों के झुण्ड में विचरते हैं, वैसे ही महापराक्रमी अवन्ती देश के राजा विन्द और अनुविन्द युद्धभूमि में विचर-कर गदा, प्रास, खड्ग, नाराच, तोमर आदि शस्त्रों से पाण्डवों की सेना का विनाश करेंगे ॥६।८॥ त्रिगर्त देश के पाच राजकुमार विराट नगर में गोधन हरण के समय से पाण्डवों के शत्रु हो गये हैं ॥९॥ हे राजेन्द्र ! जैसे मगर आदि जलचर जीव तरङ्गयुक्त गङ्गा-जी के प्रवाह को मथते हैं, वैसे ही वे पाण्डवों की सेना को दल-मल डालेंगे।१०।वे पाचों रथी हैं। उनमें सत्यरथ ही मुख्य है । हे भारत ! भीमसेन और अर्जुन ने दिग्विजय के समय उनका जो अप्रिय किया है उसे स्मरण करके इस समय वे अच्छी तरह युद्ध करेंगे और पाण्डवो के प्रधान-प्रधान वीरों को मारेंगे ॥११।१३॥ तुम्हारा नवयुवक पुत्र लक्ष्मण और दुःशासन का पुत्र, ये दोनों भी युद्ध मे विमुख न होनेवाले, युद्धनिपुण, वेगशाली और सेना सञ्चालन में चतुर रथी हैं । हे पुरुषश्रेष्ठ ! एकरथ महाराज दण्डधार अपनी सेना साथ लेकर युद्ध करेंगे ॥१४।

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ॥ १५ ॥
रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत्कर्म करिष्यतः ॥ १६ ॥
दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ ।
योत्स्यते तत्र संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ॥ १७ ॥
बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः ।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ॥ १८ ॥
एष योत्स्यति संग्रामे स्वान्बन्धून्सम्प्रहर्षयन् ।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ १९ ॥
कृपः शारद्वतो राजन्रथयूथपयूथपः ।
प्रियान्प्राणान्परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ॥ २० ॥
गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः ।
कार्तिकेय इवाऽजेयः शरस्तम्बात्सुतोऽभवत् ॥ २१ ॥
एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः ।
अग्निवत्समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि षट्षष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६६॥

१७॥ अयोध्या के राजा महाबली पराक्रमी बृहद्बल रथी हैं। वे अपने बन्धुओं का हर्ष बढ़ाते हुए तुम्हारे हित के लिए घोर युद्ध करेंगे ॥१८।१९॥ महर्षि गौतम के वीर्य से, अजेय कार्तिकेय की तरह, शरस्तम्ब से उत्पन्न होनेवाले कृपाचार्य महारथी हैं। वे तुम्हारे लिए प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध करेंगे और, अग्नि की तरह, समर में विविध धनुष आदि शस्त्र धारण करनेवाले वीरों की सेना का नाश करेंगे ॥२०।२२॥

उद्योगपर्व का एक सौ छाछठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६६ ॥

अथ सप्तषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

भीष्म उवाच—शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप ।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नाऽत्र संशयः ॥ १ ॥
एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः ।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे ॥ २ ॥

एक सौ सड़सठ अध्याय ॥ १६७ ॥

पितामह ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारे मामा शकुनि एकरथ हैं। उन्होंने पाण्डवों से वैर उत्पन्न किया है, इसलिए उनके साथ कठिन युद्ध करेंगे। उनके सैनिक वायुवेग से आक्रमण करनेवाले और जमकर युद्ध करनेवाले हैं। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा महारथी हैं। वे धनुष-बाण से युद्ध करनेवाले सब

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाऽतिधन्विनः ।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः ॥ ३ ॥
एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः ।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः ॥ ४ ॥
नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः ।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः ॥ ५ ॥
क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम् ।
द्रोणेनाऽनुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः ॥ ६ ॥
दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ ।
न मे रथो नाऽतिरथो मतः पार्थिवसत्तमः ॥ ७ ॥
जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः ।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि ॥ ८ ॥
हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम् ।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान् ॥ ९ ॥
असंख्येयगुणो वीरः प्रहन्ता दारुणद्युतिः ।
दण्डपाणिरिवाऽसह्यः कालवत्प्रचरिष्यति ॥ १० ॥
युगान्ताग्निसमः क्रोधात्सिंहग्रीवो महाद्युतिः ।
एष भारत युद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति ॥ ११ ॥
पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः ।
रणे कर्म महत्कर्ता अत्र मे नाऽस्ति संशयः ॥ १२ ॥

योद्धाओं में मुख्य, विचित्र युद्ध करनेवाले और शस्त्र का दृढ़ प्रहार करनेवाले हैं। उनके बाण भी अर्जुन के बाणों की तरह धनुष से लगातार निकलकर शत्रु-सेना पर बरसते हैं। उनके बल-वीर्य का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। वे चाहें तो तीनों लोकों को अस्त्र के प्रभाव से भस्म कर दें ॥१।५॥ उनमें ऋषियों का क्रोध, तेज और तप है। द्रोणाचार्य की कृपा से उन्होंने सब दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये हैं; किन्तु उनमें प्रधान दोष यह है कि जीवन उन्हें अत्यन्त प्रिय है। वे मरने से बहुत भयभीत होते हैं और इसी कारण युद्ध से जी चुराते हैं। इसी दोष के कारण उन्हें मैं रथी या अतिरथी कुछ नहीं समझता। पाण्डवों की और कौरवों की सेनाओं में अश्वत्थामा के समान पराक्रमी युद्धनिपुण दूसरा नहीं है ॥६।८॥ वे एक ही रथ से देवताओं की सेना को भी मार सकते हैं। उनका शरीर ऐसा मोटा-ताज़ा और दृढ़ है कि वे एक हाथ मारकर पर्वतों को भी फोड़ सकते हैं। महावीर अश्वत्थामा में असंख्य गुण हैं। वे युद्धस्थल में विचरते समय साक्षात् मृत्यु का अवतार जान पड़ते हैं। सिंह-ग्रीव महातेजस्वी अश्वत्थामा क्रोध के समय प्रलय-कालीन अग्नि से प्रतीत होते हैं। वही इस महाभारत युद्ध को समाप्त करेंगे ॥९।११॥ अश्वत्थामा के पिता

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः ।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः ॥ १३ ॥
रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः ।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव ॥ १४ ॥
सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।
गच्छेदन्तं सृञ्जयानां प्रियस्त्वस्य धनञ्जयः ॥ १५ ॥
नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम् ॥ १६ ॥
श्लाघनेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः ।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥
हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान् ।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन्महारथः ।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ॥ १९ ॥
स्वेन सैन्येन महता प्रतपञ्शत्रुवाहिनीम् ।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान्कक्षमग्निगतिर्यथा ॥ २० ॥
सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः ।
तव राजन्रिपुबले कालवत्प्रचरिष्यति ॥ २१ ॥
एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः ।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ॥ २२ ॥

महातेजस्वी द्रोणाचार्य वृद्ध होने पर भी लाखों जवान वीरों से श्रेष्ठ हैं। इस युद्ध में वे भारी-भारी काम करेंगे। सेना रूपी ईंधन में प्रज्वलित और अस्त्र वेग की वायु से बढ़े हुए अग्नि-तुल्य द्रोणाचार्य युद्ध में पाण्डवों की असंख्य सेना भस्म कर डालेंगे।१२।१३। पुरुषश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य सब महारथियों में श्रेष्ठ हैं। वे तुम्हारे हित के विचार से सृञ्जय और शत्रुओं के लिए भयङ्कर कर्म करेंगे। वे सब मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रियों के गुरु हैं। वे समर में सृञ्जयवंशियों को अवश्य मारेंगे; किन्तु अर्जुन उनके प्रिय शिष्य हैं, इस कारण वे पराक्रमी अर्जुन के गुणों पर रीझ-कर उन्हें कभी न मारेंगे। महात्मा द्रोण सदा अर्जुन के गुणों की प्रशंसा किया करते हैं। वे अर्जुन को अपने पुत्र अश्वत्थामा से भी अधिक गुणी और योद्धा समझते हैं। महारथी द्रोणाचार्य एक ही रथ से, दिव्य अस्त्रों के प्रभाव से, देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्यों का संहार कर सकते हैं ॥१४।१८॥ हे राजेन्द्र! तुम्हारे पक्ष के राजसिंह पौरव को मैं महारथी समझता हूँ। अग्नि जैसे सूखी घास के ढेर को जलाती है, वैसे ही वे पाञ्चाल सेना को मारेंगे ॥१९।२०॥ बड़े बली एकरथ राजकुमार सत्यश्रवा भी युद्धभूमि में शत्रुपक्ष को घटाते हुए विचरेंगे। कर्ण के पुत्र श्रेष्ठ रथी

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः ।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते बलं तु बलिनां वरः ॥ २३ ॥
जलसन्धो महातेजा राजन्रथवरस्तव ।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान्माधवः परवीरहा ॥ २४ ॥
एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयञ्शत्रुवाहिनीम् ॥ २५ ॥
रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम ।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान्सहसैन्यो महारणे ॥ २६ ॥
एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे ।
वीत भीश्चाऽपि ते राजञ्शत्रुभिः सह योत्स्यते ॥ २७ ॥
बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चाऽनिवर्त्तनः ।
मम राजन्मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ॥ २८ ॥
नह्येष समरं प्राप्य निवर्त्तेत कथञ्चन ।
यथा सततगो राजन्स हि हन्यात्परान्रणे ॥ २९ ॥
सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः ।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ॥ ३० ॥
एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथाऽस्ति कथंचन ।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान्रथपथे स्थितान् ॥ ३१ ॥
एष चाऽरिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम् ।
कर्त्ता विमर्दे सुमहत्त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ॥ ३२ ॥

वृषसेन अपने युद्ध-कौशल और पौरुष से तुम्हारे शत्रुओं की सेना का नाश करेंगे ॥२१।२३॥ महारथी जलसन्ध जीवन का मोह छोड़कर पाण्डवों से युद्ध करेंगे। युद्ध-निपुण, पर वीर-घाती, महाबाहु माधव हाथी पर या रथ पर बैठकर शत्रु सेना को मारते-मारते अपने प्राण तक दे देने में पीछे न हटेंगे। मैं उन्हें रथी मानता हूँ ॥२४।२६॥ वे बल-पराक्रम में अद्वितीय और विचित्र युद्ध में निपुण हैं; वे निर्भय होकर तुम्हारे शत्रुओं से भयानक संग्राम करेंगे। हे दुर्योधन! वीर बाह्लीक अतिरथी हैं। वे कभी संग्राम से विमुख नहीं हुए। युद्ध करते समय युद्ध-भूमि में उनका रूप यम-राज का सा भयङ्कर हो जाता है। महात्मा बाह्लीक रणभूमि में आंधी की तरह चलकर तुम्हारी शत्रु सेना का संहार करेंगे। हे राजेन्द्र! तुम्हारे सेनापति महारथी सत्यवान् युद्ध में अद्भुत काम करेंगे ॥२७।३०॥ वे युद्ध को देखकर भयभीत होने का नाम तक भी नहीं जानते, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक उत्साह के साथ शत्रुसेना पर वार करते हैं; वे सहज ही शत्रु-संहार करके विजय के साथ घर को लौट आते हैं। उन्हें तुम शत्रु-सेना के बीच श्रेष्ठ वीर पुरुषों के योग्य काम करते देखोगे ॥३१।३२॥ क्रूर कर्म करनेवाला महारथी राक्षसराज अलम्बुष पाण्डवों के साथ अपने पुराने वैर का स्मरण

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः ।
हनिष्यति परान्राजन्पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥
एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः ।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ॥ ३४ ॥
प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजांकुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ॥ ३५ ॥
एनेन युद्धमभवत्पुरा गाण्डीवधन्वना ।
दिवसान्सुबहून्राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ॥ ३६ ॥
ततः सखायं गान्धारे मानयन्पाकशासनम् ।
अकरोत्संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ३७ ॥
एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

करके शत्रु-सेना का नाश करेगा। अलम्बुष सब राक्षसों में प्रधान, रथी, मायावी और वैर को कभी न भूलनेवाला है ॥३३।३४॥ हाथी की सवारी पर से युद्ध करने में अद्वितीय और रथ पर से युद्ध करने में निपुण प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त और अर्जुन का युद्ध बहुत दिन तक हो चुका है। अन्त को अपने मित्र इन्द्र के सम्मान की रक्षा के लिए भगदत्त ने अर्जुन से मित्रता करके सन्धि कर ली थी। वही युद्ध-विशारद भगदत्त इस समय, ऐरावत पर सवार इन्द्र की तरह, हाथी पर चढ़कर अर्जुन से युद्ध करेंगे ॥३५।३८॥

उद्योगपर्व का एक सौ सड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६७ ॥

अथ अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

भीष्म उवाच—अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून्विध्वंसयिष्यतः ॥ १ ॥
बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ॥ २ ॥
सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्त्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चाऽत्यन्तमुच्छ्रितः ॥ ४ ॥

एक सौ अड़सठ अध्याय ॥ १६८ ॥

पितामह ने कहा—हे कौरव! अचल और वृषक नाम के दोनों दुराधर्ष भाई रथी हैं। वे गान्धार-वीरों में मुख्य, बलवान्, तरुण, दर्शनीय, पुरुषसिंह तुम्हारे शत्रुओं को चौपट कर डालेंगे। हे कुरुराज! पाण्डवों से युद्ध करने के लिए सदा तुम्हें उत्साहित करनेवाले, मूर्ख, निन्दक, रणकर्कश, कठोर, अपने

एष नैव रथः कर्णो न चाऽप्यतिरथो रणे ।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ॥ ५ ॥
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ॥ ६ ॥
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन्विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत्पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्याऽस्ति कदाचन ॥ ८ ॥
रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चाऽपि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥ ९ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन्वाग्भिः प्रतोदवत् ॥ १० ॥
पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥ ११ ॥
मर्षयामि च तत्सर्वं दुर्योधनकृतेन वै ।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥ १२ ॥
भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नाऽत्र संशयः ।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ॥ १३ ॥
कुरूणामहितो नित्यं न च राजाऽवबुध्यते ।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ॥ १४ ॥

मुख अपनी प्रशंसा करनेवाले, अभिमानी, नीचप्रकृति और तुम्हारे मन्त्री, अगुआ, बन्धु, प्यारे सखा कर्ण को मैं पूरा रथी या अतिरथी कुछ नहीं समझता। ॥१।५॥ स्वाभाविक कवच-कुण्डल पास न रहने से और अपने को ब्राह्मण बताकर परशुरामजी से शाप पाने के कारण कर्ण को मैं अर्धरथी समझता हूं। यह अर्जुन के सामने संग्राम में जाकर फिर जीता न बचेगा ॥६।७॥ भीष्म के ये वचन सुनकर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने कहा—हे पितामह! आपने कर्ण के बारे में जो कुछ कहा सो ठीक है। प्रत्येक युद्ध में अभिमान् दिखाकर कर्ण भाग खड़ा होता है। वह निन्दक और प्रमादवश हो जाने के कारण मेरी सम्मति से भी अर्धरथी है ॥८।९॥ सञ्जय कहते हैं कि ये बातें सुनकर कर्ण क्रोध से व्याकुल हो उठा। वह नेत्र निकालकर भीष्म से कहने लगा— हे पितामह! आप मुझसे अकारण द्वेष रखने के कारण हर घड़ी मुझ पर वाक्य-बाण बरसाया करते हैं। आप मुझे निकम्मे कायर की तरह समझकर सदा मेरा अपमान किया करते हैं। मैं दुर्योधन का ख्याल करके आपकी सब बातें सह लेता हूँ। आप मुझे अर्धरथी कहते हैं, इसलिए सब लोग अर्धरथी ही मानकर मेरा अपमान करेंगे; क्योंकि सभी लोग

तेजोवधमिमं कुर्याद्विभेदयिपुराहवे ।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ॥ १५ ॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥ १६ ॥
बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः ।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाऽधिकाः॥ १७ ॥
यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा ।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात्प्रकुरुते भवान् ॥ १८ ॥
दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम् ।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत्तव ॥ १९ ॥
भिन्ना हि सेना नृपते दुःसन्धेया भवत्युत ।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नाना समुत्थिताः ॥ २० ॥
एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत ।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ॥ २१ ॥
रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः ।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २२ ॥
आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश ।

जानते हैं कि भीष्म कभी असत्य नहीं बोलते। आप सदा कौरवों का अहित सोचा करते हैं, किन्तु राजा दुर्योधन इस बात को नहीं समझते। आप मेरे गुण (युद्धविद्या) के कारण मुझसे डाह करते हैं। युद्ध के समय आपस में फूट डालने के लिए लोग इसी तरह निन्दा करके अपने विरोधी पक्ष का तेज और उत्साह मिटाया करते हैं। अवस्था की अधिकता से, बाल पकने से, धन से या बन्धुओं के बहुत होने से क्षत्रिय महारथियों में नहीं गिना जा सकता ॥१०।१६॥ बल से क्षत्रिय, वेदज्ञान से ब्राह्मण, धन से वैश्य और अवस्था से शूद्र बड़े समझे जाते हैं। आप स्नेह और द्वेष के वश होकर अपनी इच्छा के अनुसार रथी और अतिरथी वीरों की ठीक गिनती नहीं कर रहे हैं। हे दुर्योधन! आप सब बातों पर विशेष रूप से विचार करके अपना अनिष्ट चेतने-वाले इन दूषित-प्रकृति पितामह को त्याग दें ॥१७। १९॥ हे पुरुषसिंह! एक ही स्वामी के पुराने सैनिक भी यदि फूट जाते हैं तो फिर उन्हें मिलाना या सँभा-लना कठिन हो जाता है। फिर इस समय आपके यहाँ तो अनेक देशों से अनेक राजाओं की सेना आई है। वे सैनिक यदि ऐसी बातों के कारण फूट जायँगे तो बड़ी आपत्ति हो जायगी; उन्हें अपने पक्ष में लाना असाध्य काम हो जायगा। मैं देखता हूं कि आपके पक्ष के इन वीरों में परस्पर वैमनस्य बढ़ता और फूट का रङ्ग चढ़ता चला जा रहा है। विशेषकर भीष्म मुझ पर ही मेरा तेज मिटानेवाले कटु वचन कह रहे हैं। भीष्म रथी-अतिरथी-महारथी आदि का हाल क्या जानें! कहाँ रथी-महारथी आदि की विज्ञता और कहाँ भीष्म! हे राजेन्द्र! मैं अकेला पाण्डवों की सेना पर आक्रमण करूंगा और उसे रोकूंगा ॥२०।२२॥

पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ॥ २३ ॥
क च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च ।
क च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ॥ २४ ॥
एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह ।
न चाऽन्यं पुरुषं कञ्चिन्मन्यते मोघदर्शनः ॥ २५ ॥
श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम् ।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥ २६ ॥
अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥ २७ ॥
कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान्कथञ्चन ॥ २८ ॥
नाऽहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन्कथञ्चन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥ २९ ॥
भीष्म उवाच—समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान्सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ॥ ३० ॥
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥ ३१ ॥
न ह्ययं त्वद्य विक्रम्य स्थवीरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥ ३२ ॥

जैसे सिंह को देखकर सांड भागते हैं वैसे ही युद्ध-भूमि में मुझको देखते ही पाण्डव और पाञ्चाल लोग भाग खड़े होंगे। मेरे बाण अचूक हैं। हे राजेन्द्र! कहां युद्ध, मार-धाड़, सम्मति आदि की बातें और कहां वृद्ध, मृत्यु के मुख का कौर, बुद्धिहीन पितामह भीष्म! मिथ्यादृष्टि के कारण भ्रम में पड़े हुए पितामह अकेले ही सारी पृथ्वी के वीरों से संग्राम कर सकने की डींग हांका करते हैं। ये अपने सिवा और किसी को वीर या पुरुष ही नहीं समझते। वृद्ध की बात सुनने का शास्त्र में विधान होने पर भी अत्यन्त वृद्धों की बात न सुननी चाहिए; क्योंकि वे सठिया जाते हैं, फिर से बालक-तुल्य अल्पबुद्धि हो जाते हैं। हे नरेश! मैं ही अकेला पाण्डवों की सारी सेना को मारूंगा, किन्तु इस युद्ध में सेनापति होने के कारण विजय का सब यश और गौरव भीष्म को ही मिलेगा। इस कारण मैं भीष्म के जीते जी युद्ध न करूंगा। भीष्म के मरने पर सब महारथियों से मैं अकेला युद्ध करने को तैयार हूं ॥२३।२९॥ भीष्मजी ने कहा—हे राधा के पुत्र कर्ण! मुझे बहुत दिनों से विदित है कि कौरवों और पाण्डवों के इस युद्ध में समुद्र-तुल्य शत्रुसेना से युद्ध करने का भार मेरे सिर आ पड़ेगा। इस रोमहर्षण संग्राम के समय मैं आपस की फूट या विरोध नहीं होने देना चाहता। इसी से तुम अब तक जीते देख पड़ते हो। हे सूतपुत्र! मैं वृद्ध

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित्त्वं तु मे किं करिष्यसि ॥ ३३ ॥
कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां सन्तप्तो निहीन कुलपांसन ॥ ३४ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ॥ ३५ ॥
ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ॥ ३६ ॥
त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।
उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ॥ ३७ ॥
युद्धस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद्युद्धात्सुदुर्मते ॥ ३८ ॥
तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ ३९ ॥
चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत्कर्म करिष्यतः ॥ ४० ॥
भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवाऽतिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥ ४१ ॥
बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः १६८

हूँ, और मेरे आगे तुम बालक या नौजवान हो; तो भी मैं तुम्हारी युद्ध करने की श्रद्धा और जीवन की आशा मिटा सकता हूँ। पर इस समय ऐसा करना मैं नहीं चाहता ॥३०।३२॥ भगवान् परशुराम जी अपने सब दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करके भी मुझे विचलित नहीं कर सके, तब तुम मेरा क्या कर सकते हो? ॥३३॥ हे नीच! हे कुलघाती! सज्जन पुरुष कभी अपने मुख से अपनी प्रशंसा या अपने गुणों का वर्णन नहीं करते। किन्तु तुम्हारी इन बातों से अत्यन्त उत्तेजना और सन्ताप उत्पन्न होने के कारण मुझे अपने मुख से तुमको अपने पराक्रम का कुछ परिचय देना पड़ता है ॥३४॥ काशी-नरेश की कन्याओं के स्वयंवर में मैं अकेला गया और वहां आये हुए सब राजाओं को जीतकर उन कन्याओं को बलपूर्वक रथ पर बिठाकर ले आया ॥३५॥ तुम ऐसे और तुमसे भी अधिक पराक्रमी और प्रसिद्ध योद्धा राजाओं को मैं युद्ध-भूमि में हरा चुका हूँ ॥३६॥ हे कर्ण! मैं सत्य कहता हूँ, तुम्हारे ही कारण कौरवों ने अन्याय करके यह घोर विपत्ति अपने ऊपर बुलाई है। हे वैर-निष्ठ! तुम्हारे भी मरने का समय आ पहुंचा है। इस

कारण संभलकर युद्ध करना ॥३७॥ सदा तुम जिन अर्जुन की बराबरी का घमण्ड किया करते हो उनसे युद्ध करने का समय आ गया है। अब स्थिर होकर उनका सामना करना। हे दुर्मति! देखूंगा कि तुम इस युद्ध से कैसे जीते बचते हो ॥३८॥ इस प्रकार दोनों वीरों को परस्पर विवाद करते देख क्लेश शान्त करने के लिए दुर्योधन ने कहा—हे पितामह! यह भारी युद्ध का समय है इसलिए मेरा ख़याल करके आप वही कीजिए जिससे मेरा कल्याण हो। आप दोनों वीर मेरा बड़ा भारी कार्य सिद्ध करेंगे। अब आप मेरे शत्रुपक्ष के रथी, अतिरथी आदि का वर्णन कीजिए; क्योंकि रात्रि व्यतीत होते ही प्रातःकाल युद्ध छिड़ जायगा ॥३९।४२॥

उद्योगपर्व का एक सौ अड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६८॥

अथ ऊनसप्ततिधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

भीष्म उवाच—एते रथास्तवाऽऽख्यातास्तथैवाऽतिरथा नृप ।
ये चाऽप्यर्द्धरथा राजन्पाण्डवानामतः शृणु ॥ १ ॥
यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप ।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ २ ॥
स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः ।
अग्निवत्समरे तात चरिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः ।
न तस्याऽस्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ॥ ४ ॥
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः ।
माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ॥ ५ ॥
अश्विनाविव रूपेण-तेजसा च समन्वितौ ।
एते चमूमुखगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम् ॥ ६ ॥
रुद्रवत्प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नाऽस्ति संशयः ।
सर्व एव महात्मानः शालस्तंभा इवोद्गताः ॥ ७ ॥
प्रादेशेनाऽधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः ।
सिंहसंहननाः सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबलाः ॥ ८ ॥

एक सौ उनहत्तर अध्याय ॥१६९॥

भीष्मजी ने कहा—हे राजेन्द्र! तुम्हारे पक्ष के रथी, अतिरथी, महारथी और अर्धरथी वीरों का वर्णन मैं कर चुका। अब तुम यदि पाण्डवों के रथी, अतिरथी आदि का वर्णन सुनना चाहते हो तो सुनो। राजा युधिष्ठिर स्वयं श्रेष्ठ रथी हैं। वे अग्नि की तरह तुम्हारी सेना को भस्म करते हुए युद्ध-भूमि में विचरेंगे। महाबल और पराक्रम से परिपूर्ण, दस हज़ार हाथियों का बल रखनेवाले भीमसेन में आठ रथियों की शक्ति है। वे गदा और बाण के युद्ध में अद्वितीय और अलौकिक तेजस्वी हैं। नकुल और सहदेव दोनों रथी हैं ॥१।५॥ वे तेज और रूप में अश्विनीकुमारों के समान हैं। तुम्हारे ही कारण मिले हुए क्लेशों को स्मरण करते हुए वे सेना के अग्र भाग में घुसकर साक्षात् रुद्र की तरह सैनिकों का नाश करेंगे। पाण्डव लोग शाल-

चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विनः ।
ह्रीमन्तः पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥
जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्वे एवाऽतिमानुषाः ।
सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ॥ १० ॥
न चैषां पुरुषाः केचिदायुधानि गदाः शरान् ।
विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव ॥ ११ ॥
उद्यन्तुं वा गदा गुर्वीः शरान्वा क्षेप्तुमाहवे ।
जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ॥ १२ ॥
बालैरपि भवन्तस्तै· सर्व एव विशेषिताः ।
एतत्सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटाः ॥ १३ ॥
विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तैः सह सङ्गमः ।
एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान्महीक्षितः ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाऽभवत् ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिरः ॥ १५ ॥
ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत् ।
लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान् ॥ १६ ॥
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नाऽस्तीति तादृशः ।
नहि देवेषु वा पूर्वं मनुष्येषूरगेषु च ॥ १७ ॥
राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु ।

वृक्ष के समान ऊंचे और नाप में साधारण मनुष्यों से विता भर बड़े हैं । सभी पाण्डव ब्रह्मचारी, तपस्वी, बली, पराक्रमी, दिग्विजय के समय सब राजाओं को हरानेवाले और वेग, प्रहार तथा युद्ध में असाधारण क्षमता रखनेवाले हैं ॥९।१०॥ हे कौरव ! कोई भी पुरुष न तो उनके धनुषों पर डोरी चढ़ा सकता है और न उनकी गदा के प्रहार और बाणों को सह सकता है । वे बाल्यावस्था में ही गदा उठाने, बाण चलाने, निशाना मारने, मर्मपीड़ा पहुँचाने, मुक्के-चलाने और वेग में अधिक उत्कर्ष प्राप्त कर चुके हैं । वे तुम्हारी सारी सेना को मारेंगे । इसलिए मैं फिर कहता हूं कि तुम उनसे युद्ध करने का अभिप्राय छोड़ दो ॥११।१४॥ हे राजेन्द्र ! राजसूय यज्ञ में जैसे उन्होंने दिग्विजय किया था, वैसे ही अब भी तुम्हारे सामने वे सब राजाओं को और उनकी सेना को मारेंगे । द्यूतक्रीड़ा के समय कहे गये कठोर वचनों को, और द्रौपदी के क्लेशों को स्मरण करके वे साक्षात् रुद्र की तरह संहार करते हुए युद्ध-भूमि में विचरते देख पड़ेंगे । लाल नेत्रोंवाले अर्जुन वासुदेव की सहायता पाकर अजेय और असह्य हो रहे हैं । मुझे दोनों दलों में उनके समान कोई नहीं देख पड़ता । देवता, मनुष्य, नाग, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व आदि में अर्जुन के समान रथी न तो हुआ है और न आगे होगा । बुद्धिमान् अर्जुन का रथ दिव्य और सुसज्जित है, धनुष सर्व-

भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः॥ १८ ॥
समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः ।
वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनञ्जयः ॥ १९ ॥
गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाऽश्वा वातरंहसः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ २० ॥
अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च ।
याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ २१ ॥
वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ॥ २२ ॥
हतान्येकरथेनाऽऽजौ कस्तस्य सदृशो रथः ।
एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान्सत्यविक्रमः ॥ २३ ॥
तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन् ।
अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनञ्जयम् ॥ २४ ॥
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि ।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद्रथी ॥ २५ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः ।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान् ।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा ।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः ॥ २७ ॥
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम् ।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पांडवरथातिरथसंख्यायामूनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रेष्ठ तेजोमय गाण्डीव है, और वासुदेव सहायक हैं। उनके घोड़े वायु के वेग से चलनेवाले, कवच अभेद्य, तरकस अक्षय और गदा भयङ्कर है ॥१९।२०॥ वे स्वयं अद्वितीय योद्धा हैं। माहेन्द्र, पाशुपत, कौबेर, याम्य, वारुण आदि दिव्य अस्त्र और वज्र आदि शस्त्र उनके अधिकार में हैं। उन्होंने एक रथ पर बैठकर हिरण्यपुर-निवासी हज़ारों निवातकवच आदि, देवताओं के लिए भी अजेय, दानवों को संग्राम में मारा है। इसलिए उनके समान रथी और कौन है ? व वीर बिना किसी रुकावट के अपनी सेना की रक्षा और तुम्हारी सेना का नाश करेंगे। मैं या द्रोणाचार्य, इन दोनों के सिवा कोई तीसरा मनुष्य ऐसा नहीं जो अर्जुन की बाणवर्षा को सह सके। गर्मी के अन्त में वायु जैसे मेघों की सहायता करती है वैसे ही वासुदेव अर्जुन की सहायता करेंगे। अर्जुन जवान और अस्त्रविद्या में निपुण हैं किन्तु मैं और द्रोणाचार्य दोनों

वृद्ध हैं ॥२१।२६॥ वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सब राजा लोग भीष्म के मुख से ये बातें सुनकर और पहले के देखे हुए पाण्डवों के बल पराक्रम का स्मरण करके व्याकुल हो गये। उनके बजुले, माला, लाल चन्दन आदि से विभूषित मोटे दृढ़ हाथ शक्तिहीन और शिथिल से हो गये। उस समय जान पड़ा कि वे मानों पाण्डवों की मूर्ति और पराक्रम को प्रत्यक्ष देख रहे हैं ॥२७।२८॥

उद्योगपर्व का एक सौ उनहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६९ ॥

अथ सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

भीष्म उवाच—द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः ।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम ॥ १ ॥
अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः ।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चाऽरिहा ॥ २ ॥
लब्धलक्षश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः ।
संस्मरन्वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति ॥ ३ ॥
सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः ।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ॥ ४ ॥
उत्तमौजास्तथा राजन्रथोदारो मतो मम ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ ५ ॥
एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा ।
योत्स्यन्ते ते तनूस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया ॥ ६ ॥
पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत ।
अग्निमारुतवद्राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ७ ॥
अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा ।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ॥ ९ ॥

एक सौ सत्तर अध्याय ॥ १७० ॥

भीष्मजी ने कहा—हे राजेन्द्र ! द्रौपदी के पाचों पुत्र महारथी हैं। विराट के पुत्र उत्तर रथी हैं ॥१॥ महाबाहु अभिमन्यु, अर्जुन और वासुदेव के समान, बाण चलाने में चतुर, चित्रयुद्ध-निपुण और दृढ़व्रत होने के कारण महारथी हैं। वे अपने पिता अर्जुन के क्लेशों को स्मरण करके युद्ध में पराक्रम प्रकट करेंगे॥२।३॥ महाशूर सात्यकि यादवों में श्रेष्ठ, असहनशील, क्रोधी और निर्भय हैं ॥४॥ मेरी सम्मति में सात्यकि, उत्तमौजा और युधामन्यु, ये तीनों अमित पराक्रमी और रथी हैं ॥५॥ इन लोगों के पास कई हजार घोड़े, रथ, हाथी और सैनिक हैं। ये सब युधिष्ठिर के लिए मृत्यु की परवा न करके युद्ध करेंगे ॥६॥ ये वीर वायु और अग्नि की तरह परस्पर सहायता करते हुए पाण्डवों के साथ तुम्हारी सेना को चौपट करेंगे ॥७॥ युद्ध में

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात् ।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहवीर्यसितावुभौ ॥ १० ॥
कारणं प्राप्य तु नराः सर्व एव महाभुजाः ।
शूरा वा कातरा वाऽपि भवन्ति कुरुपुङ्गव ॥ ११ ॥
एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परन्तप ॥ १२ ॥
पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत्कर्म करिष्यतः ॥ १३ ॥
लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत ।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत्कर्म करिष्यतः ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

अजेय, महारथी, महापराक्रमी पुरुषश्रेष्ठ राजा विराट और राजा द्रुपद दोनों वृद्ध होने पर भी क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए स्नेह के मारे अपने सम्बन्धी पाण्डवों की विजय के लिए जी-जान से यत्न करेंगे ॥८।१०॥ हे राजेन्द्र ! कारणवश कायर भी वीरता प्रकट करते हैं और वीर भी कायर बन जाते हैं ॥११॥ आर्यचरित्र, महाधनुर्द्धर ये दोनों राजा एक पक्ष में होकर भयङ्कर पराक्रम प्रकट करेंगे और प्राण देकर भी पाण्डवों की विजय का यत्न करने में पीछे नहीं हटेंगे । अलग-अलग एक एक अक्षौहिणी सेना साथ लिये हुए ये दोनों वृद्ध राजा युद्धभूमि में अपने वंश के गौरव और सम्बन्ध के सम्मान की रक्षा का खयाल करके अद्भुत कर्म कर दिखावेंगे ॥१२।१४॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ सत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७० ॥

अथ एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

भीष्म उवाच—पञ्चालराजस्य सुतो राजन्परपुरञ्जयः ।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ १ ॥
एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन्पूर्वसंस्थितम् ।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥ २ ॥
एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ।
तेनाऽसौ रथवंशेन महत्कर्म करिष्यति ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत ।
मतो मेऽतिरथो राजन्द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ४ ॥

एक सौ इकहत्तर अध्याय ॥ १७१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—हे भारत ! पाञ्चालराज के पुत्र शत्रुविजयी शिखण्डी पाण्डवों की सेना के प्रधान रथी हैं । प्रभद्रकगण और बहुत सी पाञ्चाल सेना साथ लिये हुए शिखण्डी युद्ध में प्रवृत्त होकर तुम्हारी सेना के भीतर अपना उत्तम यश फैलाते हुए अपने रथों से बड़े-बड़े अद्भुत कर्म कर दिखावेंगे ॥१।३॥

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन्वै परान्रणे ।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ॥ ५ ॥
एतस्य तद्रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः ।
बहुत्वात्सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ॥ ६ ॥
क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप ।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ॥ ७ ॥
शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः ।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥ ८ ॥
एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत ।
महारथानां सुकरं महत्कर्म करिष्यति ॥ ९ ॥
क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरञ्जयः ।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ॥ १० ॥
जयन्तश्चाऽमितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः ।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ॥ ११ ॥
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः ।
अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ॥ १२ ॥
योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः ।
शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ॥ १३ ॥
केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः ।
सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ॥ १४ ॥
काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चाऽपरो नृप ।

हे राजेन्द्र ! द्रोणाचार्य के शिष्य महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवों के प्रधान सेनापति हैं । मेरी बुद्धि में वे अतिरथी हैं। प्रलयकाल में रुद्र जैसे प्रजा का संहार करते हैं वैसे ही धृष्टद्युम्न भी कोधित होकर कौरव सेना का नाश करेंगे ॥४।५॥ युद्ध-प्रिय लोग धृष्टद्युम्न की देव-सेना-सदृश अपार सेना की उपमा समुद्र से देते हैं ॥६॥ धृष्टद्युम्न का पुत्र अभी बालक होने के कारण अधिक परिश्रम नहीं कर सकता, इस कारण उसे मैं अर्धरथी गिनता हूं ॥७॥ शिशुपाल के पुत्र महारथी धृष्टकेतु पाण्डवों के पुराने सम्बन्धी हैं । वे भी इस समय अपने पुत्र के साथ पाण्डवों का प्रिय करने के लिए युद्ध में अद्भुत कर्म करेंगे ॥८।९॥ महाराज क्षत्रदेव पाण्डवों की ओर प्रधान रथी और क्षत्रिय-धर्म के अनुरागी हैं ॥१०॥ महातेजस्वी जयन्त और महारथी सत्यजित् आदि वीर पाञ्चालगण क्रुद्ध गजराज की तरह घोर युद्ध करेंगे । महाबल पराक्रमी राजा अज और भोज पाण्डवों के हित के लिए युद्ध में प्रवृत्त होकर पराक्रम दिखावेंगे । ये सब योद्धा फुरतीले, विचित्र युद्ध में निपुण, पराक्रमी और जमकर युद्ध करनेवाले हैं ॥११।१२॥ युद्धप्रिय केकय-राजकुमार काशिक,

सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ॥ १५ ॥
सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाऽऽहवलक्षणाः ।
सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ॥ १६ ॥
वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः ।
चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ॥ १७ ॥
स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः ।
चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥ १८ ॥
व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत ।
मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ॥ १९ ॥
सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः ।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ॥ २० ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः ।
मां च द्रोणं कृपं चैव यथा शम्मन्यते भवान् ॥ २१ ॥
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः ।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥ २२ ॥
रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरञ्जयः ।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ॥ २३ ॥
सत्यजित्समरश्लाघी द्रुपदस्याऽऽत्मजो युवा ।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ॥ २४ ॥
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति ।
अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ॥ २५ ॥

नील, सूर्यदत्त, शङ्ख और मदिराश्व, ये पाँचों भाई रथी और अस्त्र-निपुण हैं। इनमें योद्धाओं के सभी लक्षण विद्यमान् हैं ॥१४।१६॥ महाराज वार्द्धक्षेमि को मैं महारथी मानता हू। राजा चित्रायुध रथी हैं ॥१७॥ वे अर्जुन के भक्त और संग्राम में यश प्राप्त करनेवाले कर्म करने में निपुण हैं। पुरुषश्रेष्ठ चेकितान और सत्यधृति भी पाण्डव पक्ष के महारथी हैं ॥१८॥ व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन श्रेष्ठ रथी हैं ॥१९॥ वासुदेव और भीमसेन के समान महावीर पराक्रमी राजा सेनाबिन्दु भरसक पराक्रम प्रकट करके तुम्हारी सेना से घमसान युद्ध करेंगे। तुम जैसे अपने यहाँ द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और मुझको प्रशसनीय योद्धा समझते हो वैसे ही सेनाबिन्दु को भी समझो। काशी के राजा सेनाबिन्दु का दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है ॥२१।२२॥ वे एकरथ हैं और बहुत फुरती के साथ बाण चलाते हैं। हे दुर्योधन! युद्धप्रिय, युवा, प्रबल पराक्रमी, पांचाल-राजकुमार सत्यजित् अकेले आठ रथियों का काम कर सकते हैं। इस समय वे

पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरन्धरः ।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ॥ २६ ॥
श्रेणिमान्कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः ।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरञ्जयौ ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

धृष्टद्युम्न के समान अतिरथी हो गये हैं ॥२३।२४॥ वे भी पाण्डवों के यश के लिए अद्भुत युद्ध करेंगे। पाण्डवों पर प्रेम रखनेवाले, शूर, महावीर्य पाण्ड्यनरेश रथी हैं ॥२५॥ दृढ़ धनुष धारण करनेवाले पाण्ड्य-नरेश भी पाण्डवों के प्रिय के लिए प्रशंसनीय अद्भुत युद्ध करेंगे ॥२६॥ हे कौरवश्रेष्ठ! श्रेणिमान् और वसुदान नाम के राजाओं को मैं अतिरथी समझता हूं। वे भी पाण्डवों का पक्ष लेकर तुमसे युद्ध करेंगे ॥२७॥

उद्योगपर्व का एक सौ इकहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७१ ॥

अथ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

भीष्म उवाच—रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः ।
योत्स्यतेऽमरवत्संख्ये परसैन्येषु भारत ॥ १ ॥
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः ।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ २ ॥
एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह ।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ॥ ३ ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः ।
योधा ये चाऽस्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥
भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति सङ्गरे ।
सुमहत्कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ॥ ५ ॥
भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ ६ ॥
योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः ।
ये चाऽस्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ॥ ७ ॥

एक सौ बहत्तर अध्याय ॥ १७२ ॥

भीष्मजी ने कहा—हे भरतकुलश्रेष्ठ! पाण्डव पक्ष के महारथी रोचमान युद्ध में इन्द्र के समान अद्भुत कर्म कर दिखावेंगे। महाबली और पराक्रमी भीमसेन के मामा कुन्तिभोज, जिन्हें पुरुजित् भी कहते हैं, अतिरथी हैं। वे वीर, महाधनुर्धर, अनुज्ञ, चित्रयोधी और शक्तिशाली होने के कारण वैसे ही तुम्हारी सेना में युद्ध करेंगे जैसे इन्द्र दानवों से युद्ध करते हैं। उनके साथ युद्ध-निपुण अनेक योद्धा हैं ॥१।४॥ पाण्डवों के हितचिन्तक कुन्तिभोज, भानजों के लिए, अद्भुत युद्ध करेंगे। युद्धप्रिय, मायावी, राक्षसश्रेष्ठ

एते चाऽन्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
समेताःपाण्डवस्याऽर्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ८ ॥
एते प्राधान्यतो राजन्पाण्डवस्य महात्मनः ।
रथाश्चाऽतिरथाश्चैव ये चाऽन्येऽर्धरथा नृप ॥ ९ ॥
नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप ।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ॥ १० ॥
तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः ।
योत्स्यामि जयमाकांक्षन्नथवा निधनं रणे ॥ ११ ॥
वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ ।
सन्ध्यागताविवाऽर्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ॥ १२ ॥
ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ॥ १३ ॥
एते रथाश्चाऽतिरथाश्च तुभ्यं यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया ।
तथाऽपरे येऽर्धरथाश्च केचित्तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ॥ १४ ॥
अर्जुनं वासुदेवं च ये चाऽन्ये तत्र पार्थिवाः ।
सर्वांस्तान्वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत ॥ १५ ॥
पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाऽहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥ १६ ॥
लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

घटोत्कच भीमसेन का पुत्र है; उसे भी मैं किसी महारथी से कम नहीं समझता। वह भी अपने साथी वीर राक्षसों को लेकर तुम्हारी सेना से दारुण युद्ध करेगा। हे राजेन्द्र! ये और वासुदेव प्रमुख अन्य अनेक देशों के राजा पाण्डवों की ओर से युद्ध करने के लिए एकत्र हुए हैं ॥५।८॥ ये सब मेरे कहे हुए प्रधान रथी, अतिरथी, महारथी और अर्धरथी अर्जुन के बल से सुरक्षित रहकर युधिष्ठिर की भयानक सेना का सञ्चालन करेंगे। जय की इच्छा रखनेवाले और युद्ध की मायाओं में निपुण इन सब वीरों के साथ युद्ध करके या तो मैं जय प्राप्त करूँगा या मर जाऊँगा। सन्ध्याकाल में एकत्र उदित चन्द्रमा और सूर्य के समान, चक्र और गाण्डीव धारण करनेवाले, श्रीकृष्ण और अर्जुन सर्वश्रेष्ठ महारथी हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन और उक्त सब रथी, अतिरथी आदि से मैं अकेला युद्ध करूँगा और उन्हें रोकूँगा ॥९।१३॥ हे राजेन्द्र! मैंने पाण्डवपक्ष के प्रधान-प्रधान रथी, अतिरथी और अर्धरथी वीरों का वर्णन तुम्हारे आगे कर दिया। मैं जब तक जीवित रहूँगा तब तक उक्त सब वीरों को और वासुदेव सहित अर्जुन को अपने दिव्य अस्त्रों के प्रभाव से रोकता रहूँगा, किन्तु केवल द्रुपदकुमार शिखण्डी के ऊपर मैं प्रहार न करूँगा।

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ १८ ॥
देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु ।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥ १९ ॥
स हि स्त्रीपूर्वको राजञ्शिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
कन्या भूत्वा पुमाञ्जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥ २० ॥
सर्वांस्त्वन्यान्हनिष्यामि पार्थिवान्भरतर्षभ ।
यान्समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान्नृप ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥
रथातिरथसंख्यानपर्व समाप्तम् ।

॥१४।१५॥ सब लोग जानते हैं कि मैं राज्य का अधिकार छोड़कर पिता का प्रिय करने को जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर चुका हूं ॥१६।१७॥ इसी कारण मैंने अपने भाई चित्राङ्गद को कौरवों का राजा और बालक विचित्रवीर्य को युवराज बना दिया था ॥१८॥ पृथ्वी भर के सब राजा मुझे बाल-ब्रह्मचारी समझकर देवव्रत कहते हैं । इस कारण मैं स्त्री पर या पहले स्त्री रहनेवाले पुरुष पर कभी हाथ नहीं उठा सकता ॥१९॥ हे दुर्योधन ! तुमने सुना भी होगा कि शिखण्डी पहले स्त्री था, बाद को पुरुष हो गया है । इसलिए शिखण्डी के साथ मैं युद्ध नहीं करूंगा । हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! मैं युद्ध करने के लिए अपने आगे उपस्थित अन्य सब राजाओं को मारूंगा-केवल युधिष्ठिर आदि पांचो पांडव मेरे लिए अवध्य हैं; मैं उन्हें जान से नहीं मारूंगा ॥२०।२१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ बहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७२ ॥

अथाम्बोपाख्यानपर्व ।

अथ त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

दुर्योधन उवाच—किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम् ।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ॥ १ ॥
पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान्सह सोमकैः ।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥
भीष्म उवाच—शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः ।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाऽहं हन्यां शिखण्डिनम् ॥ ३ ॥

एक सौ तिहत्तर अध्याय ॥ १७३ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! आप पहले सोमकों और पाञ्चालों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं । भला क्रूरकर्मा आततायी शिखण्डी को, युद्ध में अपने ऊपर बाण-वर्षा करते देखकर भी, आप क्यों न मारेंगे ? ॥१।२॥ भीष्मजी ने कहा—हे दुर्योधन ! जिस कारण मैं शिखण्डी को न मारूंगा,

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ॥ ४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन् ।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ ५ ॥
तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः ।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ॥ ६ ॥
मयाऽभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ॥ ७ ॥
तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमप्युत ।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ॥ ८ ॥
तथाऽश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः ।
रूपेणाऽप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा ।
अम्बां चैवाऽम्बिकां चैव तथैवाऽम्बालिकामपि ॥ ९ ॥
राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ ।
अम्बा ज्येष्ठाऽभवत्तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ॥ १० ॥
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी ।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ॥ ११ ॥
अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलङ्कृताः ।
राज्ञश्चैव समाहूतान्पार्थिवान्पृथिवीपते ॥ १२ ॥
ततोऽहं तान्नृपान्सर्वानाहूय समरे स्थितान् ।
रथमारोपयाञ्चक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ॥ १३ ॥
वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा ।

वह कहता है। तुम इन सब राजाओं के साथ ध्यान से सुनो। मेरे पिता जगत्प्रसिद्ध महाराज शान्तनु का स्वर्गवास होने पर मैंने, पहले की प्रतिज्ञा के अनुसार, छोटे भाई चित्राङ्गद को राजसिंहासन पर बिठा दिया ॥३।५॥ कुछ समय के पश्चात् चित्राङ्गद की भी मृत्यु हो गई। तब मैंने माता सत्यवती की सम्मति से विधिपूर्वक बालक विचित्रवीर्य को राजसिंहासन का स्वामी बनाया ॥६॥ विचित्रवीर्य धर्मानुसार मेरे छोटे भाई थे, इसी लिए वे सदा सब कामों में मेरी आज्ञा लेते थे ॥७॥ मैंने विचित्रवीर्य का विवाह करने का विचार किया ॥८॥ इसी समय सुना कि काशिराज की अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, नाम की तीन परमसुन्दरी कन्याओं का स्वयंवर होनेवाला है ॥९॥ अम्बा सबसे बड़ी, अम्बालिका सबसे छोटी और अम्बिका मझली थी। पृथ्वीमण्डल के सब राजा स्वयंवर का निमन्त्रण पाकर काशीपुरी में पहुँचे। मैं भी अकेला ही रथ पर सवार होकर काशी गया ॥१०।११॥ वहां जाकर मैंने सब अलङ्कारों से

अवोचं पार्थिवान्सर्वानहं तत्र समागतान् ।
भीष्मः शान्तनवः कन्याः हरतीति पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः ।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ॥ १५ ॥
ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ॥ १६ ॥
ते रथैर्गजसङ्काशैर्गजैश्च गजयोधिनः ।
पुष्टैश्चाऽश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ॥ १७ ॥
ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते ।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८ ॥
तानहं शरवर्षेण समन्तात्पर्यवारयम् ।
सर्वान्नृपांश्चाऽप्यजयं देवराडिव दानवान् ॥ १९ ॥
अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन्भरतर्षभ ।
तेषामापततां चित्रान्ध्वजान्हेमपरिष्कृतान् ॥ २० ॥
एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम् ।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाऽप्यहं रणे ॥ २१ ॥
ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम ।
अथाऽहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ॥ २२ ॥
ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत ।
तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

से शोभित तीनों कन्याओं को स्वयंवर की सभा में देखा। पराक्रम ही उन कन्याओं का मूल्य था। मैंने बलपूर्वक हरकर उन तीनों कन्याओं को रथ पर बिठा लिया। फिर मैं बार-बार ललकारकर कहने लगा कि शान्तनु का पुत्र भीष्म तुम लोगों के सामने कन्याओं को हरे लिये जाता है। तुम लोग कन्याओं को छुड़ा लेने का यत्न करो ॥१२।१५॥ राजा लोग मेरे इस काम को और ललकारने को नहीं सह सके। वे अस्त्र-शस्त्र-उठा-उठाकर अपने सारथियों को युद्ध के लिए रथ सजाने की आज्ञा देने लगे ॥१६॥ इसके पश्चात् वे सब राजा हाथियों ऐसे रथों पर चढ़कर मेरे सामने आ गये। उनके साथ के वीर योद्धा भी हाथियों और हृष्ट-पुष्ट घोड़ों पर चढ़-चढ़कर शस्त्र ताने हुए मुझ पर आक्रमण करने के लिए दौड़ पड़े। उन सबने चारों ओर से मुझे घेर लिया ॥१७।१८॥ हे भरतकुलतिलक ! तब अवज्ञा की हँसी हँसकर मैंने दम भर में अपने प्रज्वलित तीक्ष्ण अव्यर्थ बाणों से उन राजाओं की सुवर्ण-मण्डित ध्वजाओं के दण्ड काट-काटकर पृथ्वी पर गिरा दिये ॥१९।२०॥ मैंने बाणवर्षा करके एक ही एक

बाण से उनके वाहनों और सारथियों को मार गिराया ॥२१॥ जिस तरह इन्द्र सब दानवों को सहज में जीत लें उसी तरह मैंने युद्ध में सब राजाओं को नीचा दिखा दिया। मेरी फुर्ती और युद्धकौशल देख-कर सब राजा युद्ध से भाग खड़े हुए। सब राजाओं को हराकर मैं उन कन्याओं को लिये हुए हस्तिना-पुर को लौट आया। हे दुर्योधन! मैंने भाई के विवाह के लिए वे तीनों कन्याएं माता सत्यवती को सौंप दीं और उस अद्भुत युद्ध का समाचार भी उनसे कह दिया ॥२२।२३॥

उद्योगपर्व का एक सौ तिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७३ ॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

भीष्म उवाच—ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ॥ १ ॥
इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ॥ २ ॥
ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ॥ ३ ॥
सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ॥ ४ ॥
भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥ ५ ॥
मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाऽभिवृतो वरः ।
तेन चाऽस्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥ ६ ॥
कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन्विशेषतः ॥ ७ ॥
एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।

एक सौ चौहत्तर अध्याय ॥ १७४ ॥

भीष्मजी कहते हैं कि हे कुरुकुल-तिलक! दाश-राज-नन्दिनी वीर-जननी माता सत्यवती के पास पहुंचकर, उन्हें प्रणाम करके, मैंने कहा—हे माता! मैं सब राजाओं को हराकर विचित्रवीर्य के लिए स्वयंवर से काशिराज की तीन कन्याएँ हर लाया हूं। इनका मूल्य पराक्रम था, इसलिए बाहुबल के द्वारा इन्हें ले आया हूं। हे दुर्योधन! इस आनन्द-समाचार को सुनकर सत्यवती की आंखों में आनन्द के आंसू भर आये। उन्होंने स्नेह से मेरा मस्तक सूंघकर कहा—हे बेटा! बड़े भाग्य की बात है कि तुमने सब राजाओं को जीतकर अपना यश प्रसिद्ध कर दिया। विवाह का समय उपस्थित होने पर, सत्यवती की अनुमति से, काशिराज की बड़ी कन्या अम्बा ने लज्जा के साथ मुझसे कहा—हे भीष्म! आप सब शास्त्रों के मर्म और धर्म के जानकार हैं। इसलिए मैं जो धर्म-सङ्गत वचन कहती हूं उनका अनुमोदन कीजिए ॥१।५॥ मैं पहले मन ही मन शाल्व राजा को अपना पति मान चुकी हूं, और वे भी गुप्त रूप से मुझे अपनी

यत्क्षमं ते महाबाहो तदिहाऽऽरब्धुमर्हसि ॥ ८ ॥
स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥
कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि अंबावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७४॥

पत्नी स्वीकार कर चुके हैं। इस घटना का कुछ वृत्तान्त पिता को भी नहीं विदित है। हे धर्मपरायण! आप धर्म का उल्लङ्घन करके किस तरह दूसरे की इच्छा रखनेवाली स्त्री को अपने घर में रक्खेंगे? हे भीष्म! आप पवित्र कुरुकुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिए मुझे अपने घर में रखना आपके लिए और भी अनुचित है। हे भरतकुल तिलक! इस ओर में विशेष रूप से विचार करके वह उपाय कीजिए जिसमें कल्याण हो और धर्म की हानि न हो। हे भीष्म! महाराज शाल्व अवश्य मेरी राह देख रहे होंगे; इसलिए आप मुझे उनके पास जाने दीजिए। हे महाबाहु! आप मुझपर प्रसन्न हों। मैंने सुना है कि आप पृथ्वीमण्डल पर सत्यव्रत कहलाते हैं ॥६।१०॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चौहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७४॥

अथ पंचसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

भीष्म उवाच—ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ॥ १ ॥
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।
अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ॥ २ ॥
वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चाऽनुगता तदा ।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ॥ ३ ॥
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत् ।
आगताऽहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ॥ ४ ॥
तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते ।
त्वयाऽन्यपूर्वया नाऽहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

एक सौ पचहत्तर अध्याय ॥ १७५ ॥

भीष्म पितामह कहते हैं—हे राजेन्द्र! इसके पश्चात् मैंने माता सत्यवती, मन्त्रीगण, ऋत्विज, पुरोहित आदि से सब हाल कहकर, उनकी अनुमति से, काशिराज की बड़ी कन्या अम्बा को शाल्व राजा के पास जाने की आज्ञा दे दी। अम्बा के साथ वृद्ध ब्राह्मण लोग और उसकी धाय भी गई। राजधानी से निकलकर अम्बा यथासमय शाल्व के पास पहुंची और उनसे कहने लगी—हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं आपके पास पहले की स्वीकृति के अनुसार आई हूं। अब आप मुझे पत्नीरूप से ग्रहण कीजिए ॥१।४॥ हे दुर्यो-

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै ।
नाऽहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥ ६ ॥
त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा ।
परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ॥ ७ ॥
नाऽहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि ।
कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ॥ ८ ॥
नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ॥ ९ ॥
अम्बा तमब्रवीद्राजन्ननङ्गशरपीडिता ।
नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथञ्चन ॥ १० ॥
नाऽस्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणाऽमित्रकर्शन ।
बलान्नीताऽस्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ॥ ११ ॥
भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम् ।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ १२ ॥
साऽहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम् ।
अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ॥ १३ ॥
न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते ।

घन ! तब शाल्व ने मुसकराकर अम्बा से कहा— हे सुन्दरी ! तुम पहले दूसरे के घर रह चुकी हो, इसलिए मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता ॥५॥ तुम फिर भीष्म के पास चली जाओ । भीष्म ने हाथ पकड़कर तुम्हें रथ पर जब बिठाया था तब तुम प्रसन्नता के साथ बैठ गई थीं । भीष्म उस युद्ध में तुम्हें जीतकर ले गये हैं, इसलिए मैं तुम्हें अपने घर में नहीं रख सकता । तुम्हारी ऐसी अन्यपूर्वा (दूसरे की) स्त्री को मुझ सरीखा ज्ञानी और औरों को धर्म का उपदेश करनेवाला पुरुष कैसे अपनी स्त्री बना सकता है ! हे भद्रे ! तुम भीष्म के पास या जहां जी चाहे वहां चली जाओ; देरी न करो ॥६।९॥ हे राजेन्द्र ! तब शाल्व पर आसक्त और कामदेव के बाणों से पीड़ित अम्बा ने शाल्व से कहा।—हे शत्रुओं को दुःख देनेवाले महाराज ! ऐसी बात न कहिए । आपका यह कहना उचित नहीं है ॥१०॥ भीष्म जिस समय मुझे बलपूर्वक हर ले चले थे उस समय, या और कभी, मेरे हृदय में उनके प्रति अनुराग का सञ्चार नहीं हुआ । वे जिस समय अन्य राजाओं को हराकर बलपूर्वक मुझे हरे लिये जा रहे थे उस समय मैं रो रही थी । वे मुझे हरकर ले गये, इसमें मेरा कुछ अपराध नहीं है। मैं दूषित नहीं हुई हूं । आप के ही ऊपर मुझे अनुराग है । इसलिए मुझे स्वीकार कीजिए । निरपराध और शरण में आई हुई स्त्री का त्याग करना धर्म के विरुद्ध और निन्दनीय कार्य है । मैं भीष्म से आज्ञा लेकर उनकी सम्मति से यहां आई हूं ॥११। १३॥ यह भी मैंने सुना है कि महात्मा भीष्म अपने लिए नहीं, अपने भाई के लिए इन तीनों बहनों को हर ले गये थे। वे स्वयं मुझसे विवाह करना

भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ॥ १४ ॥
भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप ।
प्रादाद्विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ॥ १५ ॥
यथा शाल्वपते नाऽन्यं वरं ध्यामि कथञ्चन ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ॥ १६ ॥
न चाऽन्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता ।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत्सत्येनाऽऽत्मानमालभे ॥ १७ ॥
भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम् ।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणीम् ॥ १८ ॥
तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
अत्यजद्भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ १९ ॥
एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः ।
नाऽश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ॥ २० ॥
ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अब्रवीत्साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ॥ २१ ॥
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते ।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ॥ २२ ॥
एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा ।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ॥ २३ ॥
गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत ।
बिभेमि भीष्मात्सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥ २४ ॥

नहीं चाहते ॥१४॥ मेरी छोटी बहनों का विवाह भी उन्होंने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के साथ कर दिया है ॥१५॥ हे राजेन्द्र ! मैं अपने सिर की सौगन्ध खाकर कहती हूं कि आपके सिवा दूसरे पुरुष को मैं नहीं चाहती। अपनी सौगन्ध खाकर कहती हूं कि मैं अन्यपूर्वा (दूसरे की) स्त्री नहीं हूं। मैं इस समय आपके प्रणय और प्रसाद की इच्छा से स्वयं आई हूं। इसलिए मुझे आप स्वीकार कर लीजिए॥१६।१८॥ हे दुर्योधन ! अम्बा के बारम्बार प्रार्थना करने पर भी शाल्व ने उसे इस तरह त्याग दिया जैसे सर्प केंचुल को त्याग देता है ॥१९॥ जब शाल्व किसी तरह स्वीकार करने को प्रसन्न नहीं हुए तब अम्बा निष्फल क्रोध से आंखों में आंसू भरकर कहने लगी—हे राजेन्द्र ! आप ने मुझे त्याग दिया तो कोई हानि नहीं। यदि मैं सत्यवादिनी हूँ तो जहां जाऊँगी वहीं सज्जन मेरी रक्षा करेंगे ॥२०।२२॥ हे कुरुकुल-कुमार ! काशिराज की कन्या अम्बा ने करुण स्वर से बहुत कहा-सुना, किन्तु शाल्व ने उसे स्वीकार नहीं किया ॥२३॥ वे अम्बा से बारम्बार कहने लगे—हे सुन्दरी ! तुम यहां से जाओ। तुम भीष्म की

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।
युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ॥ ४४ ॥
स तामाश्वासयत्कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यान पर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पंचसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।१७५।

पास जाने को जी नहीं चाहता । शाल्व ने भी मुझे त्याग दिया है । इस समय सब ओर से निराश और निराश्रय होकर मैंने तप करने का ही निश्चय कर लिया है । आप लोग देव-तुल्य हैं; इसलिए कृपा करके मुझे इस आश्रम में स्थान दीजिए । महात्मा शैखावत्य ऋषि ने लोक और वेद के अनेक दृष्टान्त और युक्तियां दिखाकर अम्बा को समझाया, आश्वास दिया । इसके पश्चात् वे अन्य ब्राह्मणों से मिलकर अम्बा का दुःख दूर करने के बारे में सम्मति करने लगे ॥४१।४५॥

उद्योगपर्व का एक सौ पचहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७५ ॥

अथ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

भीष्म उवाच—ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ॥ १ ॥
केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ॥ २ ॥
केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद्व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ॥ ३ ॥
एवङ्गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ॥ ४ ॥
अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ॥ ५ ॥
प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम् ।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

एक सौ छिहत्तर अध्याय ॥ १७६ ॥

भीष्मजी कहते हैं कि इसके पश्चात् उस कन्या का कार्य सिद्ध करने के विचार से सब मुनि मिल-कर सम्मति करने लगे । किसी ने कहा कि इसे पिता के घर पहुंचा दो । किसी ने कहा कि चलकर भीष्म को उलाहना देकर समझाओ । किसी ने कहा कि शाल्व से अनुरोध करो । किसी ने कहा कि शाल्व ने उत्तर दे दिया है, इसलिए उनके पास जाना उचित न होगा । उन ब्रह्मचारी तपस्वियों ने कुछ देर तक आपस में यों तर्क-वितर्क करके अम्बा से कहा—हे भद्रे । तुम्हारा यह काम हमारी शक्ति के बाहर है; हम कुछ नहीं कर सकते । इसलिए हम तुम्हें जो हित की बात बताते हैं उसे सुनो । जन्म भर कठोर तप या संन्यास का अभिप्राय छोड़ दो और अपने पिता के घर जाओ ॥१।५॥ तुम्हारे पिता काशिराज

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद्भद्रे यथा पिता ।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि ॥ ७ ॥
गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः ।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्याः विशेषतः ॥ ८ ॥
राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि ।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे ।
ततस्त्वन्येऽब्रुवन्वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम् ॥ १० ॥
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने ।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः ॥ ११ ॥
अम्बोवाच—न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान् ।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः ॥ १२ ॥
उषिताऽस्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः ।
नाऽहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम ।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता ॥ १३ ॥
यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः ।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात्तप्स्याम्यहं तपः ॥ १४ ॥
भीष्म उवाच—इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम् ।
राजर्षिस्तद्वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः ॥ १५ ॥

ही इस बारे में कुछ कर देंगे । तुम भी वहां जाने से सब कल्याण प्राप्त करोगी और सुख से रह सकोगी । देखो, तुम स्त्री-जाति हो । पिता से बढ़कर कन्या का रक्षक दूसरा नहीं है । पिता या पति ही इस लोक में स्त्री की अनन्य गति है । अच्छी दशा में पति और सङ्कट की दशा में पिता स्त्री-जाति का आश्रय स्थल होता है । फिर तुम सुकुमारी राजकुमारी हो, इसलिए तुम सन्यास का कठिन व्रत, क्लेशदायक होने के कारण, पाल नहीं सकोगी । आश्रम में रहने से लोकापवाद आदि और दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं । पिता के यहां उन दोषों से तो बची रहोगी ॥६।९॥ कुछ और ऋषियों ने कहा—हे राजकुमारी ! इस निर्जन गहन वन में अकेली रहोगी तो शिकार आदि के लिए इधर आनेवाले राजा और राजकुमार तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा करेंगे । इसलिए तुम वन में रहकर जन्म भर तप करने का अभिप्राय छोड़ दो ॥१०।११॥ अम्बा ने कहा—हे तपस्वियो ! मैं अब लौटकर पिता के घर नहीं जा सकती, वहां कौन सा मुख लेकर जाऊं ? वहां जाऊंगी तो भाई-बन्धु अवश्य अनादर और घृणा की दृष्टि से देखेंगे । बालक-पन भर पिता के घर में रही हूं । अब वहां न जाकर आप लोगों के आश्रम में रहकर इसलिए तप करूंगी कि दूसरे जन्म में भी ऐसी विपत्ति का सामना न करना पड़े ॥१२।१४॥ भीष्मजी कहते हैं—हे दुर्योधन !

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम् ।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च ॥ १६ ॥
तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः ।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः ॥ १७ ॥
अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराजस्य भारत ।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ १८ ॥
तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः ।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः ॥ १९ ॥
स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा ।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्याश्वासयत प्रभो ॥ २० ॥
स तामपृच्छत्कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः ।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत् ॥ २१ ॥
ततः स राजर्षिरभूद्दुःखशोकसमन्वितः ।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः ॥ २२ ॥
अब्रवीद्वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः ।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ॥ २३ ॥
दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके ।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ॥ २४ ॥
गच्छ मद्वचनाद्रामं जामदग्न्यं तपस्विनम् ।
रामस्ते सुमहद्दुःखं शोकं चैवाऽपनेष्यति ॥ २५ ॥
हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद्वचः ।

ऋषि लोग इस तरह कर्तव्य के विषय में सोच ही रहे थे कि परम तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन वहां आ पहुंचे ॥१५॥ मुनियों ने उनका स्वागत किया, आसन दिया। जल, भोजन आदि से विधिपूर्वक सत्कार होने के पश्चात् कुछ देर तक विश्राम करके जब राजर्षि होत्रवाहन बैठे तब फिर वे सब ऋषि अम्बा के बारे में वार्तालाप करने लगे ॥१६।१७॥ राजर्षि होत्रवाहन अम्बा के नाना थे। इस कारण सब समाचार सुनकर और अम्बा की यह दशा देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे अम्बा को गोद में बिठा कर धैर्य देने लगे ॥१८।२०॥ उन्होंने फिर अम्बा के मुख से सब वृत्तान्त विस्तार के साथ सुना। उसके पश्चात् अत्यन्त दुःख से विह्वल राजर्षि अपने मन में कर्तव्य का निश्चय करके अम्बा से बोले—हे बेटी! तुम अब पिता के घर न जाना। मैं तुम्हारा नाना हूँ, इसलिए तुम्हारे सब दुःख और क्लेश दूर करने की चेष्टा करूँगा। तुम मेरे साथ चलो। तुम्हारा सूखा हुआ मुखड़ा देखने से ही तुम्हारे हृदय के दुःख की थाह लगती है ॥२१।२४॥ इस समय तुम मेरे कहने के अनुसार महात्मा परशुराम के निकट जाओ। वे

तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ॥ २६ ॥
प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः ।
ततस्तु सुस्वरं वाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ॥ २७ ॥
अब्रवीत्पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम् ।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ॥ २८ ॥
अपि नामाऽद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम् ।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ॥ २९ ॥
होत्रवाहन उवाच—रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने ।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसन्धं महाबलम् ॥ ३० ॥
महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह ।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३१ ॥
तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम ।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ॥ ३२ ॥
ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत्ते कार्यं मनीषितम् ।
मयि सङ्कीर्तिते रामः सर्वं तत्ते करिष्यति ॥ ३३ ॥
मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे ।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥
एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने ।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद्रामस्याऽनुचरः प्रियः ॥ ३५ ॥

तुम्हारे सब शोक और दुःख को दूर कर देंगे ॥२५॥ भीष्म यदि उनका अनुरोध न मानेंगे तो युद्ध में उनके हाथ से मारे जायगे। इसलिए तुम प्रलयकाल के अग्नि के समान प्रचण्ड और तेजस्वी परशुराम के पास चलो। वे तुम्हारा शोक शान्त करेंगे। सिर झुकाये आंसू बहाती हुई अम्बा ने नाना को प्रणाम करके मधुर स्वर में कहा–हे नानाजी! आपकी आज्ञा से मैं उन्हीं जगत्प्रसिद्ध भार्गव की शरण में चलूंगी। किन्तु मैं यह जानना चाहती हूँ कि कहां, किस तरह, कब जाने से उनसे मेरी भेंट होगी और किस तरह वे मेरा यह दारुण दुःख दूर करेंगे ॥२६।२९॥ होत्रवाहन ने कहा—हे कल्याणरूपिणी! सत्यसन्ध भार्गव महेन्द्राचल के शिखर पर रहते हैं। वहां वेदज्ञ ऋषियों, गन्धर्वों और अप्सराओं का निवास है। वहां जाकर तुम उन्हें दुष्कर तपस्या में तत्पर देखोगी ॥३०।३१॥ तुम वहां जाकर, सिर झुकाकर, उन्हें प्रणाम करना और अपना वृत्तान्त तथा मेरा संदेसा कहना। वे सब धनुर्धर पुरुषों में श्रेष्ठ वीरवर परशुराम मेरे सखा और स्नेह रखनेवाले हितचिन्तक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मेरा नाम लेने से वे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे ॥३२।३४॥ राजर्षि होत्रवाहन इस तरह कह ही रहे थे कि परशुराम के प्रिय शिष्य अकृतव्रण अचानक

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः ।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ३६ ॥
ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः ।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ॥ ३७ ॥
ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः ।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ॥ ३८ ॥
ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः ।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३९ ॥
क सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वर ॥ ४० ॥

अकृतव्रण उवाच—भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो ।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव ॥ ४१ ॥
इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम ।
द्रष्टाऽस्येनमिहाऽऽयान्तं तव दर्शनकांक्षया ॥ ४२ ॥
इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता ।
कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम् ॥ ४३ ॥

होत्रवाहन उवाच—दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया ।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहाऽनघ ॥ ४४ ॥
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन ॥ ४५ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत् ।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्राऽऽसीदुत्सवो महान् ॥ ४६ ॥

वहां आ गये ॥३५॥ सभा में स्थित सब ऋषि और वृद्ध राजर्षि होत्रवाहन उनके सम्मान के लिए उठ खड़े हुए ॥३६॥ सब लोग सत्कार करके उनको घेर-कर बैठ गये ॥३७॥ इसके पश्चात् प्रसन्नतापूर्वक सब लोग तरह-तरह की बातें करने लगे ॥३८॥ वार्तालाप के पश्चात् होत्रवाहन ने अकृतव्रण से पूछा—वेदज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ हे महाबाहु ! महाप्रभावशाली परशुराम इस समय कहां हैं ? ॥३९।४०॥ अकृतव्रण ने कहा—हे राजेन्द्र ! महात्मा परशुराम के आप प्रिय मित्र हैं, इसलिए वे सदा आपकी चर्चा किया करते हैं ॥४१॥ मुझे जान पड़ता है कि कल प्रातःकाल वे आपसे मिलने के लिए यहां आवेंगे । इसी स्थान में आप उनके दर्शन पावेंगे ॥४२॥ हे राजेन्द्र ! यह कन्या किसकी है ? आपके साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? और यह वन में क्यों आई है ? ॥४३॥ होत्रवाहन ने कहा—हे महाशय ! यह काशिराज की प्यारी कन्या मेरी नातिन है । इसका नाम अम्बा है । कुछ दिन हुए, इन तीनों बहनों का स्वयंवर किया गया

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान् ।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः ॥ ४७ ॥
निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम् ।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः ॥ ४८ ॥
सत्यवत्यै निवेद्याऽथ विवाहं समनन्तरम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः ॥ ४९ ॥
तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम् ।
अब्रवीत्तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ ॥ ५० ॥
मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाऽभिवृतः पतिः ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम् ॥ ५१ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः ।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५२ ॥
अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः ।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥
विसर्जिताऽस्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय ।
मनसाऽभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ ॥ ५४ ॥
प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याऽभिशङ्कितः ।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम् ॥ ५५ ॥
मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्त्तनात् ।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते ॥ ५६ ॥

था । कन्या-लाभ के लिए पृथ्वी के सब राजा उस स्वयंवर-सभा में आये थे । वहां एक बड़ा भारी धूम-धामी उत्सव हुआ था ॥४४।४६॥ महावीर भीष्म सब राजाओं को जीतकर इन तीनों बहनों को हरकर हस्तिनापुर ले गये और माता सत्यवती की सम्मति से अपने भाई विचित्रवीर्य के साथ तीनों कन्याओं के विवाह का उद्योग करने लगे ॥४७।४९॥ यह जानकर अम्बा ने मन्त्रियों के सामने भीष्म से कहा कि हे वीर ! मैं मन में शाल्व को अपना पति मान चुकी हूँ । इस कारण दूसरे को चाहनेवाली स्त्री के साथ अपने भाई का विवाह करना आपके योग्य कार्य नहीं है ॥५०। ५१॥ यह सुनकर, मन्त्रियों से सम्मति लेकर, भीष्म ने सत्यवती की इच्छा से अम्बा को छोड़ दिया । ॥५२॥ भीष्म के हाथ से छुटकारा पाकर अम्बा प्रसन्नतापूर्वक शाल्व के पास गई और कहने लगी कि हे महाराज ! भीष्म ने मुझे त्याग दिया है, अब आप मेरे धर्म की रक्षा कीजिए; क्योंकि मैं पहले से ही मन में आपको अपना पति मान चुकी हूं ॥५३। ५४॥ हे अकृतव्रण ! किन्तु शाल्व ने अम्बा के चरित्र को दूषित समझकर उसे नहीं स्वीकार किया । वहां से भी निराश होकर यह तपस्या करने यहां आई है ॥५५॥ यहां वंश का परिचय पाकर मुझे

अम्बोवाच—भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः ।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ५७ ॥
नह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन ।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ॥ ५८ ॥
यत्तु मां भगवान्रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम ।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन्मतिः ॥ ५९ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनांबासंवादेषट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७६॥

विदित हुआ कि यह मेरी नातिन है । यह कन्या भीष्म को ही अपने सब दुःखों और दुर्गतियो का आदि-कारण बताती है ॥५६॥ अम्बा ने कहा—हे तपोधन ! मेरे नाना महाराज होत्रवाहन ने बिलकुल ठीक कहा है । लज्जा के कारण और अपमान के भय से मैं फिर अपने पिता की नगरी में नहीं जा सकती। अब भगवान् परशुराम जो करने के लिए मुझसे कहेंगे उसी को मैं अपना कर्तव्य समझूंगी ॥५७।५९॥

उद्योगपर्व का एक सौ छिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥१७६॥

अथ सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७७॥

अकृतव्रण उवाच—दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि ।
प्रतिकर्तव्यमबले तत्त्वं वत्से वदस्व मे ॥ १ ॥
यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव ।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ॥ २ ॥
अथाऽऽपगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता ।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात्तदपि भार्गवः ॥ ३ ॥
सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते ।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥
अम्बोवाच—अपनीताऽस्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता ।
नाऽभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मञ्शाल्वगतं मनः ॥ ५ ॥
एतद्विचार्य मनसा भवानेतद्विनिश्चयम् ।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ॥ ६ ॥

एक सौ सतहत्तर अध्याय ॥ १७७ ॥

अकृतव्रण ने कहा–हे अम्बा ! तुम्हें दो ओर से दो तरह का दुःख है । उनमें से तुम किसको मिटाने की इच्छा रखती हो ? जो तुम चाहो कि शाल्व को तुमसे विवाह करने के लिए विवश किया जाय तो महात्मा परशुराम तुम्हारी प्रसन्नता और भलाई के लिए वह भी करेंगे; अथवा जो तुम भीष्म की हार देखना चाहती हो तो गुरुवर वह भी कर सकते हैं । राजर्षि होत्रवाहन के और तुम्हारे वचनों को सुनकर आज ही कर्तव्य का निश्चय कर लेना आवश्यक जान पड़ता है ॥१।४॥ अम्बा ने कहा–हे भगवन् ! मुझे राजा शाल्व के ऊपर आसक्त न जानकर ही भीष्म हर ले गये थे । यह जानकर, न्याय

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः ।
उभयोरेव वा ब्रह्मन्युक्तं यत्तत्समाचर ॥ ७ ॥
निवेदितं मया ह्येतद्दुःखमूलं यथातथम् ।
विधानं तत्र भगवन्कर्तुमर्हसि युक्तितः ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच—उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि ।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥
यदि त्वामापगेयो वै न नयेद्गजसाह्वयम् ।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद्रामचोदितः ॥ १० ॥
तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीताऽसि भाविनि ।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ॥ ११ ॥
भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च ।
तस्मात्प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ॥ १२ ॥

अम्बोवाच—ममाऽप्येष सदा ब्रह्मन्हृदि कामोऽभिवर्तते ।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ॥ १३ ॥
भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच—एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ॥ १५ ॥
ततो रामः प्रादुरासीत्प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजञ्जटाचीरधरो मुनिः ॥ १६ ॥
धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत्परश्वधी ।

के अनुसार, भीष्म या शाल्व के साथ जैसा व्यवहार करना आपको उचित जान पड़े, वैसा ही निश्चय कीजिए। मैं अपने दुःख का कारण कह चुकी। ॥५।८॥ अकृतव्रण ने कहा—हे राजकुमारी! तुम धर्म की ओर दृष्टि रखकर जो कह रही हो वह उचित ही है। अब तुम मेरी बात सुनो ॥९॥ हे कल्याण-रूपिणी! यदि भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले जाते तो शाल्व, परशुरामजी की आज्ञा से, तुम्हें सादर ग्रहण कर लेते ॥१०॥ भीष्म तुम्हें बलपूर्वक हर ले गये, इसी से शाल्व को तुम्हारे चरित्र पर सन्देह हो गया है ॥११॥ भीष्म को अपने पौरुष का बड़ा घमण्ड है और वे सर्वत्र विजयी होते हैं। इसलिए उन्हें दण्ड देना ही उचित जान पड़ता है ॥१२॥ अम्बा ने कहा—हे तपोधन! संग्राम में भीष्म को हराना या मारना ही मेरा उद्देश्य है। भीष्म या शाल्व, जिसे आप मेरे इस दुःख का कारण और दोषी समझिए उसी को दण्ड दीजिए ॥१३।१४॥ इस तरह वार्तालाप करने में वह दिन और रात्रि भी व्यतीत हो गई ॥१५॥ प्रातःकाल जटा-वल्कलधारी, तेज की राशि, महातपस्वी परशुराम अपने शिष्यों

विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ॥ १७ ॥
ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन्सा च कन्या तपस्विनी ॥ १८ ॥
पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ॥ १९ ॥
ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स्म तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ॥ २० ॥
तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ॥ २१ ॥
रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ॥ २२ ॥
परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साऽभ्यवदद्रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसौ शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ॥ २४ ॥
रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ॥ २५ ॥
राम उवाच—यथा त्वं सृञ्जयस्याऽस्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत्ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ॥ २६ ॥
अम्बोवाच—भगवञ्शरणं त्वाऽद्य प्रपन्नाऽस्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ॥ २७ ॥

के साथ राजर्षि होत्रवाहन के पास आये। वे परशु, खड्ग, धनुष आदि धारण किये हुए थे ॥१६।१७॥ वे सब मुनि, होत्रवाहन, अम्बा और अकृतव्रण आदि सब लोग उन्हें देखकर उठ खड़े हुए ॥१८॥ सबने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और यथोचित सत्कार के साथ उनकी पूजा की। इसके पश्चात् परशुरामजी आसन पर बैठे और होत्रवाहन के साथ वार्तालाप करने लगे ॥१९।२०॥ सृञ्जयराज होत्रवाहन ने अवसर देखकर मधुर स्वर में कहा—हे भगवन्! यह काशिराज की कन्या, मेरी नातिन, अम्बा है। इस का जो उपकार आपको करना होगा सो इसी के मुख से सुनिए॥२१।२२॥परशुरामजी ने अपना प्रयोजन कहने के लिए अम्बा को आज्ञा दी। अम्बा उनके पास जाकर, कमल-सदृश कोमल हाथों से उनके पांव छूकर, सामने खड़ी हो गई और शोक के आंसू बहाती हुई कहने लगी—मैं आपकी शरण में आई हूं ॥२३।२५॥ परशुरामजी ने कहा—हे कल्याणरूपिणी! तुम जैसे राजर्षि होत्रवाहन को प्यारी हो वैसे ही मुझे भी प्यारी हो। इसलिए तुम मेरे आगे अपने दुःख का कारण कहो। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूंगा ॥२६॥

भीष्म उवाच—तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाऽभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २८ ॥
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाऽभिपरिप्लुतः ॥ २९ ॥
कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ॥ ३० ॥
तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा ।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्याऽर्थविनिश्चयम् ॥ ३१ ॥
राम उवाच—प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि ।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ॥ ३२ ॥
न चेत्करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः ।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ॥ ३३ ॥
अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते ।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ॥ ३४ ॥
अम्बोवाच—विसर्जिताऽहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन ।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ॥ ३५ ॥
सौभराजमुपेत्याऽहमवोचं दुर्वचं वचः ।
न च मां प्रत्यगृह्णात्स चारित्र्यपरिशङ्कितः ॥ ३६ ॥
एतत्सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्ध्या भृगुनन्दन ।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

अम्बा ने कहा—हे भगवन्! मैं आपकी शरण में हूँ। आप मुझे इस शोक-सागर के पार लगाइए ॥२७॥ भीष्मजी कहते हैं कि हे दुर्योधन! परशुरामजी अम्बा के असाधारण रूप, जवानी और सुकुमारता को देखकर बहुत चिन्तित हुए ॥२८॥ बहुत देर तक वे सोचते रहे कि अम्बा क्या कहेगी। फिर कृपा-पूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—तुम्हारी क्या इच्छा है, शीघ्र कहो। तब अम्बा ने आदि से अन्त तक उनसे अपने दुःख का सब समाचार कहा ॥२९।३०॥ सब समाचार सुनकर, कर्तव्य निश्चय करके, परशुरामजी ने कहा—हे बेटी! मैं भीष्म के पास दूत भेजूँगा; वे अवश्य मेरा कहना मान लेंगे ॥३१।३२॥ यदि मेरा कहा वे नहीं मानेंगे तो मैं अपनी अस्त्र-विद्या के बल से संग्राम में उन्हें और उनके मन्त्रियों को अवश्य मारूँगा ॥३३॥ अथवा जो तुम वहां विवाह करना उचित न समझो तो कहो, मैं शाल्व को तुम से विवाह करने की आज्ञा दूं ॥३४॥ अम्बा ने कहा—शाल्व के ऊपर तो पहले से ही मुझे अनुराग है। यही सुनकर भीष्म ने मेरा छुटकारा कर दिया है ॥३५॥ इसके पश्चात् मैंने शाल्व के पास जाकर उनसे अपने अन्तःकरण का सब हाल कहा और विवाह करने के लिए प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने मेरे चरित्र

मम तु व्यसनस्याऽस्य भीष्मो मूलं महाव्रतः ।
येनाऽहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात्तदा ॥ ३८ ॥
भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम् ।
प्राप्ताऽहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ॥ ३९ ॥
स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव ।
तस्मात्प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयाऽनघ ॥ ४० ॥
एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो ।
अभवद्धृदि सङ्कल्पो घातयेयं महाव्रतम् ॥ ४१ ॥
तस्मात्कामं ममाऽद्येमं राम सम्पादयाऽनघ ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरन्दरः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७७॥

पर सन्देह करके मुझे त्याग दिया ॥३६॥ आप अपनी बुद्धि से इन बातों पर विचार करके कर्तव्य ठीक कीजिए ॥३७॥ महावीर भीष्म मुझको बलपूर्वक हर ले गये, और विवश होकर मैं अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकी ॥३८॥ इस कारण भीष्म ही मेरे दुःखों की जड़ हैं । आप संग्राम में उन्हें मारिए । उन्हीं के कारण ऐसे दुःख में पड़कर मैं उन्हीं का अनिष्ट करने के लिए उद्यत हूँ ॥३९॥ भीष्म अत्यन्त लोभी, नीच-प्रकृति और सदा विजय प्राप्त करने के कारण घमण्डी हैं । इसलिए उन्हें दण्ड देकर उनका गर्व चूर्ण करना ही मुझे उचित जान पड़ता है । उन्होंने मेरा अपकार किया है, इस कारण पहले से ही उन्हें मरवाने का विचार मैं कर चुकी हूं । आप मेरे इस मनोरथ को पूर्ण कीजिए । इन्द्र ने जैसे वृत्रासुर को मारा था वैसे ही आप भी भीष्म को मारिए ॥४०।४२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ सतहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७७ ॥

अथ अष्टसप्तत्युत्तरशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

भीष्म उवाच—एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो ।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ॥ १ ॥
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि ।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत्करवाणि ते ॥ २ ॥
वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत्करिष्यामि मा शुच ॥ ३ ॥

एक सौ अठहत्तर अध्याय ॥ १७८ ॥

भीष्मजी कहते हैं कि हे दुर्योधन ! अम्बा के बारम्बार यों कहने और रुदन करने पर महात्मा परशुराम ने कहा—हे काशिराज की कन्या ! मैंने शस्त्रत्याग कर दिया है । वेदज्ञ ब्राह्मणों के प्रयोजन के बिना मैं कभी शस्त्र धारण नहीं कर सकता । युद्ध के सिवा और जो कहो सो करने को उद्यत हूं । देखो, महा-

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथञ्चिदपि भाविनि ।
ऋते नियोगाद्विप्राणामेष मे समयः कृतः ॥ ४ ॥

अम्बोवाच—मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः ।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम् ॥ ५ ॥

राम उवाच—काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ ।
शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम ॥ ६ ॥

अम्बोवाच—जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा ।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत्सत्यं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच—तयोः संवदतोरेवं राजन्रामाम्बयोस्तदा ।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि ।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे ॥ ९ ॥
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात्कुर्याद्वा वचनं तव ।
कृतमस्या भवेत्कार्यं कन्याया भृगुनन्दन ॥ १० ॥
वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो ।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने ॥ ११ ॥
जित्वा वै क्षत्रियान्सर्वान्ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि ॥ १२ ॥
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव ।
शरणार्थं प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम् ॥ १३ ॥

चाहु भीष्म और शास्त्र दोनों मेरा कहा मान लेंगे। इसलिए मैं उसी की चेष्टा करूंगा; तुम शोक मत करो। मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूं कि ब्राह्मणों की आज्ञा के बिना मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा, इसी से विवश हूं ॥१।४॥ अम्बा ने कहा—भीष्म ही मेरे दुःख और दुर्भाग्य की जड़ हैं। आप मेरा दुःख दूर करना स्वीकार कर चुके हैं, इसलिए भीष्म को मारिए। परशुरामजी ने कहा—हे बेटी! भीष्म पूजनीय और सज्जन हैं। वे मेरे कहने से तुम्हारे चरणों पर सिर रखने के लिए भी तैयार हो जायेंगे। अम्बा ने कहा—जो आप मेरा हित करना चाहते हैं तो संग्राम में भीष्म को मारिए। अङ्गीकृत वचन का पालन करना आपका अवश्य कर्तव्य है ॥५।७॥ भीष्मजी कहते हैं कि इस तरह वार्तालाप हो ही रही थी कि इसी समय धर्मपरायण अकृतव्रण ने कहा—हे भगवन्! यह कन्या आपकी शरण में आई है, इसका त्याग न कीजिएगा। यदि संग्राम में आकर भीष्म आपसे पराजय स्वीकार कर लें तो इस कन्या का काम बन जायगा और आपकी प्रतिज्ञा भी सत्य होगी। पहले क्षत्रिय जाति का संहार करके आप ब्राह्मणों के आगे

न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन्कथञ्चन ।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम् ॥ १४ ॥
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव ।
स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः ॥ १५ ॥
तेन युद्धयस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन ।
राम उवाच—स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम ॥ १६ ॥
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते ।
कार्यमेतन्महद्ब्रह्मन्काशिकन्यामनोगतम् ।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः ॥ १७ ॥
यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः ।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १८ ॥
न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम् ।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसङ्गरे ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः ॥ २० ॥
ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः ।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया ॥ २१ ॥
अभ्यगच्छत्ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत ॥ २२ ॥
न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीं ।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः ॥ २३ ॥

प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, ब्रह्मद्वेषी होगा उसे मैं अवश्य मारूगा । इसके सिवा जो तेजस्वी और पराक्रमी क्षत्रिय पृथ्वी भर के सब क्षत्रियों को जीत लेगा उस अपने प्रतिद्वन्द्वी को भी युद्ध करके मारूगा । भीष्म ऐसे ही समर-विजयी क्षत्रिय हैं । इस कारण भी भीष्म के साथ युद्ध करना और उन्हें मारना आपका कर्तव्य है ॥८।१५॥ परशुरामजी ने कहा—हे तपोधन ! मैं अपनी पहले की प्रतिज्ञा स्मरण करके इस तरह कार्य सिद्ध करने की चेष्टा करूगा जिसमें शान्ति भङ्ग न हो । काशिराज की कन्या भीष्म को मारने का आग्रह कर रही है; किन्तु यह काम बहुत ही कठिन है । इस कारण इस कन्या को अपने साथ लेकर मैं स्वयं वीर भीष्म के पास जाऊँगा । तुम लोग जानते ही हो कि मेरे चलाये हुए अमोघ बाण शरीरधारियों को मारे बिना नहीं लौटते । इसलिए अपने बाहुबल का घमण्ड रखनेवाले विजयी भीष्म यदि मेरा कहा नहीं मानेंगे तो मैं अवश्य समर में उन्हें मारूगा ॥१६।१९॥ ऋषियों के सामने यों कहकर रात्रि व्यतीत होने पर महात्मा परशुराम ने युद्ध-यात्रा का उद्योग किया । ऋषि लोग भी हवन

भीष्म उवाच—ततस्तृतीये दिवसे सन्दिदेश व्यवस्थितः ।
कुरु प्रियं स मे राजन्प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः ॥ २४ ॥
तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम् ।
अभ्यगच्छं जवेनाऽऽशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम्॥ २५ ॥
गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः ।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः ॥ २६ ॥
स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥
राम उवाच—भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा ।
अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ॥ २८ ॥
विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी ।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहाऽर्हति॥ २९ ॥
प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वया नीतेति भारत ।
तस्मादिमां मन्नियोगात्प्रतिगृह्णीष्व भारत ॥ ३० ॥
स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम् ।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयाऽनघ ॥ ३१ ॥
ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याऽहमथाऽब्रुवम् ।
नाऽहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन्भ्रात्रे कथञ्चन ॥ ३२ ॥
शाल्वस्याऽहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव ।
मया चैवाऽभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति ॥ ३३ ॥

और जप करके, मेरे मारने की इच्छा से, परशुराम कुरुक्षेत्र में पहुंचे। सब लोग वहां सरस्वती नदी के किनारे ठहर गये ॥२०।२३॥ भीष्मजी कहते हैं—हे राजेन्द्र! समतल भूमि में ठहरकर महात्मा परशुराम ने तीसरे दिन मुझसे कहला भेजा कि मैं आया हूं, मुझसे आकर मिलो। महात्मा परशुराम को अपने राज्य के भीतर आया हुआ सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। उसी समय देवतुल्य ब्राह्मण, ऋत्विज, पुरोहित आदि को साथ लेकर, अतिथि-सत्कार में देने के लिए एक गाय लेकर, मैं उनके पास गया। मेरी की हुई पूजा स्वीकार करके भार्गव ने कहा—हे भीष्म! तुम दूसरे [illegible] आसक्त हृदयवाली काशिराज की कन्या को स्वयं अकाम होकर भी क्यों पहले हर लाये थे? और फिर उसका त्याग क्यों कर दिया? तुमने इस कन्या को [समाज और] धर्म से भ्रष्ट कर दिया है। तुम इसे हर लाये हो, इसके साथ विवाह करना कोई नहीं स्वीकार करेगा। इसी कारण शाल्व ने भी इसे स्वीकार नहीं किया। मैं तुमको आज्ञा देता हूं कि इसे ग्रहण करके इसके और अपने धर्म की रक्षा करो। हे वीर! इसका यों अपमान करना तुम्हारे लिए अनुचित है ॥२४।३१॥ भीष्मजी कहते हैं कि तब मैंने परशुरामजी को व्याकुल और कुछ कुपितसा

न भयान्नाऽप्यनुक्रोशान्नाऽर्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥ ३४ ॥
अथ मामब्रवीद्रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
न करिष्यसि चेदेतद्वाक्यं मे नरपुङ्गव ॥ ३५ ॥
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः ।
संरम्भादब्रवीद्रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३६ ॥
तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिन्दम ।
अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः ॥ ३७ ॥
प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम् ।
अब्रुवं कारणं किं तद्यत्त्वं युद्धं मयेच्छसि ॥ ३८ ॥
इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम् ।
उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ॥ ३९ ॥
ततो मामब्रवीद्रामः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ॥ ४० ॥
सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते ।
न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ॥ ४१ ॥
गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः ।
त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाऽधिगच्छति ॥ ४२ ॥
तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरञ्जयम् ।

देखकर कहा—हे ब्रह्मन्! मैं इस कन्या का विवाह अपने भाई विचित्रवीर्य के साथ नहीं कर सकता। हे गुरुवर! यह पहले मुझसे कह चुकी है कि मैं राजा शाल्व ही को चाहती हूं और उन्हें अपने मन में पति मान चुकी हूं। इसी कारण मैंने इसे राजा शाल्व के पास जाने की अनुमति दे दी। यह राजा शाल्व के पास चली गई थी। इस समय मैं भय, दया, धन-लोभ या काम के वश होकर क्षत्रिय के धर्म को नहीं परित्याग कर सकता। मेरा यही सदा का व्रत है ॥३२।३४॥ हे दुर्योधन! तब क्रोध से नेत्र लाल करके परशुरामजी ने मुझसे कहा—मेरी आज्ञा न मानोगे तो मैं अभी तुमको तुम्हारे भृत्य, मन्त्री, अनुचर आदि के साथ मार डालूँगा। परशुरामजी क्रोध से नेत्र लाल करके बारम्बार यही कहने लगे। तब मैंने उनके चरणों में सिर रखकर फिर कहा—हे भगवन्! आप मुझसे युद्ध करने के लिए क्यों उद्यत हैं? मैं आपका शिष्य हूँ। बाल्यावस्था में मैंने आपसे धनुर्वेद के चारों अङ्ग सीखे हैं ॥३५।३९॥ क्रोध से नेत्र लाल किये हुए परशुरामजी ने कहा—हे भीष्म! तुम मुझे गुरु मानते हो, किन्तु मेरी बात मानकर मुझे प्रसन्न करना नहीं स्वीकार करते। अम्बा को ग्रहण करने के सिवा मुझे शान्त करने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए इसे ग्रहण करके अपने वंश को विनाश से बचाओ। यह तुम्हारे ही कारण

नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ॥ ४३ ॥
गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम् ।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ॥ ४४ ॥
को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमवस्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन्स्त्रीणां दोषो महात्ययः ॥ ४५ ॥
न भयाद्वासवस्याऽपि धर्मं जह्यां महाव्रत ।
प्रसीद मा वा यद्वा ते कार्यं तत्कुरु मा चिरम् ॥ ४६ ॥
अयं चापि विशुद्धात्मन्पुराणे श्रूयते विभो ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥ ४७ ॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ ४८ ॥
स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद्योत्स्यामि वै त्वया ॥ ४९ ॥
गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ॥ ५० ॥
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात्समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥ ५१ ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।
क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ॥ ५२ ॥

स्वामी के सुख से वञ्चित होकर दुःख भोग रही है ॥४०।४२॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! शत्रुदलदलन परशुरामजी के ये वचन सुनकर मैंने फिर उनसे कहा—हे ब्रह्मन् ! आप व्यर्थ परिश्रम और यत्न क्यों करते हैं ? यह बात किसी तरह नहीं हो सकती । आप मेरे पुराने गुरु है, इसी लिए मैं अनुनय-विनय करके आपको मनाता हूं । हे ब्रह्मन् ! मैं इस कन्या का पहले ही त्याग कर चुका हूं । स्त्रियों का चरित्रदोष घोर अनर्थ का कारण होता है । उस दोष को जान-कर भी कौन पुरुष दूसरे को चाहनेवाली सर्पिणी-तुल्य स्त्री को अपने घर में रक्खेगा ? ॥४३।४५॥ मैं इन्द्र के भय से भी अपने धर्म को नहीं परित्याग कर सकता । अब चाहे आप प्रसन्न होकर अपना हठ छोड़िए, और चाहे अपनी इच्छा के अनुसार और कुछ कीजिए । पुराण में महात्मा मरुत्त का यह कथन प्रसिद्ध है कि जो गुरु कार्य-अकार्य के ज्ञान से शून्य, गर्वित और विपथगामी हो, उसे त्याग देना चाहिए॥४६।४८॥ आप गुरु हैं, इसी से प्रसन्नता-पूर्वक मैंने आपका सम्मान किया; किन्तु आप मुझसे गुरु का सा व्यवहार नहीं करते । इसलिए मैं आपके साथ युद्ध करने को भी तैयार हूं । मैं गुरु, ब्राह्मण, विशेषकर तपोवृद्ध ब्राह्मण को नहीं मारता । इसी कारण आपको क्षमा कर दिया था । किन्तु धर्मशास्त्र में लिखा है कि क्षत्रियधर्म का अनुगामी पुरुष यदि

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ।
नाऽधर्मं समवाप्नोति न चाऽश्रेयश्च विन्दति ॥ ५३ ॥
अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ॥ ५४ ॥
यस्मात्संशयितेऽप्यर्थेऽयथान्यायं प्रवर्तसे ।
तस्माद्योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ॥ ५५ ॥
पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चाऽतिमानुषम् ।
एवङ्गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ॥ ५६ ॥
तत्करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह ।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ॥ ५७ ॥
तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः ।
प्राप्स्यसे निर्जितॉल्लोकाञ्शस्त्रपूतो महारणे ॥ ५८ ॥
स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय ।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ॥ ५९ ॥
अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः ।
तत्राऽहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्ताऽस्मि भार्गव ॥ ६० ॥
तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुवः ॥ ६१ ॥
यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिवत्सरे ।

क्षत्रिय की तरह युद्धभूमि में आये हुए और क्रोध करके बाणवर्षा करते हुए ब्राह्मण को मार डालता है तो उसे ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगता । मैं भी अपने धर्म का पालन करनेवाला क्षत्रिय हूं ॥४९।५२॥ कोई पुरुष अपने साथ जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने से अधर्म या अकल्याण नहीं होता। धर्म और अर्थ के निर्णय में निपुण और देश काल को जाननेवाला पुरुष अर्थ या धर्म के बारे में सन्देह उपस्थित होने पर यदि अर्थसिद्धि का अनुष्ठान न करके धर्म का ही पालन करता है तो वह कल्याण का भागी होता है । इस कारण मैं विवाहरूप अर्थ-सिद्धि के लिए गुरुवाक्य न मानकर प्रतिज्ञारूप धर्म का ही पालन करूंगा । आप संशययुक्त अर्थ के लिए मुझसे न्यायविरुद्ध व्यवहार करते हैं, अर्थात् अनुचित आज्ञा देते हैं, इसलिए मैं आपके साथ युद्ध करूंगा । युद्ध के समय आप मेरा अलौकिक पराक्रम और बाहु-बल देखिएगा । अब आप युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। मैं कुरुक्षेत्र में आपके साथ युद्ध करके अपनी शक्ति के योग्य काम करूंगा ॥५३।५७॥ आप मेरे बाणों से जर्जर होकर प्राणत्याग करेंगे और वीरों के योग्य लोकों में जाकर अपने तप का फल भोगेंगे । हे महाबाहु ! अब मैं जाता हूं, आप भी जाइए । कुरुक्षेत्र के मैदान में फिर भेंट होगी । आपने पहले जिस स्थान पर पिता का दाहकार्य किया था, वहीं

निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥ ६२ ॥
न तदा जातवान्भीष्मः क्षत्रियो वाऽपि मद्विधः ।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥ ६३ ॥
यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत् ।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरञ्जयः ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥ ६४ ॥
भीष्म उवाच—ततो मामब्रवीद्रामः प्रहसन्निव भारत ।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि सङ्गरे ॥ ६५ ॥
अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह ।
भाषितं ते करिष्यामि तत्राऽऽगच्छ परन्तप ॥ ६६ ॥
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम् ।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम् ॥ ६७ ॥
कृपणं त्वामभिप्रेश्य सिद्धचारणसेविता ।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव ॥ ६८ ॥
अतदर्हा महाभागा भगीरथसुताऽनघा ।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम् ॥ ६९ ॥
एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद ।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ ॥ ७० ॥
इति ब्रुवाणं तमहं रामं परपुरञ्जयम् ।

पर आपको मारकर मैं भी क्षत्रियों के विनाश का बदला लूंगा। हे युद्धप्रिय ! आप शीघ्र कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में चलिए। मैं आपका पहले का दर्प दूर करूंगा ॥५८।६१॥ आप इसके लिए सदा घमण्ड किया करते हैं कि आपने अकेले इक्कीस बार क्षत्रिय-कुल का संहार किया है; किन्तु उस समय मेरे समान योद्धा क्षत्रिय कोई नहीं था। तेजस्वी क्षत्रिय पीछे से उत्पन्न हुए हैं, उस समय आप तृणों में प्रज्वलित हुए थे अर्थात् बलहीनों को आपने मारा है। इस समय आपके युद्ध के घमण्ड और युद्ध की इच्छा को मिटानेवाला भीष्म उत्पन्न हो चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं इस समय युद्ध में आपका सारा दर्प चूर्ण कर दूंगा ॥६२।६४॥ पितामह कहते हैं कि तब परशुरामजी ने क्रोध की हंसी हंसकर कहा—बहुत अच्छा ! बड़े भाग्य और प्रसन्नता की बात है कि तुम मुझसे युद्ध करने की इच्छा प्रकट कर रहे हो। मैं तुमसे युद्ध करने के लिए कुरुक्षेत्र के मैदान में चलता हूं, तुम भी शीघ्र वहां आओ। तुम्हारी माता गङ्गा तुम्हें मेरे असंख्य तीक्ष्ण बाणों से मरकर गिद्ध, कौए, बगले आदि का भोजन बनते देखेंगी ॥६५।६७॥ हे क्षत्रिय ! तुम ऐसे मन्दमति, युद्ध की इच्छा रखनेवाले, मरने के लिए उद्यत पुरुष को उत्पन्न करनेवाली गङ्गा देवी सर्वथा रोने के योग्य न होने पर भी तुम्हें मेरे बाणों से पीड़ित और प्राण-हीन देखकर इस समय आंसू

प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाऽब्रुवम् ॥ ७१ ॥
एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया ।
प्रविश्य नगरं चाऽहं सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ ७२ ॥
ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः ।
द्विजातीन्वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ॥ ७३ ॥
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः ।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ ७४ ॥
उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम् ।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ॥ ७५ ॥
युक्तं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा ।
दंशितः पाण्डुरेणाऽहं कवचेन वपुष्मता ॥ ७६ ॥
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम ।
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७७ ॥
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप ।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ॥ ७८ ॥
स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात् ।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ॥ ७९ ॥
ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे ।
अवहन्मां भृशं राजन्मनोमारुतरंहसः ॥ ८० ॥
गत्वाऽहं तत्कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान् ।

चाहोगे। हे युद्ध की इच्छा प्रकट करनेवाले भीष्म! अब तुम जाकर रथ आदि युद्ध की सामग्री के साथ तैयार होकर कुरुक्षेत्र में आओ और मुझसे संग्राम करो। हे दुर्योधन! मैंने उन्हें प्रणाम करके कहा—हे भगवन्! आपकी आज्ञा के अनुसार ही सब काम होगा ॥६८।७१॥ इसके पश्चात् परशुरामजी युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र के मैदान में गये। इधर मैंने हस्तिनापुर में आकर माता से सब हाल कहा, उनसे आज्ञा ली और फिर ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कर्म कराया। इसके पश्चात् मैंने श्वेत चमकीला कवच पहना, धनुष लिया और मैं व्याघ्रचर्म-मण्डित, शस्त्रों से परिपूर्ण, दृढ़, चाँदी से मढ़े हुए रथ पर सवार हुआ। उस रथ में श्वेत बढ़िया घोड़े जोते गये। कुलीन, वीर, अश्वविद्या के ज्ञाता, सुशील और अनेक युद्ध देखे हुए सारथी ने रथ हाँका। भृत्य लोग मेरे सिर पर श्वेत छत्र लगाये हुए थे और श्वेत चवर डुला रहे थे। मैं श्वेत ही वस्त्र पहने और श्वेत ही पगड़ी बाँधे हुए था। ब्राह्मण और वन्दीजन मुझे जय के आशीर्वाद देते हुए मेरी स्तुति कर रहे थे। वेदपाठी ब्राह्मण मेरी यात्रा के समय पुण्याह पाठ करने लगे। इस प्रकार हस्तिनापुर से चलकर मैं कुरुक्षेत्र में पहुँचा। मन और वायु के समान वेग से चलनेवाले घोड़ों ने चतुर

युद्धाय सहसा राजन्पराक्रान्तौ परस्परम् ॥ ८१ ॥
ततः सन्दर्शनेऽतिष्ठं रामस्याऽमितपस्विनः ।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ॥ ८२ ॥
ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः ।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ॥ ८३ ॥
ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः ।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ॥ ८४ ॥
ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्याऽनुयायिनः ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ॥ ८५ ॥
ततो मामब्रवीद्देवी सर्वभूतहितैषिणी ।
माता स्वरूपिणी राजन्किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ८६ ॥
गत्वाऽहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह ।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ॥ ८७ ॥
मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव ।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ॥ ८८ ॥
किं न व क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः ।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्तं योद्धुमिच्छसि ॥ ८९ ॥
ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
सर्वं तद्भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ॥ ९० ॥

सारथी के हांकने पर बहुत शीघ्र मुझे अभीष्ट स्थान पर पहुंचा दिया ॥७२।८०॥ मैं और प्रतापी परशुरामजी दोनों ही इस प्रकार युद्ध का निश्चय करके पवित्र कुरुक्षेत्र के मैदान में अपना-अपना पराक्रम दिखाने के लिए उपस्थित हुए। परशुरामजी के सामने पहुंचकर मैंने अपना श्रेष्ठ शङ्ख बजाया। उस समय वनवासी ऋषि, ब्राह्मण और इन्द्र आदि सब देवता वह श्रेष्ठ युद्ध देखने के लिए घटनास्थल के पास आ गये। आकाश से देवताओं के बरसाये हुए फूल और मालाएं युद्ध-भूमि में गिरने लगीं। देवताओं ने दिव्य नगाड़े बजाये, और बादल गरजने लगे। भार्गव के अनुगामी सब तपोधन ऋषि, दर्शक होकर, युद्ध-भूमि में खड़े हुए ॥८१।८५॥ इसी समय सब प्राणियों की भलाई चाहनेवाली माता गङ्गा प्रकट होकर मेरे सामने आईं और मुझसे कहने लगीं—हे बेटा! तुम यह क्या कर रहे हो! मैं स्वयं परशुराम के पास जाकर बारम्बार प्रार्थना करूंगी कि हे भगवन्! क्षमा कीजिए। भीष्म आपका शिष्य और इसी से पुत्र-तुल्य है, उससे युद्ध न कीजिए। हे पुत्र! तुम ब्राह्मण और गुरु परशुराम से युद्ध करने का हठ न करो। रुद्र के समान अमित पराक्रमी, क्षत्रियकुल के काल, परशुराम को तुम क्या नहीं जानते जो उनसे युद्ध करना चाहते हो? यों कहकर भागीरथी बारम्बार मुझे मना करने लगीं। तब मैंने हाथ जोड़कर उन्हें

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः ।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ॥ ९१ ॥
ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी ।
मदर्थं तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ॥ ९२ ॥
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत् ।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय ।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ॥ ९३ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो गङ्गा सुतस्नेहाद्भीष्मं पुनरुपागमत् ।
न चाऽस्याश्चाऽकरोद्वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ९४ ॥
अथाऽदृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः ।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ॥ ९५ ॥

इति श्रीमन्महा० उद्योग०अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुराम भीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्युत्तरशततमोऽध्यायः

प्रणाम किया और विशेष रूप से स्वयंवर आदि का सब हाल कहकर परशुरामजी की अनुचित आज्ञा और अम्बा के शाल्व पर अनुरक्त होने का वृत्तान्त भी सुना दिया ॥८६।९१॥ सब बातें सुनकर गङ्गा माता परशुरामजी के पास गईं और उन्हें प्रसन्न तथा शान्त करने के अभिप्राय से कहने लगीं–हे भगवन्! भीष्म आपका शिष्य है, उससे युद्ध मत कीजिए। परशुरामजी ने कहा—भगवती भागीरथी! भीष्म मेरा कहा नहीं करते, इसलिए मैं उनसे युद्ध करने आया हूँ। आप उन्हीं को युद्ध करने से रोकिए ॥९२।९३॥ वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! तब पुत्रस्नेह के कारण गङ्गा फिर भीष्म के पास आईं और बोलीं—हे बेटा! मेरा कहा मानो, युद्ध मत करो; किन्तु क्रोध से विह्वल भीष्म ने उनका कहा नहीं माना। इतने में महातपस्वी भार्गव ने भीष्म के सामने आकर उन्हें युद्ध के लिए ललकारा ॥९४।९५॥

उद्योगपर्व का एक सौ अठहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७८ ॥

अथ ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

भीष्म उवाच—तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ॥ १ ॥
आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज ।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ॥ २ ॥
ततो मामब्रवीद्रामः स्मयमानो रणाजिरे ।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ॥ ३ ॥

एक सौ उन्नासी अध्याय ॥ १७९ ॥

भीष्मजी कहते हैं कि हे दुर्योधन! फिर मैंने युद्ध के लिए उद्यत परशुरामजी से मुसकाकर कहा—हे भगवन्! आप पृथ्वी पर खड़े हैं और मैं रथ पर बैठा हूं। इस तरह आपसे युद्ध करना अनुचित समझकर मैं नहीं युद्ध करूंगा। जो आप मुझसे युद्ध करना चाहते हैं तो कवच धारण कीजिए और

सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः ।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ॥ ४ ॥
एवंब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः ।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ॥ ५ ॥
ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम् ।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ॥ ६ ॥
मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे ।
दिव्याश्वयुजि सन्नद्धे काञ्चनेन विभूषिते ॥ ७ ॥
कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा ।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधांगुलित्रवान् ॥ ८ ॥
सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः ।
सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ॥ ९ ॥
आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे ।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ॥ १० ॥
तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम् ।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ॥ ११ ॥
ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान्निगृह्य वै ।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन्द्विजसत्तमम् ।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

रथ पर बैठिए । परशुरामजी ने हंसकर मुझसे कहा – हे भीष्म ! पृथ्वी ही मेरा रथ है । चारों वेद घोड़े, वायु सारथी और वेदमाता त्रिमूर्त्ति गायत्री कवच हैं । इन्हीं से सुरक्षित होकर मैं तुमसे युद्ध करूंगा ॥१।४॥ हे दुर्योधन ! इतना कहकर भगवान् परशुराम बाण बरसाने लगे । इसके पश्चात् मैंने देखा कि वे इच्छामात्र से कल्पित दिव्य रथ पर बैठे हुए हैं । उस रथ में दिव्य घोड़े लगे हुए थे । वह रथ एक नगर के समान विस्तृत, अद्भुत, दर्शनीय, सब शस्त्रों से परिपूर्ण और प्रकाशमान था । भगवान् परशुराम के शरीर पर सुवर्णमय और चन्द्रमा सूर्य के चिह्नों से शोभित दृढ़ कवच भी देख पड़ा । धनुष धारण किये, तरकस बांधे, गोह के चमड़े के अंगुलि-त्राण पहने परशुरामजी को रथ पर देखकर मुझे आश्चर्य सा हुआ । उनके रथ को वेदज्ञ, प्रिय सखा अकृतव्रण हांक रहे थे । परशुरामजी क्रोध के साथ बारम्बार युद्ध के लिए मुझे ललकारने लगे । मैं भी बड़ी प्रसन्नता और उत्साह के साथ अकेला ही उन महाबली, पराक्रमी, सूर्य-सदृश तेजस्वी, क्षत्रियों के काल परशुरामजी के सामने पहुँचा ॥५।११॥ फिर मैंने उनके रथ के घोड़ों को तीन बाणों से पीड़ित करने के उपरान्त धनुष रखकर, रथ से उतरकर, गुरु-सम्मान के लिए पैदल ही परशुरामजी

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाऽधिकेन वा ।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ॥ १४ ॥

राम उवाच—एवमेतत्कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ॥ १५ ॥
शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते ।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ॥ १६ ॥
न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ॥ १७ ॥
ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः ।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ॥ १८ ॥
ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत ।
दिवसान्सुबहून्राजन्परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥
स मे तस्मिन्रणे पूर्वं प्राहरत्कङ्कपत्रिभिः ।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ॥ २० ॥
चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशांपते ।
प्रतिरुद्धास्तथैवाऽहं समरे दंशितः स्थितः ॥ २१ ॥
नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ॥ २२ ॥
आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि ।

के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। यथोचित सत्कार करके मैंने परशुरामजी से कहा—हे भगवन्! आप मेरे समान या मुझसे अधिक पराक्रमी हैं, यह जानकर मैं आपसे युद्ध करूँगा। हे गुरुवर! मुझे जय का आशीर्वाद दीजिए। ॥१२।१४॥ परशुरामजी ने कहा—हे बेटा! जय और अभ्युदय चाहनेवाले पुरुष को सदा ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए। जो लोग अपने से बड़े या श्रेष्ठ पुरुष से युद्ध करना चाहें उनका यही धर्म है। तुम यदि युद्ध के पहले इस तरह मेरे पास आकर शिष्टाचार का पालन न करते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। अब जाओ, यत्न और धैर्य के साथ युद्ध में प्रवृत्त होओ। किन्तु मैं तुम्हें जय का आशीर्वाद नहीं दे सकता, क्योंकि तुम्हें जीतने के लिए ही यह युद्ध कर रहा हूँ। तुम्हारे इस आचरण से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। जाओ, धर्म के अनुसार युद्ध करो॥१५। १७॥ तब मैं उन्हें प्रणाम करके, फिर अपने रथ पर सवार होकर, शङ्ख बजाने लगा। इसके पश्चात् परस्पर जय की इच्छा रखनेवाले हम दोनों का वह बहुत दिन तक चलनेवाला युद्ध छिड़ गया। पहले परशुरामजी ने नव सौ साठ तीक्ष्ण और तिरछी धारवाले बाणों से मुझे घायल किया। मेरे रथ के घोड़े और सारथी भी उनके बाणों से घायल होकर अपना काम करने में असमर्थ से हो गये। पर मैं सावधान ही रहा ॥१८।२१॥ मैंने देवताओं और ब्राह्मणों को

भूयश्च श्रृणु मे ब्रह्मन्सम्पदं धर्मसंग्रहे ॥ २३ ॥
ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत् ।
तपश्च ते महत्तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ॥ २४ ॥
प्रहारे क्षत्रधर्मस्य यं त्वं राम समाश्रितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ॥ २५ ॥
पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम ।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ॥ २६ ॥
तस्याऽहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ ।
तेनाऽस्य धनुषः कोटिं छित्वा भूमावपातयम् ॥ २७ ॥
तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ॥ २८ ॥
काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः ।
चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ॥ २९ ॥
क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन्स रुधिरं रणे ।
बभौ रामस्तदा राजन्मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ॥ ३० ॥
हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तवकमण्डितः ।
बभौ रामस्तथा राजन्प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ ३१ ॥
ततोऽन्यद्धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः ।
हेमपुङ्खान्सुनिशिताञ्शरांस्तान्हि ववर्ष सः ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः ।

प्रणाम करके परशुरामजी से कहा—हे भगवन् ! आपने यद्यपि गुरु की मर्यादा छोड़ दी है, तो भी मैं आपको आचार्य मानता हूँ । मैं इस समय धर्म के अनुसार जो कहता हूं, वह सुनिए ॥२२।२३॥ मैं आपके शरीर में स्थित वेद, ब्रह्मतेज और आपकी की हुई तपस्या पर नहीं प्रहार करता । शस्त्र धारण करने से ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हो जाता है । मैं आपके उसी क्षत्रिय भाव पर चोट करता हूं। अब आप मेरे धनुष का पराक्रम और बाहुओं का बल देखिए । मैं अभी आपका धनुष काटे डालता हूं ॥२४।२६॥ हे दुर्योधन ! इतना कहकर मैंने तुरन्त एक तीक्ष्ण भल्ल बाण से उनका धनुष काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया । फिर मैं सम्मुख युद्ध में कङ्कपत्र युक्त तीक्ष्ण सैकड़ों बाण छोड़ने लगा । वायुवेग से जाते हुए वे बाण उनके शरीर में घुसकर सर्पों की तरह रक्त पीते हुए देख पड़ने लगे ॥२७।२९॥ परशुरामजी के शरीर से रक्त की धाराएं बह निकलीं; और वे उस सुमेरु पर्वत की तरह जान पड़ने लगे जिससे गेरू की धारा बह रही हो ॥३०॥ लाल फूलों के गुच्छों से शोभित अशोक या फूले हुए ढाक के पेड़ की तरह अटल भाव से खड़े हुए भार्गव ने क्रोधित होकर दूसरा धनुष लिया और वे सुवर्ण-पुङ्ख-युक्त तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने

अकम्पयन्महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ॥ ३३ ॥
तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे ।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ॥ ३४ ॥
स तैरग्न्यर्कसङ्काशैः शरैराशीविषोपमैः ।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाऽभवत् ॥ ३५ ॥
ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्याऽऽत्मानमात्मना।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ॥ ३६ ॥
असकृच्चाऽब्रुवं राजञ्शोकवेगपरिप्लुतः ।
अहो बत कृतं पापं मयेदं क्षत्रधर्मणा ॥ ३७ ॥
गुरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः ।
ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ॥ ३८ ॥
अथाऽवताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये ।
जगामाऽस्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ॥ ३९ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७९॥

लगे । सर्प और अग्नि की तरह वेग से दौड़कर मर्मस्थल पर चोट करनेवाले उन बाणों के लगने से मैं बहुत ही विचलित हो उठा ॥३१।३३॥ फिर अपने को किसी तरह संभालकर मैंने क्रोध करके सौ बाण उनको मारे । उन सूर्य, सर्प और अग्नि के समान बाणों की चोट से वे अचेत से हो गये ॥३४।३५॥ हे भरतकुलतिलक! तब मेरा क्रोध दूर हो गया और मैं करुणा और शोक से व्याकुल होकर कहने लगा कि युद्ध और क्षत्रिय धर्म को धिक्कार है ! क्षत्रियधर्म से विवश होकर मैंने धर्मात्मा ब्राह्मण गुरु को बाणों से पीड़ा पहुंचाकर घोर पाप किया है । शोक से व्याकुल होकर मैं इसी तरह बारम्बार विलाप करने लगा। उसके पश्चात् फिर मैंने परशुरामजी पर प्रहार नहीं किया । इसी समय भगवान् सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से पृथ्वीमण्डल को तपाकर अस्ताचल को चले गये ॥३६।३९॥

उद्योगपर्व का एक सौ उन्नासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१७९॥

अथ अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८०॥

भीष्म उवाच—आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते ।
मम चाऽपनयामास शल्यान्कुशलसम्मतः ॥ १ ॥
स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः ।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥
दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम् ।

एक सौ अस्सी अध्याय ॥ १८० ॥

भीष्मजी कहते हैं— फिर निपुण सारथी ने अपने, मेरे और घोड़ों के घाव अच्छे किये। दूसरे दिन सूर्योदय के समय, जब घोडे सुस्ताकर नहलाये गये और वे जल पी चुके तब फिर युद्ध होने लगा । प्रतापी भार्गव ने

अकरोद्रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान् ॥ ३ ॥
ततोऽहं राममायन्तं दृष्ट्वा समरकांक्षिणम् ।
धनुःश्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसाऽवतरं रथात् ॥ ४ ॥
अभिवाद्य तथैवाऽहं रथमारुह्य भारत ।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः ॥ ५ ॥
ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत् ॥ ६ ॥
संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान् ।
सम्प्रैषीन्मे शरान्घोरान्दीप्तास्यानुरगानिव ॥ ७ ॥
ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः ॥ ८ ॥
ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम् ॥ ९ ॥
अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम् ।
ततो दिवि महान्नादः प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ १० ॥
ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान् ।
प्रत्याजघ्ने च तद्रामो गुह्यकास्त्रेण भारत ॥ ११ ॥
ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान् ।
वारुणेनैव तद्रामो वारयामास मे विभुः ॥ १२ ॥
एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याऽहमवारयम् ।
रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिन्दमः ॥ १३ ॥

मुझे कवच धारण कर और रथ पर बैठकर आते देखते ही अपना भी रथ युद्ध के लिए तैयार किया ॥१।२॥ उन्हें युद्ध की अभिलाषा से आते देखकर फिर मैं धनुष रखकर, रथ से उतरकर, उनके पास प्रणाम करने गया। प्रणाम के उपरान्त रथ पर बैठकर निर्भय भाव से युद्ध करने के लिए मैं उनके सामने पहुंचा। मैंने बाण बरसाना प्रारम्भ कर दिया और वे भी बाणवर्षा करने लगे ॥४।६॥ वे क्रोध से विह्वल होकर लगातार मेरे ऊपर विषैले सर्पों के समान भयङ्कर बाण छोड़ने लगे। मैं भी तीक्ष्ण भल्लबाणों से आकाश में ही बारम्बार उनके बाणों को काटकर गिराने लगा। परशुरामजी ने मुझ पर जितने दिव्य अस्त्र चलाये, उन्हें मैंने अपने दिव्य अस्त्रों से व्यर्थ कर दिया। इस घटना से आकाशमार्ग में भयानक शब्द प्रतिध्वनित होने लगा ॥७।१०॥ इसके पश्चात् उनके ऊपर मैंने वायव्य अस्त्र चढ़ाया; उन्होंने गुह्यकास्त्र से उस अस्त्र को निष्फल कर दिया। फिर मैंने मन्त्र पढ़कर आग्नेय अस्त्र छोड़ा; उन्होंने वारुणास्त्र से उसे निष्फल कर दिया। इसी प्रकार हम दोनों वीर एक दूसरे के बाणों और अस्त्रों को नष्ट करने लगे।

ततो मां सव्यतो राजन्रामः कुर्वन्द्विजोत्तमः ।
उरस्यविध्यत्संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ १४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे ।
ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत् ॥ १५ ॥
ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम् ।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम् ॥ १६ ॥
रामस्याऽनुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत ॥ १७ ॥
ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाऽब्रुवम् ।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः ॥ १८ ॥
ततो मामवहत्सूतो हयैः परमशोभितैः ।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ ॥ १९ ॥
ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव ।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया ॥ २० ॥
तानापतत एवाऽसौ रामो बाणानजिह्मगान् ।
बाणैरेवाऽच्छिनत्तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे ॥ २१ ॥
ततस्ते सूदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः ।
रामबाणैर्द्विधा च्छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥
ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम् ।
अस्रृजं जामदग्न्याय रामायाऽहं जिघांसया ॥ २३ ॥
तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः ।

फिर उन्होंने मेरी बाईं ओर आकर मेरी छाती में कई बाण मारे। मैं शिथिल और मूर्च्छित सा होकर रथ के सहारे टिक रहा। सारथी मुझे मूर्च्छित देख कर शीघ्र रथ को लौटा ले गया ॥१४।१५॥ मुझे बाणों से घायल, मूर्च्छित और युद्ध से विमुख देख कर काशिराज की कन्या अम्बा और अकृतव्रण आदि परशुरामजी के अनुचर प्रसन्न होकर चिल्लाने लगे। जब मुझे चेतना प्राप्त हुई तब मैंने सारथी से कहा– हे सूत! मेरी पीड़ा दूर हो गई, मैं युद्ध करने के लिए तैयार हूँ, इसलिए मुझे फिर परशुरामजी के समीप ले चलो। तब सारथी वायु के समान चलने-वाले सुन्दर घोड़ों को हांककर युद्धभूमि की ओर ले चला। घोड़े भी मानों नाचते हुए उधर चले। ॥१६।१९॥ मेरा रथ जब परशुरामजी के पास पहुंचा तब फिर मैं क्रोधित होकर, जय की इच्छा से, उनके ऊपर घोर बाणवर्षा करने लगा। उन्होंने एक साथ तीन-तीन बाण चलाकर मेरे [illegible] एक बाण के तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥२०।२२॥ फिर मैंने उन्हें मारने की इच्छा से एक काल-सदृश अत्यन्त प्रज्वलित बाण उनके ऊपर चलाया। वह बाण प्रबल वेग से

मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह ॥ २४ ॥
ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते ।
जगद्भारत संविग्नं यथाऽर्कपतने भवेत् ॥ २५ ॥
तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाऽभिदुद्रुवुः ।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन ॥ २६ ॥
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा ।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव ॥ २७ ॥
ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाऽब्रवीत् ।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं सन्धाय कार्मुके ॥ २८ ॥
स मुक्तो न्यपतत्तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे ।
येनाऽहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः ॥ २९ ॥
हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे ।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः ॥ ३० ॥
ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम् ।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराऽधिष्ठिताः शराः ॥ ३१ ॥
रामस्य मम चैवाऽऽशु व्योमाऽऽवृत्य समन्ततः ।
न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः ॥ ३२ ॥
मातरिश्वा ततस्तस्मिन्मेघरुद्ध इवाऽभवत् ।
ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः ॥ ३३ ॥
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत ।

उनकी छाती में धँस गया और वे भी मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥२३।२४॥ सूर्य के अस्त होने से जैसे सारा जगत् व्याकुल हो उठता है वैसे ही परशुरामजी के गिरने से चारों ओर हाहाकार मच गया। उन्हें मूर्च्छित देखकर काशिराज की कन्या और सब तपस्वी व्याकुल होकर उनके पास गये। वे लोग उन्हें हृदय से लगाकर शीतल हाथ फेरने और जय के आशीर्वादों से उन्हें आश्वास देने लगे ॥२५।२७॥ इतने में परशुरामजी को चेतना प्राप्त हुई और वे उठ बैठे। उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ाकर क्रोध से विह्वल स्वर में कहा-हे भीष्म! ठहर जाओ, तुमको मैं मारता हूं। अब उन्होंने बाण चलाया और वह मेरे शरीर के वामभाग में लगा। मैं आंधी से उखड़े पेड़ की तरह चक्कर खाकर बहुत ही व्याकुल हो गया। इसके पश्चात् परशुरामजी मेरे घोड़ों को मार कर मेरे रोम-रोम में बाण मारते हुए मुझे घायल करने लगे ॥२८।३०॥ मैंने भी फुर्ती के साथ बाण चलाकर उनके सब बाणों को आकाश में ही रोक दिया। हम दोनों के बाण बीच के अवकाश में छा गये। बाणों के जाल में सूर्य छिप गये। बादलों की आड़ में वायु मानों रुक गई। इसके पश्चात् सूर्य की किरणों और बाणों के टकराने से तथा वायु के वेग से अग्नि

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना ॥ ३४ ॥
भूमौ सर्वे तदा राजन्भस्मभूताः प्रपेदिरे ।
तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ ३५ ॥
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव ।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत् ॥ ३६ ॥
ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः ।
सञ्छिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव ॥ ३७ ॥
एवं तदभवद्युद्धं तदा भरतसत्तम ।
सन्ध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात्स च मे गुरुः ॥ ३८ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८०॥

उत्पन्न हो गई ॥३१।३४॥ वे सब बाण उसी अग्नि में जल गये। अब परशुरामजी ने अत्यन्त क्रोध करके लाखों, करोड़ों, अयुतों और खर्बों बाण छोड़े। मैं भी सर्प-सदृश बाणों के प्रहार से उन्हें काट-काट कर गिराने लगा। उन कटे हुए बाणों का, पर्वत की तरह, पृथ्वी पर ढेर लग गया। हे दुर्योधन! इसी तरह हम दोनों का घोर युद्ध होने लगा। फिर सन्ध्या का समय उपस्थित होने पर गुरु और शिष्य दोनों ने युद्ध रोक दिया ॥३५।३८॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ अस्सी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८०॥

अथ एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८१॥

भीष्म उवाच—समागतस्य रामेण पुनरेवाऽतिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ॥ १ ॥
ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत्स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ॥ २ ॥
तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥ ३ ॥
अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ॥ ४ ॥

एक सौ इक्यासी अध्याय ॥ १८१ ॥

भीष्मजी कहते हैं— उसके दूसरे दिन प्रातः काल फिर मैं परशुरामजी के सामने जाकर उनसे युद्ध करने लगा। दिव्य अस्त्रों को जाननेवाले महावीर परशुराम प्रति दिन अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। मैं भी प्राणों का मोह छोड़कर उनसे युद्ध करने और अपने दिव्य अस्त्रों से उनके अस्त्रों को व्यर्थ करने लगा। प्राणों की ममता छोड़कर युद्ध करनेवाले महातेजस्वी परशुरामजी अपने अस्त्रों को मेरे अस्त्रों से व्यर्थ होते देखकर क्रोध से विह्वल हो उठे ॥१।४॥ महात्मा परशुराम ने तब एक घोर,

ततः शक्तिं प्राहिणोद्घोररूपामस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां सन्दीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ॥ ५ ॥
ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ॥ ६ ॥
तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशाऽन्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ॥ ७ ॥
किन्त्वेवाऽहं विह्वलः सम्प्रदृश्य दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाऽग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ॥ ८ ॥
ततो जालं बाणमयं विवृत्तं सन्दृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून्प्राहिणवं रणेऽहं ततः शक्तीरप्यधमं घोररूपाः ॥ ९ ॥
ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ॥ १० ॥
ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा खड्गेनाऽऽजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।
बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ॥ ११ ॥
निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ॥ १२ ॥
ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः ।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं हयान्सूतं सरथं चैव मह्यम् ॥ १३ ॥

कालरूपिणी, प्रज्वलित उल्का के समान शक्ति मुझ पर चलाई। अपने तेज से जगत् को प्रकाशित कर रही वह, प्रलयकाल के सूर्य के समान, शक्ति मेरी ओर तीव्र वेग से चली। मैंने भी अपने तीक्ष्ण बाण चलाकर उसके तीन टुकड़े कर डाले। इससे कटकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। उस समय पवित्र सुगन्धित वायु चलने लगी ॥५। ६॥ क्रोधित परशुरामजी ने उस शक्ति को व्यर्थ होते देखकर और बारह भयङ्कर शक्तियां मेरे ऊपर चलाईं। तेजस्विता और शीघ्रता से युक्त होने के कारण उन शक्तियों की ओर नेत्र उठाकर देखना भी असम्भव था। मैंने देखा कि प्रलय के लिए उदय हुए बारह सूर्यों के समान तेज की राशि, अनेक रूपवाली, वे बारहों शक्तिया अग्निशिखा की तरह चारों ओर से आ रही हैं। यह देखकर मैं बहुत ही व्याकुल हो गया ॥७।८॥ हे दुर्योधन ! मैंने अपने बाणों से परशुरामजी के अन्य अस्त्रों को नष्ट करने के साथ ही बारह बाणों से उन शक्तियों को भी व्यर्थ कर दिया। यह देखकर महात्मा परशुरामजी ने बहुत ही आश्चर्य और कोप करके सुवर्णदण्डयुक्त, काञ्चनपट्टमण्डित, उल्का के समान प्रज्वलित, घोर रूपवाली और अनेक शक्तियां चलाईं। हे नरेन्द्र ! मैंने ढाल पर उन्हें रोका और खड्ग से काट डाला। वे शक्तियां कटकर, व्यर्थ होकर, युद्धभूमि में गिर पड़ीं। मैं फिर अपने दिव्य अस्त्रयुक्त बाणों से भार्गव के सारथी और घोड़ों को घायल करने लगा ॥९।११॥ हैहयवंश के श्रेष्ठ राजा सहस्रबाहु अर्जुन को मारनेवाले महात्मा परशुराम, केंचुल छोड़े हुए सर्पों की तरह, उन सुवर्णभूषित शक्तियों को कटकर गिरते देख क्रोध के मारे आपे

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन् ।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे तथैवाऽक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ॥ १४ ॥
ततस्तस्मिन्बाणवर्षे व्यतीते शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम् ।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशिर्देहादसक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ॥ १५ ॥
यथा रामो बाणजालाभितप्तस्तथैवाऽहं सुभृशं गाढविद्धः ।
ततो युद्धं व्यरमच्चाऽपराह्णे भानावस्तं प्रतियाते महीध्रम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

से बाहर हो गये और लगातार दिव्य अस्त्रों से युक्त बाण बरसाने लगे । टीड़ीदल की तरह चले आ रहे वे बाण मेरे शरीर, सारथी, रथ और घोड़ों के ऊपर छा गये । उन बाणों से मेरे रथ का धुरा और अन्य अङ्ग कट गये ॥१२।१४॥ तब मैं भी उनके ऊपर बाण बरसाकर उन्हें घोर रूप से घायल करने लगा। उनके शरीर से रक्त की धाराएँ बह चलीं । मेरे बाणों से जैसे वे घायल और पीड़ित हो रहे थे, वैसे ही उनके बाणों से मैं भी विह्वल हो रहा था । इसी तरह युद्ध होते-होते सूर्य अस्त हो चले और हमारा युद्ध भी बन्द हो गया ॥१५।१६॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ इक्यासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८१ ॥

अथ द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

भीष्म उवाच—ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते ।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ १ ॥
ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन्रामः प्रहरतां वरः ।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाऽचले ॥ २ ॥
ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः ।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ॥ ३ ॥
ततः सूतो ममाऽत्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत् ।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ॥ ४ ॥
ततः सूतोऽजहारप्राणान्रामबाणप्रपीडितः ।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत्तदा ॥ ५ ॥
ततः सूते हते तस्मिन्क्षिपतस्तस्य मे शरान् ।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ॥ ६ ॥

एक सौ बयासी अध्याय ॥ १८२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दूसरे दिन, सूर्य के निकलने पर फिर मैं परशुरामजी से युद्ध करने लगा। वे रथ पर चढ़कर, पर्वत के शिखर पर स्थित मेघ की तरह मेरे ऊपर असंख्य बाण बरसाने लगे । मेरा प्रिय सारथी बाणों से पीड़ित होकर रथ के ऊपर से गिर पड़ा और दम भर में मर गया । यह देखकर मैं बहुत

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः ।
शरेणाऽभ्यहनद्गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ॥ ७ ॥
स मे भुजान्तरे राजन्निपत्य रुधिराशनः ।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ॥ ८ ॥
मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ ।
मेघवद्विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ॥ ९ ॥
तथा तु पतिते राजन्मयि रामो मुदा युतः
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ॥ १० ॥
मम तत्राऽभवन्ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः ।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः ।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ॥ ११ ॥
ततोऽपश्यं पतितो राजसिंह द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान् ।
ते मां समन्तात्परिवार्य तस्थुः स्वबाहुभिः परिधार्याऽऽजिमध्ये ॥१२॥
रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाऽहं भूमिमुपास्पृशम् ।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ॥ १३ ॥
श्वसन्निवाऽन्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः ।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन्परिगृह्य माम् ॥ १४ ॥
मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चाऽसकृत्।
ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः ।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ॥ १५ ॥
हयाश्च मे संगृहीतास्तयाऽऽसन्महानद्या संयति कौरवेन्द्र ।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाऽहं तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ॥ १६ ॥

ही व्याकुल और भयभीत हुआ ॥१५॥ सारथी के मारे जाने पर परशुरामजी अपने वेगशाली तीक्ष्ण बाण मुझ पर बरसाने लगे । वे बाण मेरे हृदय में घुस गये और मैं वेदना से पीड़ित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा । मुझे मरा समझकर परशुरामजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बारम्बार मेघ की तरह गरजने लगे । उनके साथी ऋषि आदि भी सिंहनाद के साथ अपना आनन्द प्रकट करने लगे ॥६।१०॥ मेरे निकट खड़े हुए कुरुवंशी तथा आये हुए अन्य दर्शक लोग मुझे पृथ्वी पर गिरा देखकर अत्यन्त व्याकुल हुए । इसके पश्चात् अग्नि के समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण मुझे देख पड़े । मैंने देखा, उन्होंने मुझे चारों ओर से घेरकर अपनी भुजाओं के बीच में ले लिया । इस तरह आकाश-मार्ग में मुझे लेकर शीतल जल छिड़क-कर वे मेरी रक्षा करने लगे । आकाशमार्ग में स्थित होकर मैंने एक सांस ली ॥११।१४॥ तब उन ब्राह्मणों ने कहा—हे भीष्म ! तुम्हें कुछ भय नहीं है । तुम कल्याण और विजय प्राप्त करोगे । हे राजेन्द्र ! उनके

रक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च ।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ॥ १७ ॥
ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान्वातरंहसः ।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ॥ १८ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम् ।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ॥ १९ ॥
ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः ।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ॥ २० ॥
ततस्तस्मिन्निपतिते रामे भूरिसहस्रदे ।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ॥ २१ ॥
उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः ।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ॥ २२ ॥
ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा ।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ॥ २३ ॥
दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत् ।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २४ ॥
एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद्भयङ्करम् ।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ॥ २५ ॥
ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत ।

इन वचनों को सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। मैंने उठकर देखा कि माता गङ्गा मेरे रथ पर खड़ी हुई हैं। वे मेरे लिये और घोड़े ले आई थीं। मैं माता के चरणों में प्रणाम करके ब्राह्मणरूपधारी पितरों (वसु देवताओं) के लाये हुए रथ पर सवार हुआ। घोड़े, रथ और अन्य युद्ध-सामग्री-सहित मेरी रक्षा गङ्गाजी करने लगीं। तब हाथ जोड़कर मैंने उनको विदा कर दिया। दिवस अस्त होनेवाला था। उस समय मैं आप ही सारथी का भी काम करता हुआ भार्गव से युद्ध करने लगा ॥१५।१८॥ मैंने एक बहुत ही प्रबल, वेगशाली, हृदयभेदी बाण परशुरामजी के हृदय को ताक कर मारा। वह बाण लगने से परशुरामजी ऐसे पीड़ित हुए कि उनके हाथ से धनुष गिर पड़ा और वे घुटनों के बल पृथ्वी पर गिरकर अचेत हो गये ॥१९।२०॥ उस समय आकाश से उल्कापात होने लगे। बिजलियां चमकने लगीं। आकाश में प्रचण्ड शब्द सुन पड़ने लगा। मेघों से रक्त बरसने लगा। सूर्य को एकाएक राहु ने ग्रस लिया। बारम्बार भूकम्प होने लगे। प्रबल आंधी उठती देख पड़ने लगी। गिद्ध, बगले, कङ्क आदि मांसभोजी पक्षी प्रसन्न होकर इधर-उधर दौड़ते और उड़ते दिखाई पड़ने लगे। दिग्दाह दिखाई पड़ा और सियारों के दल चिल्लाहट मचाने लगे। बिना बजाये ही नगाड़े कठोर शब्द से बज उठे ॥२१।२४॥ हे सौम्य ! परशुरामजी के

पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्छितः ॥ २६ ॥
आददानो महाबाहुः कार्मुकं बलसन्निभम् ।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन् ॥ २७ ॥
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः ।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम् ॥ २८ ॥
ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो जगामाऽस्तं पांसुपुञ्जावगूढः ।
निशा व्यगाहत्सुखशीतमारुता ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः ॥ २९ ॥
एवं राजन्नवहारो बभूव ततः पुनर्विमलेऽभूत्सुघोरम् ।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि तथैव चाऽन्यानि दिनानि त्रीणि ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८२॥

मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरने से इस तरह के सैकड़ों अशुभ उत्पात देख पड़े। कुछ समय के पश्चात् परशुरामजी सावधान हुए; वे एकाएक उठ खड़े हुए। युद्ध की इच्छा से क्रोधित परशुरामजी फिर मेरे सामने आये। उनको मुझसे युद्ध करने के लिए फिर महाधनुष चढ़ाते देखकर दयालु ऋषियों ने उनके पास जाकर मना किया कि अब युद्ध न करो। सन्ध्या भी हो आई थी, इसलिए क्रोधविह्वल होने पर भी परशुरामजी ने उन ऋषियों का कहना मानकर कालाग्नितुल्य बाण धनुष से उतार लिया ॥२५।२८॥ आकाश में धूल छा रही थी, सूर्य भी अपनी किरणें समेटकर अस्ताचल पर पहुंच गये थे। शान्ति देनेवाली रात्रि आ गई; सुखदायक शीतल वायु चलने लगी। हम लोगों ने युद्ध बन्द कर दिया। इसी तरह हम दोनों तेईस दिन तक युद्ध करते रहे। प्रातःकाल युद्ध आरम्भ होजाता था और सन्ध्या को बन्द हो जाता था ॥२९।३०॥

उद्योगपर्व का एक सौ बयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८२॥

अथ त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८३॥

भीष्म उवाच—ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा ।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः ॥ १ ॥
नक्तञ्चराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते ।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम् ॥ २ ॥
जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम् ।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम् ॥ ३ ॥
न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि ।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम् ॥ ४ ॥

एक सौ तिरासी अध्याय ॥१८३॥

भीष्मजी कहते हैं—एक रात्रि को ब्राह्मणों, देवताओं, क्षत्रियों, राक्षसों, भूतों और पितरों आदि को प्रणाम करने के पश्चात् एकान्त में बैठकर मैं सोचने लगा कि परशुरामजी से युद्ध करते बहुत दिन

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम ॥ ५ ॥
ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः ।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा ॥ ६ ॥
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात् ।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः ॥ ७ ॥
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै ।
परिवार्याऽब्रुवन्वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह ॥ ८ ॥
उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किञ्चन ।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान् ॥ ९ ॥
न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथञ्चन ।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ ॥ १० ॥
इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान् ।
विदितं हि तवाऽप्येतत्पूर्वस्मिन्देहधारणे ॥ ११ ॥
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत ।
नहीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान्कचित् ॥ १२ ॥
तत्स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च ।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवाऽनघ ॥ १३ ॥
येन सर्वान्महावीर्यान्प्रशासिष्यसि कौरव ।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनाऽस्त्रेण नराधिप ॥ १४ ॥
एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद ।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः ॥ १५ ॥

हो गये, किन्तु किसी तरह मैं उन्हें परास्त नहीं कर सका। यदि मैं उन्हें परास्त कर सकता हूँ तो प्रसन्न होकर देवता लोग मुझे स्वप्न में दर्शन दें ॥१।५॥ यों सोचकर मैं दाहनी करवट से सो रहा। अचेत होकर रथ से गिरने के समय मुझे उठाने, पकड़ने, बचाने और अभयदान करनेवाले वे आठों ब्राह्मण स्वप्न में मुझे देख पड़े। चारों ओर से मुझे घेरकर वे कहने लगे—हे भीष्म! तुम हमारा अवतार हो, इसलिए हम सदा तुम्हारी रक्षा किया करते हैं। परशुराम कभी तुम्हें हरा नहीं सकेंगे, तुम्हीं उन्हें परास्त करोगे। तुम्हें कुछ भय नहीं है—उठो ॥६।१०॥ पहले जन्म में तुम यह, विश्वकर्ता प्रजापति का, प्रस्वाप अस्त्र जानते थे। इस समय वही अस्त्र अपने आप तुम्हें ज्ञात हो जायगा ॥११।१२॥ पृथ्वी पर परशुराम या और कोई मनुष्य उस अस्त्र को नहीं जानता। उसका स्मरण और प्रयोग करने से वह आप ही तुम्हारे पास आ जायगा। उस अस्त्र के बल से तुम परशुराम को जीतोगे और अन्य महावीर अजेय पुरुषों को भी

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि ।
अस्त्रेण दयितेनाऽऽजौ भीष्म सम्बोधनेन वै ॥ १६ ॥
एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः ।
प्रसुप्तं वा मृतं वेति तुल्यं मन्यामहे वयम् ॥ १७ ॥
न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव ।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिता राजन्सर्व एव द्विजोत्तमाः ।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भास्वरमूर्तयः ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः१८३

परास्त कर सकोगे। उस अस्त्र से परशुराम का प्राणान्त नहीं होगा और तुम पाप से बच जाओगे। परशुराम तुम्हारे अस्त्र के प्रभाव से पीड़ित होकर युद्ध-भूमि में सो जायँगे ॥१३।१५॥ इस प्रकार उन्हें जीतकर फिर सम्बोधन अस्त्र से जगा देना। आज ही प्रातःकाल रथ पर बैठकर तुम परशुराम पर प्रस्वाप अस्त्र का प्रयोग करना। सोने की और मरने की दशा एक सी होती है। इस प्रकार तुम्हारा प्रयोजन भी सिद्ध हो जायगा और परशुराम की मृत्यु भी नहीं होगी। परशुराम किसी के मारे मर नहीं सकते, इस कारण विजयप्राप्ति के लिए तुम प्रस्वाप अस्त्र का प्रयोग करो। हे दुर्योधन! एक ही प्रकार के रूपवाले वे तेजस्वी आठों ब्राह्मण यह कहकर अन्तर्द्धान हो गये ॥१६।१९॥

उद्योगपर्व का एक सौ तिरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८३ ॥

अथ चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

भीष्म उवाच—ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत ।
ततः सञ्चिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम् ॥ १ ॥
ततः समभवद्युद्धं मम तस्य च भारत ।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम् ॥ २ ॥
ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः ।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत ॥ ३ ॥
ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः ।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि ॥ ४ ॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम् ।

एक सौ चौरासी अध्याय ॥ १८४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रातःकाल होने पर उठकर रात्रि के उस स्वप्न को स्मरण करके मैं बहुत प्रसन्न हुआ। इसके पश्चात् फिर सब प्राणियों को भय से विह्वल बनानेवाला मेरा और परशुरामजी का युद्ध होने लगा। परशुरामजी मेरे ऊपर उग्र बाणों की वर्षा करने लगे। मैं भी अपने बाणों से उन्हें निष्फल करने लगा॥१।३॥ पहले दिन की घटना से अत्यन्त कुपित परशुरामजी ने इन्द्र के वज्र और यमराज के दण्ड

ज्वलन्तीमग्निवत्संख्ये लेलिहानां समन्ततः ॥ ५ ॥
ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा ।
स माभ्यवधीत्तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह ॥ ६ ॥
अथाऽस्त्रमस्रवद्घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत् ।
रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य क्षतजेक्षण ॥ ७ ॥
ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः ।
चिक्षेप मृत्युसङ्काशं बाणं सर्पविषोपमम् ॥ ८ ॥
स तेनाऽभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः ।
अशोभत महाराज सश्रृङ्ग इव पर्वतः ॥ ९ ॥
स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम् ।
सन्दधे बलवत्कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम् ॥ १० ॥
स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन् ।
महीं राजंस्ततश्चाऽहमगमं रुधिराविलः ॥ ११ ॥
सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते ।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ १२ ॥
सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे ।
विह्वलश्चाऽभवद्राजन्वेपथुश्चैनमाविशत् ॥ १३ ॥
तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः ।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा ॥ १४ ॥
समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः ।
प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः ॥ १५ ॥

के समान भयानक एक शक्ति मेरे ऊपर चलाई। अग्नि के समान प्रज्वलित, चारों ओर अपने तेज से लपलपाती हुई वह शक्ति बिजली के वेग से आकर मेरे कन्धे में लगी। मेरे घायल शरीर से, पर्वत से गेरू के झरने की तरह लगातार रक्त की धारा बहने लगी ॥४।७॥ तब मैंने अत्यन्त क्रोध करके विषैले सर्प और मृत्यु के समान भयङ्कर एक बाण उनके ऊपर चलाया वह बाण परशुरामजी के मस्तक में लगा और वे एक शिखरवाले पर्वत के समान शोभायमान हुए। उन्होंने भी कुपित होकर बलपूर्वक अपना धनुष खींचा और शत्रुओं को मारनेवाला कालान्तकतुल्य एक बाण छोड़ा। वह बाण सर्प की तरह फुफकारता हुआ आकर मेरी छाती में घुस गया। उस बाण के लगने से रक्त बह चला और मैं बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर मैंने होश में आकर प्रज्वलित वज्र के समान एक शक्ति उनके हृदय में ताक कर मारी ॥८।१२॥ उसके लगने से वे विचलित हो गये। उस समय भार्गव के प्रिय सखा अकृतव्रण हृदय से लगाकर, मधुर वचनों से उन्हें ढाढ़स बंधाने लगे। महावीर परशुराम ने सँभलकर क्रोध के मारे मुझ पर

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवाऽस्त्रमुत्तमम् ।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत् ॥ १६ ॥
तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः ।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम ॥ १७ ॥
ततो व्योम्नि प्रादुरभूत्तेज एव हि केवलम् ।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते ॥ १८ ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत ।
सन्तापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोभिपीडिताः ॥ १९ ॥
ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
सन्तप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम् ॥ २० ॥
प्रजज्वाल नभो राजन्धूमायन्ते दिशो दश ।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा ॥ २१ ॥
ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे ।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत ॥ २२ ॥
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद्ब्रह्मवादिनाम् ।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात्तदा ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः १८४

ब्रह्मास्त्र चलाया। मैंने भी उस अस्त्र को शान्त करने के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। हे महाराज! वह अस्त्र आकाश में प्रज्वलित हो उठा ॥१३।१६॥ उसके भयङ्कर तेज को देखकर लोगों ने समझा कि प्रलय होनेवाला है। अस्त्रतेज से युक्त मेरे और उनके दोनों बाण आकाश में ही टकराकर जल उठे—हम लोगों के पास तक नहीं आये। उनके तेज को देखकर संसार के सब प्राणी शङ्कित हो गये। सब ऋषि, गन्धर्व और देवता भी उन बाणों के तेज से पीड़ित होकर मानों जलने लगे ॥१७।१९॥ पर्वत, वन, वृक्ष आदि सहित सारी पृथ्वी काँप उठी और संसार के सब प्राणी "त्राहि-त्राहि" करने लगे। आकाशमण्डल में अग्नि सी लग गई और दिशाओं में धुआँ उठने लगा। आकाशचारी लोग यह उत्पात देखकर अपने-अपने स्थानों से भाग चले। चारों ओर हाहाकार मच गया। मैंने ठीक अवसर देखकर, ब्राह्मणों की आज्ञा के अनुसार, प्रस्वाप अस्त्र छोड़ने का निश्चय किया। उसी समय वह अद्भुत अस्त्र मेरे हृदय में भासित हो उठा ॥२०।२३॥

—o—

उद्योगपर्व का एक सौ चौरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८४॥

अथ पंचाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

भीष्म उवाच—ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन्महानभूत्। प्रस्वापं भीष्म मा स्वाप्सीरिति कौरवनन्दन ॥१॥ अयुञ्जमेव चैवाऽहं तदस्त्रं भृगुनन्दने। प्रस्वापं

मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥२॥ एते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः
स्थिताः । ते त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ॥३॥ रामस्तपस्वी
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते । तस्याऽवमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथ-
ञ्चन ॥४॥ ततोऽपश्यं दिविष्ठान्वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः । ते मां स्मयन्तो
राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ॥५॥ यथाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत्तथा कुरु ।
एतद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ॥६॥ ततश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं
स्वापनं महत् । ब्रह्मास्त्रं दीपयाञ्चक्रे तस्मिन्युधि यथाविधि ॥७॥ ततो रामो
हृषितो राजसिंह दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै । जितोऽस्मि भीष्मेण सुम-
न्दबुद्धिरित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ॥८॥ ततोऽपश्यत्पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चाऽस्य मान्यम् । ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थुरूचुश्चैनं
सान्त्वपूर्वं तदानीम् ॥९॥ पितर ऊचुः—मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः
कथञ्चन । भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ॥१०॥ क्षत्रियस्य तु
धर्मोऽयं यद्युद्धं भृगुनन्दन। स्वाध्यायो व्रतचर्याऽथ ब्राह्मणानां परं धनम्॥११॥
इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् । शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाऽ
कार्यं कृतं त्वया ॥१२॥ वत्स पर्याप्तमेतावद्भीष्मेण सह संयुगे । विमर्दस्ते
महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ॥१३॥ पर्याप्तमेतद्भद्रं ते तव कार्मुकधारण

एक सौ पचासी अध्याय ॥१८५॥

भीष्मजी कहते हैं—उस समय "हे भीष्म, तुम प्रस्वाप अस्त्र न छोडना !" इस प्रकार का कोलाहल आकाश में सुन पडने लगा । परन्तु उस पर ध्यान न देकर मैं परशुरामजी पर छोडने के लिये प्रस्वाप अस्त्र का सन्धान करने लगा । इसी बीच में देवर्षि नारद ने मेरे पास आकर कहा—हे भैया भीष्म ! आकाश में स्थित देवता लोग तुम्हें प्रस्वाप अस्त्र न छोडने की आज्ञा दे रहे हैं । इसलिए तुम इस समय उस अस्त्र का प्रयोग मत करो । परशुरामजी महा-तपस्वी, ब्रह्मनिष्ठ, ब्राह्मण और [नारायण का अवतार होने के सिवा] तुम्हारे माननीय गुरु हैं । इस कारण किसी तरह उनका अपमान मत करो ॥१-४॥ उसी समय वे आठों ब्राह्मण फिर मुझे आकाश में देख पडे । उन्होंने मुसकाकर मुझसे कहा—हे भीष्म ! देवर्षि नारद जो कहते हैं वही करो । इनकी आज्ञा लोकों के लिए मङ्गलदायिनी होती है ॥५।६॥ हे दुर्योधन ! उन ब्राह्मणों के यों कहने पर मैंने प्रस्वाप अस्त्र का उपसंहार कर लिया और ब्रह्मास्त्र को ही उद्दीपित किया । महात्मा परशुराम ने प्रस्वाप अस्त्र का प्रयोग न होते देखकर निष्फल क्रोध से गरजकर कहा—भीष्म ने मुझ मन्दमति को जीत लिया ! ॥७।८॥ इसी बीच में परशुरामजी ने देखा कि उनके पिता और माननीय पितामह वहां पर आ गये । वे परशु-रामजी के सामने आकर समझाते हुए मधुर वचनों से कहने लगे—हे बेटा ! भीष्म ऐसे क्षत्रिय से युद्ध करने का साहस अब कभी न करना । युद्ध करना क्षत्रिय का ही धर्म है । ब्राह्मणों का परम धन और धर्म वेद शास्त्र का पढ़ना और व्रतचर्या ही है ॥९।११॥ इसी कारण हम पहले भी शस्त्र-धारण का उग्र कार्य छोड देने के लिए कह चुके हैं, पर तुमने नहीं

णम् । विसर्जयैतद्दुर्धर्षं तपस्तप्यस्व भार्गव ॥१४॥ एष भीष्मः शान्तनवो
देवैः सर्वैर्निवारितः । निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ॥१५॥
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः । न हि रामो रणे जेतुं त्वया
न्याय्यः कुरूद्वह ॥१६॥ मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे । वयं तु
गुरवस्तुभ्यं तस्मात्त्वां वारयामहे ॥१७॥ भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या
जीवसि पुत्रक । गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ॥१८॥ कथं
शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव । अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरन्दरसुतो
बली ॥१९॥ नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः । सव्यसाचीति वि-
ख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भु-
वा ॥२०॥ भीष्म उवाच—एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन्रामोऽब्रवीदिदम्। नाऽहं
युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥२१॥ न निवर्तितपूर्वश्च कदाचि-
द्रणमूर्धनि। निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात्पितामहाः ॥२२॥ न त्वहं विनि-
वर्तिष्ये युद्धादस्मात्कथञ्चन । ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा
॥२३॥ नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् । निवर्तस्व रणात्तात मान-
यस्व द्विजोत्तमम् ॥२४॥ इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया । मम व्रत-
मिदं लोके नाऽहं युद्धात्कदाचन ॥२५॥ विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्या-
हतः शरैः । नाऽहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नाऽर्थकारणात् ॥२६॥ त्यजेयं
शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः । ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा

माना। भीष्म के साथ युद्ध करके तुम उसका फल पा चुके। अब कभी युद्ध न करना। जाओ, धनुष को छोड़कर तपस्या में मन लगाओ ॥१२।१४॥ देखो, शान्तनु के पुत्र भीष्म को देवताओं ने यह कहकर युद्ध से रोक दिया है कि 'हे भीष्म! यह युद्ध बन्द कर दो। हमारा तुमसे बारम्बार कहना है कि अपने गुरु परशुराम से युद्ध मत करो। हे कुरुश्रेष्ठ! युद्ध में गुरु को जीतना तुम्हारा न्यायोचित कार्य नहीं कहा जा सकता। हे भीष्म! युद्धभूमि में ब्राह्मण और गुरु का सम्मान करके इस अभिप्राय को छोड़ दो'। हे परशुराम! हम तुम्हारे पितर और माननीय हैं। इसलिए तुमसे युद्ध बन्द करने के लिए कह रहे हैं। हे पुत्र! भीष्म वसुओं का अवतार है। यह भाग्य की बात है कि तुम उनसे युद्ध करके भी अब तक जीवित हो। शान्तनु और गङ्गा के पुत्र, महायशस्वी, वसुओं के अवतार इन भीष्म को तुम कैसे जीत सकते हो? इसलिए युद्ध बन्द कर दो। विधाता ने इन्द्र के पुत्र, पाण्डवश्रेष्ठ, महाबली, सनातन देव प्रजापति नर के अवतार अर्जुन के हाथ से ही भीष्म की मृत्यु लिखी है ॥१५।२०॥ पितरों के ये वचन सुनकर परशुरामजी ने उनसे कहा—मैं युद्ध से विमुख न होऊँगा; मेरा यही व्रत है। आज तक मैंने कभी युद्ध से मुख नहीं मोड़ा। आप लोग जाकर भीष्म को चाहे युद्ध से हटा दीजिए; मैं युद्ध से हट नहीं सकता ॥२१।२३॥ हे दुर्योधन! तब नारद को साथ लेकर ऋचीक आदि महर्षि मेरे पास आये और कहने लगे—हे भीष्म! युद्ध बन्द कर दो; रणक्षेत्र में गुरु परशुराम का सम्मान करो। हे राजेन्द्र! तब मैंने भी

नृपः ॥२७॥ भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे। तथैवाऽऽत्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः। स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ॥२८॥ समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम्। नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ॥२९॥ राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम। अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव ॥३०॥ एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुद्धय रणाजिरम्। न्यासयाञ्चक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ॥३१॥ ततोऽहं पुनरेवाऽथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः। अद्राक्षं दीप्यमानान्वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ॥३२॥ ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन्समरे स्थितम्। प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ॥३३॥ दृष्ट्वा निवर्तितं रामं सुहृद्वाक्येन तेन वै। लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ॥३४॥ ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः। रामश्चाऽभ्युत्स्मयन्प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ॥३५॥ त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन्क्षत्रियः पृथिवीचरः। गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ॥३६॥ मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः। उक्तवान्दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥३७॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पंचाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

क्षत्रिय-धर्म के अनुसार उनसे कहा—हे मान्यवरो! मेरा यह नियम है कि मैं विमुख होकर या पीठ में बाण की चोट खाकर संग्राम से नहीं लौटता। मेरा दृढ़ सङ्कल्प है कि मैं लोभ, दीनता, भय, आदि किसी कारण से क्षत्रिय धर्म को नहीं छोड़ूंगा ॥२४।२७॥ अब नारद आदि ऋषि और मेरी माता गङ्गाजी युद्ध-भूमि में आकर हम दोनों के बीच में खड़ी हो गईं। किन्तु मैं पहले की ही तरह दृढ़ निश्चय से धनुष पर बाण चढ़ाये युद्ध के लिए डटा खड़ा रहा। तब उन लोगों ने परशुरामजी से कहा—हे परशुराम! ब्राह्मण का हृदय अत्यन्त ही कोमल होता है। इसलिए तुम्हीं शान्त होकर युद्ध से हट जाओ। भीष्म को तुम नहीं मार सकते और भीष्म तुम्हें नहीं मार सकते ॥२८। ३०॥ इसलिए यह संग्राम व्यर्थ है। हे दुर्योधन! यों कहकर बीच में अड़कर उन ऋषियों ने परशुरामजी से धनुप रखवा दिया। इसी समय फिर वे, आठ ग्रहों के समान उदय को प्राप्त, तेजस्वी आठों ब्राह्मण मुझे देख पड़े। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मुझसे कहा—'हे भीष्म! अब तुम विनीत भाव से अपने गुरु परशुराम के पास जाकर युद्ध शान्त करो जिसमें सब लोकों का हित हो' परशुरामजी को पितरों के अनुरोध से शस्त्र त्याग करते देखकर मैंने उन ब्राह्मणों का कहा मान लिया। मेरे शरीर में भी हज़ारों घाव थे ॥३१।३४॥ उसी अवस्था से परशुरामजी के पास जाकर मैंने उनके चरणों में प्रणाम किया। भक्ति के साथ मुझे प्रणाम करते देखकर महातपस्वी परशुराम ने भी प्रसन्नतापूर्वक हँसकर मुझसे कहा—हे वीर भीष्म! इस पृथ्वी पर तुम्हारे समान बली और योद्धा क्षत्रिय दूसरा नहीं है। इस युद्ध में तुमने मुझे सन्तुष्ट कर दिया। मैं आज्ञा देता हूँ, अपनी नगरी को जाओ। इसके पश्चात् उन सब महात्माओं के बीच मेरे सामने काशिराज की कन्या अम्बा को बुलाकर वे दीन भाव से इस प्रकार कहने लगे ॥३५।३७॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ पचासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८५॥

अथ षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

राम उवाच—प्रत्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि । यथा शक्त्या मया युद्धं
कृतं वै पौरुषं परम् ॥१॥ न चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
विशेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥२॥ एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे
परमं बलम् । यथेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद्वा करोमि ते ॥३॥ भीष्ममेव
प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः । निर्जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि
प्रमुञ्चता ॥४॥ एवमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः । तूष्णी-
मासीत्ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ॥५॥भगवन्नेवमेवैतद्यथाऽऽह भगवां-
स्तथा । अजेयो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ॥६॥ यथाशक्ति यथोत्-
साहं मम कार्यं कृतं त्वया । अनिवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च
॥७॥ न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः । न चाऽहमेनं यास्यामि
पुनर्भीष्मं कथञ्चन ॥८॥ गमिष्यामि तु तत्राऽहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ॥९॥ एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोष-
व्याकुललोचना । तापस्ये धृतसङ्कल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ॥१०॥ ततो
महेन्द्रं सहितैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः । यथागतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य
भारत ॥११॥ ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः । प्रविश्य नगरं
मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥१२॥ यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चाऽऽदिशं प्राज्ञान्कन्यावृत्तान्तकर्मणि ॥१३॥ दिवसे दिवसे ह्यस्या

एक सौ छियासी अध्याय ॥१८६॥

परशुरामजी ने कहा—हे राजकुमारी ! सबके
सामने मैंने यथाशक्ति पौरुष दिखाया और दिव्य अस्त्रों
से युद्ध किया । मैं भीष्म को परास्त नहीं कर सका ।
मैं अपनी सारी शक्ति और पूरा बल लगाकर तुम्हारी
इष्टसिद्धि के लिए उद्योग कर चुका । मुझमें इतनी
ही शक्ति और इतना ही बल है । इसलिए अब
तुम्हारा जहां जी चाहे वहां जाओ । अथवा इसके
सिवा और जो कुछ कहो वह मैं करूं । इस समय
तुम भीष्म की ही शरण में जाओ; तुम्हारे लिए दूसरा
उपाय नहीं है । तुम्हारे सामने ही दिव्य अस्त्र और
बाण चलाकर भीष्म ने मुझे जीत लिया है ॥१-४॥
हे दुर्योधन ! इतना कहकर परशुरामजी लम्बी सांस
लेकर चुप हो रहे । तब अम्बा ने कहा—हे भगवन् !
इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध में देवता भी उदारमति
भीष्म को जीत नहीं सकते । आपने उत्साहपूर्वक
यथाशक्ति मेरे काम के लिए उद्योग किया; किन्तु भीष्म
का पौरुष और अद्भुत अस्त्र-बल अत्यन्त अनिवार्य
होने के कारण आप उन्हें हरा नहीं सके; परन्तु मैं
अब भीष्म की शरण में नहीं जाऊंगी । इस समय
मैं कहीं जाकर ऐसा उपाय करूंगी जिसमें भीष्म को
मारकर अपनी कामना पूर्ण कर सकूं । हे राजेन्द्र !
क्रोध से नेत्र लाल किये हुए अम्बा इतना कहकर
मेरे वध की इच्छा से तप करने के लिए वहां से चल
दी ॥५-१०॥ इसके पश्चात् परशुरामजी यथोचित रूप
से मेरा सम्मान करके, मुझसे विदा होकर, ऋषियों
के साथ महेन्द्र पर्वत को चले गये । मैं भी रथ [illegible]

गतिजल्पितचेष्टितम् । प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ॥१४॥
यदैव हि वनं प्रायात्सा कन्या तपसे धृता । तदैव व्यथितो दीनो गत-
चेता इवाऽभवम् ॥१५॥ न हि मां क्षत्रियः कश्चिद्वीर्येण व्यजयद्युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ॥१६॥ अपि चैतन्मया राजन्
नारदेऽपि निवेदितम् । व्यासे चैव तथा कार्यं तौ चोभौ मामवोचताम्
॥१७॥ न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ॥१८॥ दैवं पुरुष-
कारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् । सा कन्या तु महाराज प्रविश्याऽऽश्रम-
मण्डलम् । यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ॥१९॥ निराहारा कृशा
रूक्षा जटिला मलपङ्किनी । षण्मासान्वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना
॥२०॥ यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथाऽपरम् । उदवासं निराहारा पारया-
मास भाविनी ॥२१॥ शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् । संवत्सरं
तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ॥२२॥ एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास
रोदसी । निवर्त्यमानाऽपि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ॥२३॥ ततोऽगम-
द्वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् । आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्म-
नाम् ॥२४॥ तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् । व्यचरत्-

चक्कर अपने नगर में आया। ब्राह्मण लोग मेरी स्तुति करने लगे। माता सत्यवती के पास जाकर मैंने आदि से अन्त तक सब हाल कहा। उन्होंने मेरा अभिनन्दन किया। अब मैंने अम्बा के कामों की सूचना लाने के लिए निपुण, बुद्धिमान्, जासूसों को आज्ञा दी। वे मेरा प्रिय करने के लिए अम्बा का पीछा करके जहां वह जाती थी, जो करती और कहती थी, सो सब नित्य मेरे पास कहला भेजते थे। हे भैया! अम्बा जब से तपस्या का निश्चय करके वन को गई तब से मैं व्यथित, दीन और किंकर्तव्य-विमूढ़ सा होकर चिन्ता करने लगा। तपस्या में तत्पर व्रतधारी ब्राह्मणों के सिवा कोई क्षत्रिय आज तक अपने पराक्रम से मुझे जीत नहीं सका ॥११।१६॥ इसके पश्चात् मैंने तपस्वी नारद और व्यासजी के आगे सब वृत्तान्त कहा। उन्होंने मुझसे कहा—हे भीष्म! काशि-राज की कन्या के तप का हाल सुनकर तुम खेद न करो। कोई भी पौरुष के द्वारा दैव को मिथ्या नहीं कर सकता ॥१७।१९॥ उधर अम्बा यमुना के किनारे तपोवन में जाकर अलौकिक उग्र तपस्या करने लगी। उसका शरीर क्षीण और रूखा हो गया, केशों की जटाएं बन गईं, शरीर में मैल जम गया। यों पेड़ की तरह खड़े रहकर, खाना-पीना छोड़कर, केवल वायु के सहारे वह छः महीने तक तप करती रही। फिर उपवास के साथ यमुना-जल के भीतर, केवल जल का आचमन करके, एक वर्ष तक तप करती रही। फिर एक वर्ष तक पेड़ से गिरे सूखे पत्ते चबा-कर और एक वर्ष तक तीव्र क्रोध के मारे अंगूठे के बल पृथ्वी पर खड़े रहकर तप किया। अम्बा ने इस तरह बारह वर्ष तक घोर तप करके तीनों लोकों को सन्ताप से व्याकुल कर दिया। अम्बा के भाई-बन्धुओं ने विशेष यत्न किया, पर वे उसे उसके अभिप्राय से डिगा नहीं सके ॥२०।२३॥ इसके पश्चात् अम्बा वत्सभूमि नाम के तपोवन में पहुंची। उस तपोवन में अनेक तपस्वी और सिद्ध-चारण आदि रहते हैं। वहां पर वह पवित्र तीर्थों में स्नान करती हुई अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर विचरने लगी। इस तरह

काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ॥२५॥ नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे । च्यवनस्याऽऽश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ॥२६॥ प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह । भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याऽऽश्रमे तथा ॥२७॥ माण्डव्यस्याऽऽश्रमे राजन्दिलीपस्याऽऽश्रमे तथा । रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाऽऽश्रमे ॥२८॥ एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते । आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ॥२९॥ तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता । किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ॥३०॥ सैनामथाऽब्रवीद्राजन्कृताञ्जलिरनिन्दिता । भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ॥३१॥ कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः । साऽहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ॥३२॥ विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् । एतद्व्रतफलं देवि परमस्मिन्यथा हि मे ॥३३॥ ततोऽब्रवीत्सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि । नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाऽबले ॥३४॥ यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम् । व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ॥३५॥ नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका । दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाऽष्टमासिकी ॥३६॥ भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी । एवमुक्त्वा ततो राजन्काशिकन्यां न्यवर्तत ॥३७॥ माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी । कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद्दशमे तथा । न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ॥३८॥ सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात्ततस्ततः । पतिता परिधावन्ती पुनः

दुष्कर व्रत और तप करती हुई अम्बा क्रमशः नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यवनाश्रम, ब्रह्मस्थान, प्रयाग, देवयजन-तीर्थ, देवारण्य, भोगवती, विश्वामित्राश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद और पैल-गर्ग के आश्रम में गई ॥२४।२८॥ इन स्थानों में स्नान करके उसने कठोर तप किया। इसी समय मेरी माता गङ्गाजी ने जल के भीतर प्रकट होकर अम्बा से कहा—हे राजकुमारी! तुम ऐसा क्लेश क्यों सह रही हो? ॥२९।३०॥ अम्बा ने हाथ जोड़कर कहा—हे कमल-नयनी! महावली परशुराम भी भीष्म से हार गये। भीष्म को कोई हरा नहीं सकता। इस कारण मैं स्वयं उन्हें मारने के लिए तप कर रही हूँ। पृथ्वी भर में घूमकर, तप करके, जिस तरह होगा, मैं भीष्म को परास्त करूँगी।

भीष्म की मृत्यु ही मेरी इस तपस्या का फल और उद्देश्य है ॥३१।३३॥ गङ्गाजी ने कहा—हे भद्रे! तुम्हारा यह अनुष्ठान अत्यन्त कुटिल और अनुचित है। इस कारण कभी तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण न होगी। जो तुम भीष्म को मारने के लिए तप करते-करते अपना शरीर छोड़ दोगी तो कुटिल गति, दुस्तीर्थ-सम्पन्न, भयानक जल-जन्तुओं से पूर्ण, भयङ्कर नदी की योनि पाओगी। केवल चार महीने, बरसात भर, तुम जल से भरी रहोगी ॥३४।३७॥ हे दुर्योधन! मुसकाती हुई माता गङ्गाजी यों कहकर अन्तर्द्धान हो गईं। अम्बा फिर कभी आठवें और कभी दसवें महीने कुछ जल पीकर तप करने लगी। कुछ दिनों के पश्चात् उसने जल का आचमन भी छोड़ दिया।

काशिपतेः सुता ॥३९॥ सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताऽम्बेति भारत। वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ॥४०॥ सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत। नदी च राजन्वत्सेषु कन्या चैवाऽभवत्तदा ॥४१॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

तीर्थयात्रा के लोभ से अम्बा फिर वत्सभूमि में आकर रहने लगी। वहां तप के प्रभाव से उसने आधे शरीर से तो कन्या का रूप रक्खा और आधे शरीर से वह जल-जन्तुपूर्ण, दुस्तर, कुटिल बरसाती नदी होकर प्रबल वेग से बहने लगी ॥३८।४१॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ छियासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८६ ॥

अथ सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

भीष्म उवाच—ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम्। दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाऽब्रुवन् ॥१॥ तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा। निराकृताऽस्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ॥२॥ वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः। निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ॥३॥ यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्ताऽस्मि शाश्वतीं। पतिलोकाद्विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ॥४॥ नाऽहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः। एष मे हृदि सङ्कल्पो यदिदं कथितं मया ॥५॥ स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया। भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नाऽस्मि वार्येति वै पुनः ॥६॥ तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः। मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ॥७॥ छन्द्यमाना वरेणाऽथ सा वव्रे मत्पराजयम्। हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ॥८॥ ततः सा पुनरेवाऽथ कन्या रुद्रमुवाच

एक सौ सत्तासी अध्याय ॥ १८७ ॥

भीष्म पितामह कहते हैं कि इसके पश्चात् तपस्वी ऋषियों ने अम्बा को दृढ़ सङ्कल्प के साथ तपस्या में तत्पर देखकर मना करते हुए कहा—हे राजकुमारी! तुम तपस्या करना छोड़ दो, हमसे कहो, हम तुम्हारा कार्य कर देंगे। अम्बा ने कहा—हे ऋषिगण! भीष्म ने पहले हर लाकर और फिर त्यागकर मुझे स्वामी सुख और गृहस्थाश्रम के धर्म से वञ्चित कर दिया है। इस समय उन्हीं की मृत्यु के लिए मैं यह घोर तपस्या कर रही हूं। और किसी का अनिष्ट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं भीष्म को मारकर ही चैन लूंगी। यही मेरा प्रधान सङ्कल्प है ॥१।३॥ मैं उन्हीं के कारण ऐसे कठिन क्लेश सह रही हूं, पति-सुख से भ्रष्ट हुई हूं। मैं उनके दोष से 'न स्त्री और न पुरुष' होकर समय व्यतीत कर रही हूं। मैंने निश्चय कर लिया है कि भीष्म को मारे बिना कभी न रहूंगी। स्त्रीभाव से खिन्न होकर मैंने पुरुषों के समान पौरुष का काम करने का निश्चय कर लिया है। मैं भीष्म से बदला लेना चाहती हूं, इस कारण अब आप लोग मुझको निवारण न कीजिएगा ॥४।६॥ उस समय स्वयं भगवान् शङ्कर उन ब्राह्मणों के बीच अम्बा के सामने अपने रूप से प्रकट हुए और अम्बा से कहने लगे—हे पुत्री! मैं तुम पर प्रसन्न हूं, इसलिए मुझसे वरदान

ह । उपपद्येत्कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ॥९॥ स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते । प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ॥१०॥ यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज । यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ॥११॥ तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः । न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ॥१२॥ हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे। स्मरिष्यसि च तत्सर्वं देहमन्यं गता सती ॥१३॥ द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः । शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः॥१४॥ यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद्भविष्यति । भविष्यसि पुमान्पश्चात्कस्माच्चित्कालपर्ययात् ॥१५॥ एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः । पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥१६॥ ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता । समाहृत्य वनात्तस्मात्काष्ठानि वरवर्णिनी ॥१७॥ चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् । प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ॥१८॥ उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् । ज्येष्ठा काशिसुता राजन्यमुनामभितो नदीम् ॥१९॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः १८७

मांगो । अम्बा ने कहा—हे भगवन् ! मुझे भीष्म को मारने की इच्छा है । शिवजी ने कहा—तुम अवश्य भीष्म को मार सकोगी । अम्बा ने फिर कहा— हे दीनानाथ ! मैं स्त्री हूं, इसलिए किस तरह जय प्राप्त कर सकूंगी ? ॥७।९॥ स्त्री-स्वभाव से और इतने दिन तपस्या करने के कारण मेरा हृदय बिल्कुल ही शान्त हो रहा है । आप कह चुके हैं कि मैं भीष्म को मार सकूंगी। इसलिए ऐसा उपाय कीजिए जिसमें आपका दिया यह वर सत्य हो । मैं युद्ध में भीष्म को मार सकूं, यही मेरी अभिलाषा है ॥१०।११॥ रुद्र ने कहा—हे भद्रे ! मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता; वह अवश्य सत्य होगा। तुम (दूसरे जन्म में) पुरुषत्व प्राप्त करके युद्ध में भीष्म को मारोगी । उस जन्म में भी तुम्हें इस जन्म का सब वृत्तान्त स्मरण रहेगा । तुम राजा द्रुपद के यहां जन्म लेकर महारथी, शीघ्रता के साथ युद्ध करनेवाले, फुर्तीले पुरुष का रूप धारण करोगी । हे कल्याणी ! मेरा यह कहना मिथ्या नहीं होगा ॥१२।१५॥ हे दुर्योधन ! भगवान् शङ्कर इतना कहकर ब्राह्मणों के सामने अन्तर्धान हो गये । इसके पश्चात् तपस्विनी अम्बा ने वन से सूखी लकड़ियां लाकर उसी समय यमुना के किनारे एक बड़ी सी चिता लगाई और उसमें अग्नि लगा दी । चिता के जल उठने पर अम्बा ने ब्राह्मणों के आगे क्रोध के साथ कहा—मैं भीष्म को मारने के लिए इस अग्नि में प्रवेश करती हूं । बस अब अम्बा उस चिता में बैठ गई ॥१६।१९॥

उद्योगपर्व का एक सौ सत्तासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८७॥

अथ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८।

दुर्योधन उवाच—कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा । पुरुषोऽभूद्युधि श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥ भीष्म उवाच—भार्या तु तस्य ...

द्रुपदस्य महीपतेः । महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशांपते ॥२॥ एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः । अपत्यार्थे महाराज तोषयामास शङ्करम् ॥३॥ अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः । ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन् ॥४॥ भगवन्पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया । इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति ॥५॥ निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत् । स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह ॥६॥ कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया । कन्या भूत्वा पुमान्भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना ॥७॥ पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः । न तदन्यद्धि भविता भवितव्यं हि तत्तथा ॥८॥ ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी । पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह ॥९॥ लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा । पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत् ॥१०॥ ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना । तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन ॥११॥ पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत्तदा । सर्वानभिप्रायकृतान्भार्याऽलभत कौरव ॥१२॥ अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः । यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह ॥१३॥ कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप । अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी ॥१४॥ ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै । ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप ॥१५॥ पुत्रवत्पुत्रकार्याणि

एक सौ अट्ठासी अध्याय ॥१८८॥

दुर्योधन ने पूछा—हे पितामह ! शिखण्डी पहले कन्या था, वह पुरुष कैसे हो गया ? ॥१॥ भीष्मजी ने कहा—हे राजेन्द्र ! द्रुपद राजा की रानी के कोई पुत्र नहीं था। इसी समय पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा द्रुपद घोर तपस्या करके शङ्कर की आराधना करने लगे। मेरा वध भी राजा को अभीष्ट था, इसलिए वे कन्या नहीं, पुत्र ही चाहते थे। राजा द्रुपद ने कठिन तपस्या से शङ्कर को प्रसन्न करके उनसे कहा—हे भगवन् ! मेरे एक ऐसा पुत्र हो जो भीष्म को मारे। मैं यही वर मांगता हूं ॥२।५॥ महादेवजी ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारे एक कन्या होगी पर वह पीछे से पुरुष हो जायगी। मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता। इसलिए अब तुम तपस्या मत करो। राजा द्रुपद लौटकर अपने नगर में गये। उन्होंने रानी से कहा—हे प्रिये ! मैंने बड़े यत्न से तपस्या करके महादेवजी को सन्तुष्ट किया, तब उन्होंने मुझे यह वर दिया है कि तुम्हारे एक कन्या होगी, जो अन्त को पुरुष हो जायगी। मैंने उनसे फिर पुत्र के लिए प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने कहा कि मेरा वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकता ॥६।८॥ इसके उपरान्त द्रुपद की रानी ने ऋतु के समय विधिपूर्वक स्वामी की सेवा करके गर्भ धारण किया। वह गर्भ दिन दिन बढ़ने लगा। पुत्र की कामना रखनेवाले राजा द्रुपद पुत्र स्नेह के कारण सब तरह से अपनी रानी की सेवा का प्रबन्ध करके हर समय उनकी कामनाएं पूर्ण करने के लिए उद्यत रहते थे ॥९।१३॥ रानी के यथासमय एक परम सुन्दरी कन्या

सर्वाणि समकारयत्। रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा ॥१६॥
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत। न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्ष-
तात् ॥१७॥ श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याऽच्युततेजसः। छादयामास तां
कन्यां पुमानिति च सोऽब्रवीत् ॥१८॥ जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास
पार्थिवः। पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः ॥१९॥ अहमेकस्तु
चारेण वचनान्नारदस्य च। ज्ञातवान्देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा ॥२०॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तावष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

उत्पन्न हुई; किन्तु रानी ने प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है। पुत्रहीन राजा द्रुपद को शङ्कर के वरदान पर विश्वास था, इसलिए उन्होंने कन्या का होना छिपाकर पुत्र की तरह उसके सब जातकर्म आदि संस्कार किये। रानी ने भी उस कन्या को सबसे छिपाकर ठीक हाल किसी पर प्रकट नहीं होने दिया। राजा द्रुपद के सिवा और किसी को यह गुप्त रहस्य प्रतीत नहीं हुआ। उस कन्या का नाम मनुष्यों का सा शिखण्डी रक्खा गया। केवल मुझे ही गुप्तचर के द्वारा, नारदजी के कहने से और अम्बा की तपस्या का हाल प्रतीत होने से, शिखण्डी का रहस्य विदित हो गया था ॥१४।२०॥

उद्योगपर्व का एक सौ अट्ठासी अध्याय समाप्त हुआ ॥१८८॥

अथ ऊननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८९॥

भीष्म उवाच—चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु। ततो लेख्यादिषु तथा
शिल्पेषु च परन्तप ॥१॥ इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह। तस्य
माता महाराज राजानं वरवर्णिनी ॥२॥ चोदयामास भार्यार्थं कन्यायाः
पुत्रवत्तदा। ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्। स्त्रियं मत्वा
ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया ॥३॥ द्रुपद उवाच—कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं
शोकवर्धिनी। मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः ॥४॥ भार्योवाच—
न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथञ्चन। त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा
वक्तुमिहाऽर्हति ॥५॥ यदि ते रोचते राजन्वक्ष्यामि शृणु मे वचः। श्रुत्-

एक सौ नवासी अध्याय ॥१८९॥

भीष्मजी ने कहा—हे दुर्योधन! इसके पश्चात् राजा द्रुपद पुरुषवेश में छिपी हुई कन्या को चित्र-रचना और अन्य अनेक शिल्पों की शिक्षा दिलाने लगे। द्रोणाचार्य उसे अस्त्र-शस्त्र की कला सिखाने के लिए नियुक्त हुए। राजा द्रुपद की रानी ने पुत्र की तरह अपनी कन्या के विवाह के लिए राजा से अनुरोध किया। कन्या को युवा अवस्था को प्राप्त हुए देखकर राजा और रानी दोनों को बड़ी चिन्ता हुई। राजा ने रानी से कहा—हे प्रिये! शङ्करजी की आज्ञा से मैंने कन्या को छिपा रक्खा है। अब यह शोक बढ़ानेवाली कन्या युवा अवस्था को प्राप्त हुई है ॥१।४॥ रानी ने कहा—हे महाराज! भगवान् शङ्कर तीनों लोकों के ईश्वर हैं; उनकी बात असत्य या निष्फल होना असम्भव है। मैं इस समय जो कहती हूं वह सुनकर

वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज ॥६॥ क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद्दारसंग्रहः । भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥७॥ ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन्कार्येऽथ दम्पती । वरयाञ्चक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम् ॥८॥ ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः सर्वान्राज्ञः कुलतः सन्निशाम्य । दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां शिखण्डिने वरयामास दारान् ॥९॥ हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः । स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने ॥१०॥ स च राजा दशार्णेषु महानासीत्सुदुर्जयः । हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः ॥११॥ कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम । यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी ॥१२॥ कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत् । ततः सा वेद तां कन्यां कञ्चित्कालं स्त्रियं किल । हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम् ॥१३॥ धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत् । कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम् ॥१४॥ ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा । जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च ॥१५॥ ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वं न्यवेदयन् । विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः ॥१६॥ शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद्राजकुले तदा । विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवाऽतिरोचयन् ॥१७॥ ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ । हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ॥१८॥ ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः । दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ॥१९॥

उसके अनुसार कार्य कीजिए । मुझे दृढ़ निश्चय है कि महादेवजी का कहा कभी मिथ्या न होगा । इसलिए इस समय विधिपूर्वक पुत्र की तरह कन्या का विवाह कर दीजिए ॥५।७॥ द्रुपद और उनकी रानी दोनों ने यह निश्चय करके, सब राजाओं के कुल आदि की जांच करके, कन्या के लिए कन्या की खोज करना प्रारम्भ किया । इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने बड़े पराक्रमी और दुर्जय दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्मा से उनकी कन्या मांगी । हिरण्यवर्मा ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या शिखण्डी को विवाह दी ॥८।११॥ विवाह के पश्चात् शिखण्डी कांपिल्य नगर (राजा द्रुपद की राजधानी) को लौट आया । यथासमय हिरण्यवर्मा की कन्या युवा अवस्था को प्राप्त हुई और उसे प्रतीत हो गया कि शिखण्डी पुरुष नहीं, स्त्री है । तब उसने लज्जित होकर यह हाल अपनी धाय और सखियों से कह दिया ॥१२।१४॥ धाय और सखियां यह हाल सुनकर बहुत दुःखित हुईं । उन्होंने कुछ दासियों के द्वारा यह समाचार हिरण्यवर्मा के पास कहला भेजा । सब हाल सुनकर दशार्ण-नरेश क्रोधित हो उठे । उस समय भी शिखण्डी अपना स्त्रीभाव छिपाकर, पुरुष वेष से, अपने पिता राजा द्रुपद के यहां सुखपूर्वक रहता था ॥१५।१७॥ कुछ दिनों के पश्चात् यह हाल जानने पर क्रोध करके हिरण्यवर्मा ने राजा द्रुपद के पास अपना दूत भेजा ।

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः । एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचन-
मब्रवीत् ॥२०॥ दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत् । अभिषङ्गात्प्र-
कुपितो विप्रलब्धस्त्वयाऽनघ ॥२१॥ अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं
तव । यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद्याचितवानसि ॥२२॥ तस्याऽद्य विप्र-
लम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते। एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ।२३।

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने ऊननवत्यधिकशततमोऽध्यायः १८९

दूत ने द्रुपद के पास आकर एकान्त में कहा—हे महाराज ! दशार्णनरेश ने आपसे कहा है कि हे द्रुपद ! तुमने दुर्बुद्धिवश मेरा अपमान किया है, मुझे धोखा दिया है । इससे मुझे अत्यन्त सन्ताप और क्रोध हुआ है । तुमने जिस दुर्बुद्धि के वश होकर अपनी कन्या के साथ मेरी कन्या का विवाह करके मुझे धोखा दिया है उसका परिणाम तुम्हें शीघ्र ही भोगना पड़ेगा । अपने सब कार्य और सुख-भोग कर लो; मैं शीघ्र ही तुम्हारे अनुचरों, मन्त्रियों और भृत्योंसहित तुमको मार डालूगा ॥१८।२३॥

उद्योगपर्व का एक सौ नवासी अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८९ ॥

अथ नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

भीष्म उवाच—एवमुक्तस्ये दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप । चोरस्येव गृहीतस्य
न प्राववर्तत भारती ॥१॥ स यत्नमकरोत्तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने । दूतैर्म-
धुरसम्भाषैर्न तदस्तीति सन्दिशन् ॥२॥ स राजा भूय एवाऽथ ज्ञात्वा
तत्त्वमथाऽगमत् । कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ॥३॥ ततः
सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम् । दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वच-
नात्तदा ॥४॥ ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः । अभियाने मतिं
चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ॥५॥ ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स मही-
पतिः । हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ॥६॥ तत्र वै निश्चितं
तेषामभूद्राज्ञां महात्मनाम् । तथ्यं भवति चेदेतत्कन्या राजञ्शिखण्डिनी
॥७॥ बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम् । अन्यं राजानमाधाय
पञ्चालेषु नरेश्वरम् ॥८॥ घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ॥९॥

एक सौ नब्बे अध्याय ॥ १९० ॥

भीष्मजी कहते हैं—हे दुर्योधन ! दूत के ये वचन सुनकर पकड़े गये चोर की तरह राजा द्रुपद कुछ उत्तर न दे सके । उन्होंने मधुरभाषी दूतों को बुलाकर अपने सम्बन्धी को शान्त करने के लिए भेजा। राजा ने उनके द्वारा कहला भेजा कि हे राजेन्द्र ! आपको असत्य सूचना मिली है । शिखण्डी स्त्री नहीं, पुरुष ही है । दशार्णराज ने फिर पता लगाया। उन्हें प्रतीत हुआ कि शिखण्डी वास्तव में कन्या ही है । तब उन्होंने धात्री की सम्मति से यह हाल अपने मित्रों के पास कहला भेजा और फिर सेना एकत्र करके राजा द्रुपद के साथ युद्ध करने का निश्चय किया । हिरण्यवर्मा कर्तव्य निश्चय के लिए अपने मन्त्रियों के साथ सम्मति करने लगे ॥१।६॥ वहां हिरण्यवर्मा के सम्बन्धी सब राजाओं ने यह निश्चय किया

तत्तदाऽनृतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः । प्रास्थापयत्पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ॥१०॥ भीष्म उवाच—स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्विषी च नराधिपः । भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ॥११॥ विसृज्य दूतान्दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः । समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ॥१२॥ भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाऽऽहतः । पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ॥१३॥ अभियास्यति मां कोपात्सम्बन्धी सुमहाबलः । हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ॥१४॥ किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति । शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ॥१५॥ इति सञ्चिन्त्य यत्नेन सामित्रः सबलानुगः । वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ॥१६॥ किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने । श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ॥१७॥ अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी । त्वं च राज्ञि महत्कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ॥१८॥ सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः । तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ॥१९॥ शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः । कृपयाऽहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ॥२०॥ मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः । तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ॥२१॥ जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै । प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ॥२२॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९०॥

शिखण्डी वास्तव में पुरुष न हो, तो हम लोग द्रुपद को कैद करके, शिखण्डी को और उन्हें मार डालेंगे और उनका राज्य दूसरे राजा को दे देंगे । हिरण्यवर्मा ने फिर शीघ्रगामी दूतों द्वारा राजा द्रुपद से कहला भेजा कि हे द्रुपद ! तुमने जो पाप किया है उसके बदले में मैं शीघ्र ही आकर तुमको मारूँगा ॥७।१०॥ उन दूतों ने द्रुपद के पास आकर सब समाचार कहा । राजा द्रुपद स्वभाव से ही डरपोक थे । वे बहुत ही भयभीत हुए । शोक से विह्वल राजा द्रुपद ने हिरण्यवर्मा के दूतों को बिदा कर दिया और फिर एकान्त में अपनी रानी से कहा—हे प्रिये ! प्रबल पराक्रमी सम्बन्धी हिरण्यवर्मा सेना एकत्र करके हमपर आक्रमण करने का उद्योग कर रहे हैं । समझ में नहीं आता कि इस समय इस कन्या के बारे में क्या करना चाहिए ॥११।१५॥ हे रानी! हिरण्यवर्मा तुम्हारे पुत्र शिखण्डी को कन्या समझ रहे हैं । वे समझते हैं कि हमने कन्या को पुत्र बताकर उन्हें धोखा दिया है । इसी कारण अपने मित्रों को साथ लेकर सेना सहित वे मुझे मारने के लिए आ रहे हैं । हे भद्रे ! इस बारे में सत्य और असत्य जो हो वह कह दो । यह शिखण्डिनी कन्या है । इसके कारण मुझ पर आपत्ति आ रही है । तुम्हारी भी निन्दा होगी । अतएव सब के कल्याण के लिए सत्य-सत्य कह दो । उसे सुनकर मैं जो कर्तव्य समझूँगा वही करूगा । और, हे शिखण्डिनी ! तुम मत भयभीत होओ । मेरे पुत्र नहीं है, इसलिए तुम पर मुझे अपार स्नेह है । मैं इस

विपत्ति से तुमको बचाने का उपाय अवश्य करूँगा। हे रानी! मैंने दशार्णनरेश को धोखा दिया है। बताओ, अब क्या करना चाहिए? तुम्हारी बात सुनकर मैं वही करूँगा जिसमें मेरा कल्याण होगा। हे दुर्योधन! यद्यपि राजा को सब हाल प्रतीत था, तो भी सर्वसाधारण के आगे अपने को दोष से बचाने के लिए उन्होंने रानी से यों पूछा ॥१६।२२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ नव्वे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९०॥

अथ एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१॥

भीष्म उवाच—ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप। आचचक्षे महा- ७२
बाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ॥१॥ अपुत्रया मया राजन्सपत्नीनां भया-
दिदम्। कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ॥२॥ त्वया चैव नर-
श्रेष्ठ तन्मे प्रीत्याऽनुमोदितम्। पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ॥३॥
भार्या चोढा त्वया राजन्दशार्णाधिपतेः सुता। मया च प्रत्यभिहितं देव-
वाक्यार्थदर्शनात् ॥ कन्या भूत्वा पुमान्भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ॥४॥ एतच्छ्-
रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्भ्यो निवेद्य। मन्त्रं राजा मन्त्रया-
मास राजन्यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ॥५॥ सम्बन्धकं चैव समर्थ्य
तस्मिन्दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र। स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथावन्मन्त्रै-
काग्रो निश्चयं वै जगाम ॥६॥ स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ॥७॥ आर्तिं च परमां राजा
जगाम सह भार्यया। दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ॥८॥ कथं
सम्बन्धिना सार्धं न मे स्याद्विग्रहो महान्। इति सञ्चिन्त्य मनसा दैवता-
मर्चयत्तदा ॥९॥ तं तु दृष्ट्वा तदा राजन्देवी देवपरं तदा। अर्चां प्रयुञ्जान-

एक सौ इक्यानवे अध्याय ॥१९१॥

भीष्मजी कहते हैं—तब शिखण्डिनी की माता ने पति से अपनी सन्तान के बारे में सच्चा-सच्चा हाल कह दिया कि हे महाराज! मेरे कोई पुत्र नहीं था, इस कारण सौतों के भय से मैंने कन्या को पुत्र बताया था। आपने भी प्रीतिपूर्वक मेरी बात का अनुमोदन करके पुत्र की तरह कन्या के जातकर्म आदि सब संस्कार किये और अन्त को हिरण्यवर्मा की बेटी के साथ उसका विवाह कर दिया। मैंने भी उसका अनुमोदन किया। देववाक्य के अनुसार यह कन्या पुरुष हो जायगी, यह सोचकर ही मैंने इसको पुरुष प्रसिद्ध किया था ॥१।४॥ अब राजा द्रुपद निपुण मन्त्रियों से सब समाचार कहकर दशार्णराज के कोप से प्रजा की रक्षा की सम्मति करने लगे। वास्तव में उन्होंने हिरण्यवर्मा के साथ छल नहीं किया था। अब उस सम्बन्ध को तोड़ देने का उन्होंने विचार किया। द्रुपद का नगर पहले से ही सुरक्षित था, तथापि इस समय आनेवाली विपत्ति का स्मरण करके वे और भी सावधानी [illegible] उसकी रक्षा का प्रबन्ध करने लगे ॥५।७॥ हे राजेन्द्र! हिरण्यवर्मा से विरोध होने के कारण द्रुपद को और उनकी रानी को बड़ा खेद हुआ। इसके पश्चात् वे सम्बन्धी के साथ होनेवाले युद्ध को रोकने के लिए देवताओं की पूजा करने लगे ॥८।९॥

मथो भार्या वचनमब्रवीत् ॥१०॥ देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्यं साधुमता सताम्।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ॥११॥ दैवतानि च सर्वाणि
पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम् । अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ॥१२॥
अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो । देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद्-
भविष्यति ॥१३॥ मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन । पुरस्याऽ-
स्याऽविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ॥१४॥ दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्धयति
पार्थिव । परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ॥१५॥ तस्माद्विधाय
नगरे विधानं सचिवैः सह । अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ॥१६॥
एवं सम्भाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ । शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडि-
तेव तपस्विनी ॥१७॥ ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखिताबुभौ । इमा-
विति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ॥१८॥ एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं
शोकपरायणा । निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ॥१९॥ यक्षेण-
र्द्धिमता राजन्स्थूणाकर्णेन पालितम् । तद्भयादेव च जनो विसर्जयति
तद्वनम् ॥२०॥ तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम् । लाजोल्लापिकधूमा-
ढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ॥२१॥ तत्प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्याऽऽत्मजा
नृप । अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ॥२२॥ दर्शयामास तां यक्षः
स्थूणो मार्दवसंयुतः । किमर्थोऽयं तवाऽऽरम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम्
॥२३॥ अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह । करिष्यामीति वै क्षिप्रं
प्रत्युवाचाऽथ गुह्यकः ॥२४॥ धनेश्वरस्याऽनुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे ।

उन्हें आराधना करते देखकर रानी ने कहा—सुख के समय भी देवताओं की पूजा करनी चाहिए, फिर दुःख और विपत्ति के समय तो देवताओं की पूजा करना अत्यन्त आवश्यक है। आप ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा कीजिए। हिरण्यवर्मा से होनेवाले भय को दूर करने के लिए होम करना और दक्षिणा देना भी उचित होगा। इस समय वही उपाय करना चाहिए जिसमें युद्ध किये बिना ही सङ्कट टल जाय। देवताओं के प्रसन्न होने पर मनोरथ का सिद्ध होना असम्भव नहीं है। दैव और पौरुष यदि बिना विरोध के एक साथ होते हैं तो अवश्य इच्छा पूर्ण होती है। आप मन्त्रियों के साथ सम्मति करके नगर की रक्षा और यथेष्ट रूप से देवताओं की आराधना कीजिए ॥१०।१६॥ सबको शोक से व्याकुल होकर इस प्रकार वार्तालाप करते देखकर शिखण्डिनी को बड़ी लज्जा प्रतीत हुई। उसने सोचा कि ये सब लोग मेरे ही लिए क्लेश भोग रहे हैं और दुःखित हो रहे हैं, इसलिए मेरा मर जाना ही श्रेष्ठ है। अब उसने प्राण दे देने का निश्चय कर लिया। शोक से व्याकुल शिखण्डिनी घर छोड़कर चुपचाप एक घने वन में चली गई। स्थूणाकर्ण नाम का एक समृद्धिशाली यक्ष उस वन की रक्षा किया करता था। उसके भय से उस वन में कोई नहीं जाता था ॥१७।२०॥ उस वन में शरीर से सुगन्धित, अगरु धूम से सुवासित, ऊँची दीवारों और फाटकों से शोभित, एक श्वेत महल था। राजा द्रुपद की कन्या उसी में जाकर रही और

अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ॥२५॥ ततः शिखण्डी तत्सर्वमखिलेन न्यवेदयत् । तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ॥२६॥ शिखण्ड्युवाच—अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति । अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ॥२७॥ महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः । तस्माद्रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ॥२८॥ प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम । भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ॥२९॥ यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम । तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ॥३०॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९१

मरने की इच्छा से खाना-पीना छोड़कर अपना शरीर सुखाने लगी । एक दिन स्थूणाकर्ण ने उसे देखा । तब वह कोमल मधुर स्वर से कहने लगा—हे सुन्दरी! तुम किसलिए यह उग्र व्रत कर रही हो ? बतलाओ, मैं अभी तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने को तैयार हूँ । शिखण्डिनी ने कहा—आप मेरा कार्य नहीं सिद्ध कर सकते । यक्ष ने कहा—हे राजकुमारी ! मैं यक्षराज कुबेर का सेवक हूँ । इसलिए सहज ही मुँहमांगा वर दे सकता हूं । तुम अपना अभीष्ट बताओ, देने योग्य न होने पर भी मैं उसे दूंगा।।२५।२६। तब शिखण्डिनी ने अपना सब समाचार सुनाकर कहा—प्रबल पराक्रमी दुर्धर्ष राजा हिरण्यवर्मा क्रोधित होकर मेरे पिता पर आक्रमण करने के लिए आ रहे हैं । मेरे पिता पुत्र-हीन हैं । मैं आपसे यही मांगती हूं कि वे इस विपत्ति से बच जायं । आप मेरी और मेरे पिता-माता की रक्षा कीजिए । हे निष्पाप ! आप प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि मेरा दुःख दूर करेंगे । इसलिए ऐसी कृपा कीजिए कि मैं स्त्री से पुरुष हो जाऊं । हे यक्ष ! राजा हिरण्यवर्मा आकर मेरे नगर को नष्ट-भ्रष्ट न करने पावें; उसके पहले ही आप मुझ पर कृपा कीजिए ॥२७।३०॥

उद्योगपर्व का एक सौ इक्यानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९१॥

अथ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९२॥

भीष्म उवाच—शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाऽथ स यक्षो भरतर्षभ । प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ॥१॥ भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव । भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ॥२॥ किञ्चित्कालान्तरे दास्ये पुल्लिङ्गं स्वमिदं तव । आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ॥३॥ प्रभुः सङ्कल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः । मत्प्रसादात्पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ॥४॥ स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तवेदं पार्थिवात्मजे । सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ॥५॥ शिखण्ड्युवाच—प्रतिदास्यामि

एक सौ बानबे अध्याय ॥१९२॥

भीष्मजी कहते हैं कि हे दुर्योधन ! तब यक्ष ने होनहार से मोहित होकर शिखण्डिनी से कहा—हे सुन्दरी ! मैं अवश्य तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूंगा; किन्तु उसके लिए एक प्रतिज्ञा होगी । मैं कुछ समय के लिए अपना पुरुषचिह्न तुमको दे दूंगा । निर्दिष्ट समय पर तुम्हें, मेरा चिह्न मुझे देकर, अपना स्त्री-चिह्न मुझसे ले लेना पड़ेगा । इसके लिए तुम प्रतिज्ञा करो । मैं आकाशचारी और जहां चाहे वहां जा सकनेवाला यक्ष हूं । इसलिए तुम मेरी कृपा से पुरुष होकर अपने नगर और बान्धवों की रक्षा करो । तुम

भगवन्पुल्लिङ्गं तव सुव्रत । किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ॥६॥ प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि । कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ॥७॥ भीष्म उवाच—इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप । अन्योन्यस्याऽभिसन्देहे तौ संक्रामयतां ततः ॥८॥ स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत । यक्षरूपं च तद्दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ॥९॥ ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव । विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ॥१०॥ यथावृत्तं तु तत्सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत् । द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत्परम् ॥११॥ सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा । ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ॥१२॥ पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति । अथ दाशार्णको राजा सहसाऽभ्यागमत्तदा ॥१३॥ पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः । ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ॥१४॥ प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम् । ब्रूहि मद्वचनाद्दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ॥१५॥ यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते । फलं तस्याऽवलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ॥१६॥ एवमुक्तश्च तेनाऽसौ ब्राह्मणो राजसत्तम । दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ॥१७॥ तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे । तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ॥१८॥ प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना । तां पूजां नाऽभ्यनन्दत्स वाक्यं चेदमुवाच ह ॥१९॥ यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा । यत्तेऽहमधमाचार दुहित्राऽस्म्यभिवञ्चितः ॥२०॥ तस्य पापस्य करणात्फलं

उक्त प्रतिज्ञा करो, मैं तुम्हें पुरुष-चिह्न देकर तुम्हारा हित करने को तैयार हूं ॥१।५॥ शिखण्डिनी ने कहा—मैं निर्दिष्ट समय पर आपका पुरुषचिह्न आपको फेर दूंगी। आप कुछ दिन तक मेरे लिए स्त्री-चिह्न धारण कीजिए। हिरण्यवर्मा जब प्रसन्न होकर अपने नगर को लौट जायंगे तब मैं फिर स्त्री हो जाऊंगी और आप पुरुष बन जाइएगा ॥६।७॥ भीष्मजी कहते हैं—परस्पर यों प्रतिज्ञा करके दोनों ने अपने-अपने चिह्न बदल लिये। स्थूणाकर्ण स्त्रीरूप हो गया और शिखण्डी, तेजस्वी यक्ष का रूप पाकर, पुरुष हो गया। शिखण्डिनी पुरुषचिह्न पाकर बहुत प्रसन्न हुई। नगर में पहुंचकर उसने सब हाल कहा ॥८।१०॥ सुनकर राजा द्रुपद अत्यन्त आनन्दित हुए। उस समय उन्हें भगवान् भवानीपति की बात स्मरण हो आई। तब राजा द्रुपद ने हिरण्यवर्मा के पास दूत के हाथ कहला भेजा कि हे महाराज! मेरा पुत्र सचमुच पुरुष है। आप इस पर विश्वास कीजिए। दशार्णनरेश जब काम्पिल्य नगर के पास पहुंच गये तब उन्होंने एक ब्राह्मण को, उचित सत्कार करके, राजा द्रुपद के पास भेजा। उन्होंने उस ब्राह्मण के द्वारा कहला भेजा कि हे मूढ़ द्रुपद! तुमने मुझे धोखा देकर अपनी कन्या के साथ मेरी कन्या का विवाह किया है। मैं उसका उचित दण्ड देने के लिए आया हूं, तैयार रहो ॥११।१६॥ वह पुरोहित जब राजा द्रुपद की सभा में पहुंचा तब राजा द्रुपद और उनके पुत्र ने गाय, अर्घ्य, पाद्य आदि देकर उसका सम्मान किया। ब्राह्मण ने उनकी

प्राप्नुहि दुर्मते । देहि युद्धं नरपते ममाऽद्य रणमूर्धनि ॥२१॥ उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् । तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ॥२२॥ दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा। अभवद्भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ।२३। यदाह मां भवान्ब्रह्मन्सम्बन्धिवचनाद्वचः । अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ।२४। ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने। हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।२५। तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा। तद्वाक्यमाददे राजन्यदुक्तं द्रुपदेन ह ॥२६॥ आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम । मिथ्यैतदुक्तं केनाऽपि तदश्रद्धेयमित्युत ॥२७॥ ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः । सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः शिखण्डिनं स्त्री पुमान्वेति वेत्तुम् ॥२८॥ ताः प्रेषितास्तत्त्वं भावं विदित्वा प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् । शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र दाशार्णराजाय महानुभावम् ॥२९॥ ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ । सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ॥३०॥ शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद्वित्तं जनेश्वरः । हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ॥३१॥ पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल । विनीतकिल्बिषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ॥३२॥ प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी । कस्यचित्त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः । लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्याऽगा-

पूजा नहीं स्वीकार की। वह हिरण्यवर्मा का सन्देशा इस प्रकार कहने लगा—राजा हिरण्यवर्मा ने कहा है कि रे दुर्बुद्धि द्रुपद ! तुम आकर मुझसे युद्ध करो। मैं शीघ्र ही तुम्हारे मन्त्री, बन्धु-बान्धव, पुत्र आदि को और तुमको मारकर अपना क्रोध शान्त करूँगा ॥१७।२२॥ हिरण्यवर्मा के कहने से, मन्त्रियों के सामने, सभा में ब्राह्मण ने जब इस प्रकार तिरस्कार के वचन कहे तब राजा द्रुपद ने नम्रतापूर्वक कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने मेरे सम्बन्धी हिरण्यवर्मा के कहने से जो कुछ कहा है उसका उत्तर मेरा एक दूत जाकर उन्हें देगा ॥२३।२४॥ इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने एक वेद-पाठी बुद्धिमान् ब्राह्मण को दूत बनाकर हिरण्यवर्मा के पास भेजा। उसने राजा द्रुपद के कथनानुसार दशार्णनरेश से कहा—हे महाराज ! आप चलकर परीक्षा कर लीजिए। राजकुमार शिखण्डी कभी स्त्री नहीं है। जान पड़ता है कि किसी दुष्ट ने आपसे मिथ्या वचन कहा है। उसकी बात विश्वास के योग्य नहीं है ॥२५।२७॥ हिरण्यवर्मा बड़े असमञ्जस में पड़ गये। उन्होंने उसी समय कुछ सुन्दरी स्त्रियों को इसलिए भेजा कि वे जाकर शिखण्डी की जाँच करके बतलावें कि वह पुरुष है या स्त्री। उन स्त्रियों ने आकर परीक्षा की। जाँच-पड़ताल करके वे हिरण्यवर्मा के पास गईं और कहने लगीं—शिखण्डी सचमुच पुरुष है। यह सूचना सुनकर हिरण्यवर्मा बहुत प्रसन्न हुए और राजा द्रुपद से मिले। कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् वे अपने दामाद शिखण्डी को हाथी, घोड़े, गाय, दास-दासी, धन रत्न आदि देकर और असत्य बोलने के लिए अपनी बेटी को डाँटकर अपनी राजधानी को जाने की तैयारी करने लगे। राजा द्रुपद ने उनका यथोचित सत्कार किया ॥२८।

न्निवेशनम् ॥३३॥ स तद्गृहस्योपरि वर्त्तमान आलोकयामास धनाधिगोप्ता। स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ॥३४॥ लाज्यैश्च गन्धैश्च तथा वितानैरभ्यर्चितं धूपनधूपितं च। ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ॥३५॥ तत्स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम्। मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ॥३६॥ नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम्। अथाऽब्रवीद्यक्षपतिस्तान्यक्षाननुगांस्तदा ॥३७॥ स्वलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्याऽमितविक्रमाः। नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ॥३८॥ यस्माज्जानन्स मंदात्मा मामसौ नोपसर्पति। तस्मात्तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ॥३९॥ यक्षा ऊचु — द्रुपदस्य सुता राजन्राज्ञो जाता शिखण्डिनी। तस्यै निमित्ते कस्मिंश्चित्प्रादात्पुरुषलक्षणम् ॥४०॥ अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे। नोपसर्पति तेनाऽसौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ॥४१॥ एतस्मात्कारणाद्राजन्स्थूणो न त्वाऽद्य सर्पति। श्रुत्वा कुरु यथान्यं विमानमिह तिष्ठताम् ॥४२॥ आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत्। कर्ताऽस्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥४३॥ सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते। स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ॥४४॥ तं शशापाऽथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन। एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ॥४५॥

३२॥ हे दुर्योधन ! इस प्रकार हिरण्यवर्मा का क्रोध शान्त हो गया और वे सन्तुष्ट होकर अपने देश को लौट गये। इससे शिखण्डी को बड़ा हर्ष और सन्तोष हुआ। हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! उधर कुछ समय के पश्चात् एक दिन यक्षराज कुबेर घूमते फिरते हुए दैवयोग से स्थूणाकर्ण के घर की ओर आ निकले। उन्होंने ऊपर से देखा कि वह घर बहुत ही विचित्र और सुन्दर बना हुआ था। मालाओं और चन्द्रातपों (चन्दोवों) से उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी। अगुरु और गूगल का धुआ उसमें छाया हुआ था। ध्वजा पताकाएँ फहरा रही थीं। मांस और खाने पीने को स्वादिष्ट सामग्रियां उसमें भरी हुई थीं ॥३३।३५॥ मणि, रत्न, सुवर्ण आदि से अलंकृत और फूलों की सुगन्ध से मनोहर वह उज्ज्वल भवन सब जगह स्वच्छ था। जगह-जगह चन्दन गुलाब क्योड़े आदि के जल का छिड़काव किया हुआ था। उस घर को देखकर कुबेर ने अपने साथ के यक्षों से कहा—हे यक्षो ! स्थूणाकर्ण का यह घर बहुत ही सुसज्जित और भला देख पड़ता है किन्तु वह मूढ़ मेरे पास अभी तक नहीं आया। मेरी अवाई का हाल जानकर भी वह मुझसे मिलने नहीं आता, इसलिए मैं उसको दण्ड दूंगा ॥३६।३९॥ यक्षों ने कहा—हे यक्षराज ! स्थूणाकर्ण ने न जाने किस कारण मोहित होकर द्रुपद राजा की कन्या शिखण्डिनी को अपना पुरुषचिह्न देकर उसका स्त्रीचिह्न ले लिया है। इस समय स्त्रीरूप से वह अपने घर में है और लज्जा के मारे आपके सामने नहीं आ सकता। आप चाहें तो विमान से उतरकर उसकी दशा देख लें और उसके मुख से सब हाल सुनकर जो कर्तव्य समझें, करें, ॥४०।४२॥ कुबेर ने कहा—हे यक्षो ! तुम स्थूणा-

ततोऽब्रवीद्यक्षपतिर्महात्मा यस्माददास्त्वमवमन्येह यक्षान्। शिखण्डिनो लक्षणं पापबुद्धेः स्त्रीलक्षणं चाऽग्रहीः पापकर्मन् ॥४६॥ अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत्त्वया कृतम्। तस्मादद्यप्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ॥४७॥ ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल। स्थूणस्याऽर्थे कुरुष्वाऽन्तं शापस्येति पुनः पुनः ॥४८॥ ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचाऽनुगामिनः। सर्वान्यक्षगणांस्तात शापस्याऽन्तचिकीर्षया ॥४९॥ शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते। स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ॥५०॥ इत्युक्त्वा भगवान्देवो यक्षराजः सुपूजितः। प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ॥५१॥ स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत्तदा। समये चाऽगमत्तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ॥५२॥ सोऽभिगम्याऽब्रवीद्वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति। तमब्रवीत्ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥५३॥ आर्जवेनाऽऽगतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम्। सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ॥५४॥ यक्ष उवाच—शप्तो वैश्रवणेनाऽहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज। गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान्यथासुखम् ॥५५॥ दिष्टमेतत्पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम्। गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ॥५६॥ भीष्म उवाच—एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत। प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः

कर्ण को मेरे पास ले आओ। मैं उसे उचित दण्ड दूंगा। अनुचर के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर स्थूणाकर्ण अपने प्रभु के पास गया। लज्जा से सिर नीचा किये हुए स्थूणाकर्ण प्रणाम करके कुबेर के सामने खड़ा हो गया। कुबेर ने क्रोध के कारण कांपते हुए स्वर से शाप देकर कहा—हे स्थूण! तुमने शिखण्डी को अपना पुरुषचिह्न देकर, उसका स्त्रीचिह्न आप लेकर, यक्षों का अपमान और अत्यन्त पाप किया है। इसलिए मैं शाप देता हूं कि तुम सदा स्त्री बने रहोगे। तुमने अत्यन्त निन्दनीय काम किया है, इसलिए तुम सदा के लिए स्त्री हो जाओगे और शिखण्डी पुरुष हो जायगा ॥४४।४७॥ तब यक्षों ने कुबेर को प्रसन्न करते हुए बारम्बार यह प्रार्थना की कि इस शाप का अन्त करने की कृपा कीजिए। कुबेर ने उस यक्ष को शाप से छुटकारा देते हुए कहा—अच्छा, जब शिखण्डी मारा जायगा तब स्थूणाकर्ण फिर पुरुष हो जायगा। कुबेर के ये वचन सुनकर स्थूणाकर्ण की व्याकुलता कुछ कम हुई। उसके पश्चात् स्थूणाकर्ण की की हुई पूजा स्वीकार करके यक्षों के साथ यक्षराज चले गये। कुबेर के शाप से व्यथित होकर स्थूणाकर्ण उसी वन में रहने लगा ॥४८।५२॥ इधर शिखण्डी, प्रतिज्ञा के अनुसार, यथासमय स्थूणाकर्ण के पास पहुंचा और कहने लगा—लीजिए, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने आ गया। शिखण्डी को सरलता के साथ आया हुआ देखकर उसके सत्याचरण से सन्तुष्ट स्थूणाकर्ण ने कहा कि हे राजपुत्र! मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूं। हे दुर्योधन! फिर स्थूणाकर्ण ने आदि से अन्त तक अपना वृत्तान्त सुनाकर शिखण्डी से कहा—कुबेर ने तुम्हारे कारण मुझे शाप दे दिया है। इसलिए अब तुम जाओ और जी भरकर पुरुषत्व का सुख भोगो। तुम्हारे साथ मेरी भेंट होना और फिर कुबेर का यहां अचानक आ जाना, ये

॥५७॥ पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः। द्विजातीन्देवताश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ॥५८॥ द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना। मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ॥५९॥ शिष्यार्थं प्रददौ चाऽथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव। शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ॥६०॥ प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः। शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥६१॥ मम त्वेतच्चरास्तात यथावत्प्रत्यवेदयन्। जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ॥६२॥ एवमेष महाराज स्त्रीपुमान्द्रुपदात्मजः। स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ॥६३॥ ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता। द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ॥६४॥ नाऽहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम्। मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाऽप्युत ॥६५॥ व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम्। स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ॥६६॥ न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन। न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ॥६७॥ एतत्तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः। ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ॥६८॥ यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात्सन्तः कुर्युर्विगर्हणम्। नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वाऽपि समरे स्थितम् ॥६९॥ वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा। मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ॥७०॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः१९२

दोनों घटनाएं मेरे पूर्व कर्मों का फल हैं। यह मेरे भाग्य का दोष है। भाग्य में जो बदा है, वह अवश्य होगा; उसे कोई नहीं टाल सकता ॥५३।५६॥ हे दुर्योधन! स्थूणाकर्ण के शापग्रस्त होने का हाल सुनकर शिखण्डी को बड़ा हर्ष हुआ। वह नगर में लौट आया। आते ही उसने चन्दन, माला आदि षोड़शोपचार सामग्री से ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा की। चैत्य, चतुष्पथ आदि स्थानों में उत्सव, हवन होने लगे। शिखण्डी को सिद्धमनोरथ और कृतकृत्य देखकर राजा द्रुपद को और उनके भाई-बन्धुओं को बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके पश्चात् द्रुपद ने धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिखण्डी को द्रोणाचार्य के हाथ में सौंप दिया। हे दुर्योधन! उसी शिखण्डी ने तुम लोगों के साथ द्रोणाचार्य से धनुर्वेद के चारों अङ्ग सीखे हैं ॥५७।६१॥ अन्धे, बहरे, गूंगे या पागल बनकर पता लगानेवाले जो जासूस मैंने राजा द्रुपद के नगर में भेजे थे उन्हीं ने आकर यह सब वृत्तान्त मुझसे कहा था। काशिराज की कन्या शिखण्डी के रूप से मुझे मारने के लिए राजा द्रुपद के घर में उत्पन्न हुई है। वह शिखण्डी युद्ध के लिए मेरे सामने आवेगा तो मैं न तो उसकी ओर देखूंगा और न उस पर प्रहार करूंगा ॥६२।६५॥ पृथ्वी पर मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं स्त्री, स्त्री-पूर्व (पहले का स्त्री) पुरुष, स्त्री-नामधारी पुरुष या स्त्री वेष पुरुष पर कभी बाण नहीं चलाता। हे दुर्योधन! मुझे शिखण्डी के जन्म का वृत्तान्त ऐसा ही प्रतीत है। इसी कारण मैं उसे न मारूंगा। मैं जो शिखण्डी पर चोट करूंगा तो सज्जन मेरी निन्दा करेंगे। इसी कारण उसे युद्ध

के लिए सामने आये हुए देखकर भी मैं नहीं मारूंगा। राजा दुर्योधन ने भीष्म के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर सोचा कि महावीर भीष्म ने ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने योग्य काम किया है ॥६९।७०॥

उद्योगपर्व का एक सौ बानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९२॥

अथ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९३॥

सञ्जय उवाच—प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव । मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य८१ पितामहमपृच्छत ॥१॥ पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत्सैन्यमुद्यतम् । प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ॥२॥ भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः । लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥३॥ अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम् । सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥४॥ केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते । आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वाऽऽशु महाबलः ॥५॥ कर्णो वा समरश्लाघी द्रोणिर्वा द्विजसत्तमः । दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥६॥ एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे । हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥७॥ भीष्म उवाच—अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते । बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥८॥ शृणु राजन्मम रणे या शक्तिः परमा भवेत् । शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥९॥ आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः । मायायुद्धेन मायावी इत्येतद्धर्मनिश्चयः ॥१०॥ हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम् । दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्रागाह्निकं मम ॥११॥ योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते । सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ॥१२॥ अनेनाऽहं विधानेन सन्नद्धः

एक सौ तिरानबे अध्याय ॥१९३॥

सञ्जय कहते हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र ! रात्रि व्यतीत होने पर आपके पुत्र दुर्योधन ने अपने सब वीर सैनिकों के सामने भीष्म पितामह से फिर पूछा—हे पितामह ! हमारे पक्ष के योद्धा आप सब लोग दिव्य अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हैं। अब यह बताइए कि आप कितने दिन में युधिष्ठिर की अपार सेना का संहार कर सकते हैं ? उसमें असंख्य हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्य हैं। महारथियों की भी संख्या बहुत है। भीमसेन, अर्जुन, धृष्टद्युम्न आदि महाबली पराक्रमी लोकपाल-सदृश वीर पुरुष उसके रक्षक हैं। युधिष्ठिर की सेना उमड़ रहे समुद्र के समान, अनिवार्य, दुर्धर्ष और देवताओं का भी सामना करने में समर्थ है। उसको आप कितने समय में नष्ट कर सकते हैं ? ॥१।५॥ युद्धप्रिय कर्ण, महाधनुर्द्धर द्रोणाचार्य, महाबली कृपाचार्य और ब्राह्मणश्रेष्ठ वीर अश्वत्थामा कितने समय में उस सेना का विनाश कर सकते हैं ! यह जानने के लिए मेरे मन में बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥५।७॥ भीष्मजी ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! शत्रुओं का बल जानने के लिए उत्सुक होना तुम्हारे योग्य कार्य है। मैं संग्राम में जैसा पौरुष, शस्त्रबल और बाहुबल दिखाऊँगा, सो कहता हूँ, सुनो। युद्धधर्म का सिद्धांत यही है कि निष्कपट पुरुष के साथ निष्कपट युद्ध और मायावी के साथ मायायुद्ध करना चाहिए ॥८।१०॥ इसके अनुसार

सततोत्थितः । क्षपयेयं महत्सैन्यं कालेनाऽनेन भारत ॥१३॥ मुञ्चेयं यदि वाऽस्त्राणि महान्ति समरे स्थितः । शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥१४॥ सञ्जय उवाच— श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः । पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥१५॥ आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् । निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥१६॥ स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः । शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥१७॥ यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम । एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ॥१८॥ द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् । द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ॥१९॥ कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् । तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ॥२०॥ जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह । न हि यावद्रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम् ॥२१॥ वासुदेवसमायुक्तं रथेनाऽऽयान्तमाहवे । समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ॥ शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ॥२२॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः १९३

मैं नित्य पाण्डवसेना के दस हजार योद्धाओं और एक हजार रथियों को नष्ट कर सकूँगा । हे भैया ! मैं कवच पहनकर, रथ पर बैठकर, उत्साह के साथ पूर्वोक्त समय और विभाग के अनुसार, शत-सहस्र-घाती बाणों की वर्षा करके एक मास में पाण्डवों की सब सेना नष्ट कर सकूँगा ॥११।१४॥ सञ्जय कहते हैं कि हे राजेन्द्र ! दुर्योधन ने भीष्म के ये वचन सुनकर द्रोणाचार्य से पूछा—हे आचार्य ! आप कितने समय में पाण्डवों की सेना को नष्ट कर सकेंगे ? द्रोणाचार्य ने हसकर कहा—हे दुर्योधन ! मैं वृद्ध हो गया हूं, इस कारण मेरा तेज, बल और चेष्टा भी कम हो गई है । तो भी न जाने मैं भीष्म की तरह एक मास में अपने तीक्ष्ण बाणों से पाण्डवों की सेना को भस्म कर सकूगा । इतनी ही मेरी शक्ति और बल की चरम सीमा है ॥१५।१८॥ इसके पश्चात् कृपाचार्य ने कहा—हे महाबाहु ! मैं दो मास में पाण्डवों की सब सेना को नष्ट कर सकूगा । अश्वत्थामा ने कहा—मैं दस दिन में पाण्डवों की सेना का संहार कर सकूगा । कर्ण ने कहा—मैं प्रतिज्ञा करता हू कि पाच ही दिन में पाण्डवों की सेना को नष्ट कर दूंगा ॥१९।२०॥ कर्ण के ये वचन सुनकर भीष्म ठठाकर हसे और कहने लगे—हे कर्ण ! वासुदेव के द्वारा रक्षित अर्जुन को अभी तुम ने युद्ध के मैदान में नहीं देखा, इसी से ऐसा समझ रहे हो । जब अर्जुन का सामना होगा तब ऐसी डींग न हाक सकोगे ॥२१।२२॥

उद्योगपर्व का एक सौ तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९३ ॥

अथ चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान्भ्रातॄनुपह्वरे । आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥१॥ युधिष्ठिर उवाच—धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम । ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ॥२॥ दुर्योधनः

किलाऽपृच्छदापगेयं महाव्रतम् । केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ॥३॥ मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः । तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ॥४॥ गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् । द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ॥५॥ तथा दिव्यास्त्रवित्कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि । पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं स सैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ॥६॥ तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः । कालेन कियता शत्रून्क्षपयेरिति फाल्गुन ॥७॥ एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनञ्जयः । वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥८॥ सर्वे एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः । असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ॥९॥ अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् । हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥१०॥ सामरानपि लोकांस्त्रीन्सर्वान्स्थावरजङ्गमान् । भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥११॥ यत्तद्घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम । कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥१२॥ यद्युगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन् । प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ॥१३॥ तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः । न च द्रोणसुतो राजन्कुत एव तु सूतजः ॥१४॥ न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् । आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान्

एक सौ चौरानबे अध्याय ॥ १९४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर को शत्रुओं की इस वार्तालाप का हाल जब प्रतीत हुआ तब उन्होंने अपने भाइयों को एकान्त में बुलाकर कहा—हे भाइयो ! मैंने दुर्योधन की सेना में जिन जासूसों को भेजा था उन्होंने आ कर मुझसे कहा है कि हे महाराज ! दुर्योधन ने पितामह भीष्म से पूछा कि आप कितने दिन में पाण्डव-सेना का संहार कर सकते हैं ? भीष्म ने उत्तर दिया कि मैं एक मास में सारी पाण्डव-सेना को भस्म कर सकता हूं । फिर द्रोणाचार्य ने भी एक मास में हमारी सेना को भस्म करने की प्रतिज्ञा की ॥१।४॥ कृपाचार्य ने दो मास में यह कार्य करने की शक्ति अपने में बताई । अश्वत्थामा ने दस ही दिन में यह कार्य कर देना स्वीकार किया । फिर दिव्य अस्त्रों के जाननेवाले कर्ण ने, दुर्योधन के पूछने पर, पांच ही दिन में सारी शत्रुसेना को भस्म कर सकने की अपनी शक्ति बतलाई । इसलिए हे अर्जुन ! मैं सुनना चाहता हूं कि तुम कितने समय में कौरवों की सेना को नष्ट कर सकते हो ? ॥५।७॥ अर्जुन ने श्रीकृष्ण की ओर देखकर कहा—हे महाराज ! वे सब विचित्र युद्ध करनेवाले, अस्त्रज्ञ, महात्मा अवश्य उतने ही समय में हमारी सेना को नष्ट कर सकते हैं; किन्तु आप चिन्ता न कीजिए । सत्य कहता हूं, वासुदेव की सहायता पाकर एक ही रथ से भूत-भविष्य-वर्तमान चराचर जगत् और तीनों लोकों को मैं पल भर में अपने बाणों से भस्म कर सकता हूँ ॥८।११॥ किरात-रूपी भगवान् शङ्कर ने द्वन्द्वयुद्ध से सन्तुष्ट होकर मुझे जो घोर अस्त्र दिया है, वह मेरे निकट विद्यमान है । भगवान् रुद्र प्रलय के समय सब सृष्टि का संहार करने के लिए उसी अस्त्र

॥१५॥ तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तव पार्थिव। सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकांक्षिणः ॥१६॥ वेदान्तावभृथस्नाताः सर्व एतेऽपराजिताः। निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ॥१७॥ शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः। भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥१८॥ विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि। शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ॥१९॥ पुत्रोऽस्याऽञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः। शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ॥२०॥ अभिमन्युश्च बलवान्द्रौपद्याः पञ्च चाऽऽत्मजाः। स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥२१॥ क्रोधाद्यं पुरुषं पश्येस्तथा शक्रसमद्युते। स क्षिप्रं न भवेद्व्यक्तामिति त्वां वेद्मि कौरव ॥२२॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अंबोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९४॥

का प्रयोग करते हैं। कर्ण तो कोई वस्तु नहीं है; भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी उस अस्त्र को नहीं जानते ॥१२।१४॥ किन्तु उस दिव्य अस्त्र से साधारण मनुष्यजाति का विनाश करना उचित नहीं है। इसलिए मैं सरल-युद्ध से शत्रुओं को परास्त करूँगा। देखिए, ये सब श्रेष्ठ वीर पुरुष आपके सहायक हैं। ये लोग दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता, युद्ध के उत्साह से परिपूर्ण, कभी न हारनेवाले, वेदों और उपवेदों के पारदर्शी वीर युद्ध में देवताओं की सेना को भी भस्म कर सकते हैं ॥१५।१७॥ शिखण्डी, युयुधान, धृष्टद्युम्न, भीमसेन, नकुल, सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा, भीष्म और द्रोण के तुल्य विराट और द्रुपद, महाबाहु शङ्ख, महाबली घटोत्कच, उसका पुत्र अंजनपर्वा, प्रबल पराक्रमी युद्ध-कोविद सात्यकि, अभिमन्यु, द्रौपदी के पांचों पुत्र आदि वीर आपके पक्ष में हैं। इनके सिवा आप स्वयं दृष्टिमात्र से त्रिलोक को भस्म कर सकते हैं। आप क्रोध की दृष्टि से जिस पुरुष की ओर देख लीजिए वह कभी जीता नहीं बच सकता ॥१८।२२॥

—०—

उद्योगपर्व का एक सौ चौरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९४॥

अथ पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९५॥

वैशम्पायन उवाच—ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः। दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान्प्रति ॥१॥ आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः। गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ॥२॥ सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः। सर्वे कामकृतश्चैव सर्वे चाऽऽहवलक्षणाः ॥३॥ आहवेषु परांल्लोकाञ्जिगीषन्तो महाबलाः। एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम्

एक सौ पंचानवे अध्याय ॥१९५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! सूर्य की विमल प्रभा आकाश में फैल जाने पर सब राजा लोग स्नान आदि करके दुर्योधन की आज्ञा से पवित्रता-पूर्वक माला, श्वेत वस्त्र, आभूषण आदि पहनकर, शस्त्र और ध्वजा आदि से सुसज्जित होकर, स्वस्ति-वाचन और हवन के पश्चात् ब्राह्मणों से आशीर्वाद ग्रहण कर युद्ध के लिए तैयार हो गये। वे सब वेदपाठी, शूर, सच्चरित्र, सुशील, योद्धाओं के गुणों

॥४॥ विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया वाह्लिकैः सह । प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ॥५॥ अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः । दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥६॥ गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः । शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥७॥ स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् । एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥८॥ कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः । दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥९॥ शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः । एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ॥१०॥ ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः । कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥११॥ दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत । यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ॥१२॥ न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा । कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ॥१३॥ तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः । कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥१४॥ पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् । सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसङ्घशः ॥१५॥ तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् । विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥१६॥ तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् । व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥१७॥ स नागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः । ये चाऽन्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधवन्दिनः ॥१८॥ वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः । सर्वांस्तान्कौरवो राजा विधिवत्प्रत्यवैक्षत ॥१९॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९५

और लक्षणों से अलंकृत वीर पुरुष परस्पर श्रद्धा का भाव दिखाते हुए शत्रुसेना को जीतने के उत्साह से पाण्डवसेना के सामने चले। सब योद्धा एकाग्र और गम्भीर भाव से सुशोभित हो रहे थे ॥१।४॥ अवन्ती देश के राजा विन्द और अनुविन्द, केकय और वाह्लीक देश के राजा द्रोणाचार्य के पीछे चले। अश्वत्थामा, भीष्म, जयद्रथ, दक्षिण-पश्चिम-उत्तर पूर्व के अनेक राजा, पहाड़ी जातियों के वीर, शक, किरात, यवन, शिबिगण, वसातिगण और अपनी सेना सहित गान्धारराज शकुनि, ये लोग सेना के दूसरे भाग में रहकर द्रोणाचार्यवाले दल के पीछे चले ॥५।८॥ अपनी सेना के साथ कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्तराज, शल, भूरिश्रवा, शल्य, कोशलेश बृहद्रथ और दुर्योधन के सौ भाई तीसरे दल में दुर्योधन के साथ चले। इस प्रकार महारथी धृतराष्ट्र के पुत्र अपनी सम्मिलित सेना लेकर कुरुक्षेत्र के पश्चिम अर्धभाग में स्थित हुए ॥९।११॥ हे राजा जनमेजय! दुर्योधन ने सेना के लिए जो सुसज्जित शिविर बनवाये थे वे देखने में दूसरे हस्तिनापुर की बस्ती के से जान पड़ते थे। चतुर नगरनिवासी भी उस महाशिविर में और हस्तिनापुर की बस्ती में कुछ अन्तर नहीं जान सके। इनके सिवा राजाओं के रहने के लिए जो सैकड़ों-हजारों दुर्ग बनाये गये थे वे भी अपनी दुर्गों के समान जान पड़ते थे। यह सेना को ठहराकर छावनी युद्-

भूमि के पांच योजन स्थान को घेरे हुए थी ॥१२। १७॥ राजाओं ने बड़े उत्साह से अपनी-अपनी सेना के साथ उन विविध पदार्थों से पूर्ण सेनानिवेशों में डेरा डाला था। राजा दुर्योधन ने हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि के साथ आये हुए उन राजाओं के खाने-पीने का उचित प्रबन्ध कर रक्खा था। वह स्वयं कारीगर, मज़दूर, नौकर-चाकर, सूत-मागध-वन्दीजन, बनिये-व्यापारी, वेश्याएं, बाज़ार, जासूस, दर्शक आदि की देखभाल और रक्षा का प्रबन्ध करता था ॥१८।१९॥

उद्योगपर्व का एक सौ पंचानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९५॥

अथ षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९६॥

वैशम्पायन उवाच—तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। धृष्टद्युम्नमुखान्वीरांश्चोदयामास भारत ॥१॥ चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम्। सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथाऽऽदिशत् ॥२॥ विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम्। पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥३॥ ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः। आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः ॥४॥ अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव। अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ॥५॥ दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः। तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ॥६॥ व्यादिदेश सबाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम्। स गजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ॥७॥ अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः। धृष्टद्युम्नमुखानेतान्प्राहिणोत्पाण्डुनन्दनः ॥८॥ भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनञ्जयम्। द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥९॥ भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम्। हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवाऽस्पृशत् ॥१०॥ स्वयमेव ततः पश्चाद्विराटद्रुपदान्वितः। अथाऽपरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ॥११॥ भीमधन्वायनी

एक सौ छियानबे अध्याय ॥१९६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! उधर राजा युधिष्ठिर ने भी इसी तरह धृष्टद्युम्न आदि वीरों को युद्ध-भूमि में भेजा। उन्होंने चेदि, काशी और करूष आदि के सञ्चालक पराक्रमी शत्रुनाशन धृष्टकेतु, विराट, द्रुपद, युयुधान, शिखण्डी, युधामन्यु और उत्तमौजा आदि सब पुरुषों को युद्ध-भूमि में जाने के लिए आज्ञा दी ॥१।२॥ वे सब वीर सुवर्ण के कुण्डल और विचित्र कवच पहन करके घी की आहुति से प्रज्वलित अग्नि की तरह, आकाश में उदय हुए ग्रहों की तरह, शोभायमान हुए। धर्मराज युधिष्ठिर ने हाथी, घोड़े, सेना, वाहन, नौकर-चाकर, शिल्पजीवी आदि सहित उन सब राजाओं को आदर-सत्कार और तरह-तरह की खाने-पीने की सामग्री से सन्तुष्ट करके युद्धयात्रा की अनुमति दी ॥४।७॥ धृष्टद्युम्न अपनी सेना के साथ आगे चले। उनसे पीछे दूसरे दल में सहायक रूप से बृहन्त, अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र चले। भीमसेन, सात्यकि और अर्जुन उनके रक्षक नियुक्त हुए। तब योद्धा लोग घोड़ों को आभूषण पहनाकर सजाने लगे। इधर-उधर चल फिर रहे सैनिकों का सिंहनाद आकाश में गूँज उठा ॥८।१०॥ उनके पीछे राजा विराट, राजा द्रुपद और अन्य राजाओं के साथ महाराज युधिष्ठिर स्वयं चले।

सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता। गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ॥१२॥
ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान्। मोहयन्धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनि-
श्चयम् ॥१३॥ द्रौपदेयान्महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः। नकुलं सहदेवं च
सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ॥१४॥ दश चाऽश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम्।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ॥१५॥ भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं
प्रादिशद्बलम्। मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ॥१६॥ महारथौ
च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ। वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ
॥१७॥ अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनञ्जयौ। बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्र-
हरणा नराः ॥१८॥ तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः। पञ्च नाग-
सहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ॥१९॥ पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदा-
धराः। सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ॥२०॥ युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये
स्वयमेव बलार्णवे। तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ॥२१॥ तत्र
नागसहस्राणि हयानामयुतानि च। तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत
॥२२॥ चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ। धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता
पार्थिवो ययौ ॥२३॥ सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः। वृतः शत-
सहस्रेण रथानां प्रणुदन्बली ॥२५॥ क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ॥२५॥ शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं
च सर्वशः। तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च। फल्गु सर्वं कलत्रं
च यत्किञ्चित्कृशदुर्बलम् ॥२६॥ कोशसञ्चयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च।

धनुर्धर पुरुषों से परिपूर्ण और धृष्टद्युम्न के बाहुबल से रक्षित पाण्डवों की सेना गङ्गा के प्रवाह के समान जान पड़ने लगी। तब बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने दुर्योधन की सेना के वीरों को भ्रम में डालने के लिए दूसरे प्रकार से सेना की योजना की। ॥११।१३॥ धनुष धारण करनेवालों में प्रधान द्रौपदी के पांचों पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव और दस हज़ार घोड़े, दो हज़ार हाथी, पांच सौ रथ और दस हज़ार पैदल सेना के साथ प्रभद्रकगण महाबली भीमसेन के सहकारी नियुक्त हुए। विराट, जयत्सेन, युधामन्यु, उत्तमौजा, श्रीकृष्ण और अर्जुन मध्यभाग की सेना में स्थित हुए ॥१४।१८॥ शूर पुरुष जिन पर सवार थे ऐसे बीस हज़ार घोड़े, पांच हज़ार हाथी, पांच हज़ार रथ और धनुष धारण किये हज़ारों वीर्यशाली पैदल योद्धा उनके आगे और पीछे चले ॥१९।२०॥ राजा युधिष्ठिर स्वयं सेना के बीचले भाग में स्थित हुए। कई हज़ार राजा, कई हज़ार हाथी, हज़ारों घोड़े, रथ और लाखों पैदल वीर उनके चारों ओर देख पड़ते थे। बहुत से सेनापतियों सहित चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु तथा सैकड़ों हज़ारों रथों पर बैठे हुए यादवों सहित प्रधान योद्धा सात्यकि उनके साथ चले। रथों पर स्थित पुरुषश्रेष्ठ क्षत्रदेव सेना के वामभाग की और ब्रह्मदेव पिछले हिस्से की रक्षा में नियुक्त हुए ॥२१।२५॥ स्त्री-बनिये, वेश्या, वाहक आदि के लिए हज़ारों हाथी, दस हज़ार घोड़े और उनके नियुक्त हुए। धर्मात्मा युधिष्ठिर अपने साथ दुर्बल और बीमार सैनिक, [illegible]

गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद्युधिष्ठिरः ॥२७॥ तमन्वयात्सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः । श्रेणिमान्वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ॥२८॥ रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः । हयानां दशकोट्यश्च महतां किङ्किणीकिनाम् ॥२९॥ गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः । कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ॥३०॥ षष्टिर्नागसहस्राणि दशाऽन्यानि च भारत । युधिष्ठिरस्य यान्यासन्युधि सेना महात्मनः ॥३१॥ क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः । राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥३२॥ एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः । यदाश्रित्याऽथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥३३॥ ततोऽन्ये शतशः पश्चात्सहस्रायुतशो नराः । नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ॥३४॥ तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च । न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ॥३५॥

अस्याऽनन्तरं भीष्मपर्व भविष्यति तस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

जनमेजय उवाच—कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः ॥ १ ॥

इतिश्रीमन्महा० उद्योगप० अंबोपाख्यानप० पाण्डवसेनानिर्याणे पण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥समाप्तमुद्योगपर्व॥

स्त्री, हाथियों पर लदी हुई रसद और कोष आदि लेकर धीरे-धीरे सबके पीछे चले ॥२६।२७॥ युद्धप्रिय सत्यधृति, सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराज के पुत्र विभु आदि राजा अपने साथ बीस हज़ार रथ, किंकिणीजाल-मण्डित दस करोड़ घोड़े और हल के समान दाँतवाले, मेघतुल्य, मद बहानेवाले बीस हज़ार हाथी लेकर धर्मराज के पीछे चले ॥२८।३१॥ धर्मराज की सात अक्षौहिणी सेना के अन्तर्गत, वर्षाकाल के मेघों के समान मद-धारा बहानेवाले सत्तर हज़ार युद्ध के हाथी, चलनेवाले पर्वतों की तरह, उनके पीछे चले । उनके पश्चात् सैकड़ों-हज़ारों-लाखों मनुष्यों के झुण्ड प्रसन्नचित्त से हज़ारों नगाड़े और शङ्ख बजाते चले । हे राजा जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिर की सेना इतनी बड़ी थी, जिसकी सहायता से उन्होंने दुर्योधन की सेना के साथ युद्ध किया ॥३२।३५॥

उद्योगपर्व का एक सौ छियानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥१९६॥

उद्योगपर्व समाप्त हुआ ।

